मुद्रक तथा प्रकाशक-
घनश्यामदास जालान,
गीताप्रेस, गोरखपुर ।

सं० १९९२
प्रथम संस्करण
३२५०

मूल्य-
।।।-) तेरह आना

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय

श्रीहरिः

परिचय

सम्मान्य श्रीसान्याल महोदय वयोवृद्ध और ज्ञानवृद्ध ऊँचे साधक हैं। उनके जीवनमें पवित्रता है, शब्दोंमें अनुभव है और रचनामें कलाका मधुर विकास है। इस पुस्तकको पढ़नेसे उनके हृदयका और उनके गहरे सद्विचारोंका पाठकोंको पता लग सकता है और पाठक उनके शब्दोंके अनुसार यथायोग्य साधन करके लाभ उठा सकते हैं। सान्याल महोदयने समय-समयपर बंगलामें जो लेख लिखे हैं, उन्हींका अनुवाद करके इस पुस्तकके रूपमें संग्रह किया गया है। अधिकांशका अनुवाद और सम्पादन मैंने ही किया है, इससे मुझको इन लेखोंके महत्त्वका कुछ पता है। आशा है पाठकगण इस उपादेय ग्रन्थसे लाभ उठावेंगे।

—हनुमानप्रसाद पोद्दार

माका प्यार

Gita Press, Gorakhpur.

श्रीहरिः

हमारा चरम लक्ष्य

जड़वादके प्रबल प्रचारसे यद्यपि हमारी चिन्ताशक्ति आज बहिर्मुखी हो गयी है, यद्यपि आज हम अपने पूर्वजोंके आचार-व्यवहारोंके प्रति पूरी श्रद्धा नहीं रखते, यद्यपि ऋषिमुनिसेवित भारतवर्षमें आज तपश्चर्याकी विमल प्रभा दशों दिशाओंको प्रकाशित नहीं करती, यद्यपि आज उषाकालमें विहग-काकलीके साथ ऋषि-कुमारोंके कोमल कण्ठसे निकला हुआ सामगान तपोवनोंको मुखरित नहीं करता, यद्यपि ऋषियोंके उस अतुलनीय ज्ञानका प्रवाह

आज निदाघ सन्तप्ता नदीकी तरह अत्यन्त क्षीण हो चला है, भारतवर्षकी सौभाग्यरेखा आज अस्ताचलको जाते हुए सूर्यकी भाँति हीनप्रभ और मलिन हो रही है, तथापि आज हम जीवित हैं। इतनेपर भी हमारा नाम जगत्‌के इतिहासमें क्यों स्थान पा रहा है? इस बातको जब-जब सोचते हैं तब-ही-तब विस्मित होना पड़ता है। मृत्युकी विराट् छायाने चारों ओरसे हमें घेर रक्खा है, रोगकी भीषण यन्त्रणासे एक क्षणके लिये भी शान्ति नहीं है, इतनेपर भी इस जातिका नाम अबतक क्यों नहीं मिट गया? यह बात अवश्य ही विचारणीय है।

अन्तिम श्वास छोड़नेके पहले क्षणतक भी जैसे रोगी अपने छूटनेवाले शरीरके सम्बन्धकी रक्षा करता है इसी प्रकार यद्यपि भारतवर्षकी प्राचीन रीति-नीति, धर्म-कर्म आदिका प्रायः लोप हो चला है तथापि उसके स्थूल और बाह्य आचरणोंका अब भी प्राचीनताके साथ सम्बन्ध बन रहा है।

प्रथम तो वृद्धावस्था और दूसरे रोगोंसे पीड़ित ! ऐसी अवस्थामें मृत्युको कौन रोक सकता है! वृद्ध शरीरमें सभी रोग जोरसे अपना घर कर लेते हैं, इसी प्रकार आज भारतवर्षमें भी समस्त दोषोंने घर कर लिया है, इसीसे आज हममें न उद्यम है और न उत्साह है। शुभ कर्मोंकी तो स्पृहातक नहीं होती। बुरी क्रियाओंमें फँसे हुए, बुरे आचरणोंमें लगे हुए, रोग-शोकभरी बीभत्स मूर्तिमें आज हम प्रत्येक एक-एक जीवित प्रेतकी तरह केवल मृत्युकी बाट देखते हुए जी रहे हैं। मानो जीवनका और कोई

उद्देश्य या लक्ष्य ही नहीं है, मरनेके सभी सामान तैयार हैं। आश्चर्य तो यही है कि इतनेपर भी हम मरते नहीं।

हमारी ऐसी दशा क्यों हो गयी ? हमने अपने तप-तेज और वीर्यको कैसे खो दिया ? हम इस पापके गहरे कीचड़में क्योंकर फँस गये ? इन प्रश्नोंका समाधान करना बिल्कुल सहज बात नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि हम केवल अपने ही कियेका फल इस समय भोग रहे हैं। आज हमें भारतकी वह प्राचीन पवित्र और आदर्श जीवन-निर्वाहकी व्यवस्था अच्छी नहीं लगती, क्योंकि हम लक्ष्य-भ्रष्ट हो चुके हैं। इस समय पाश्चात्य शिक्षा, ज्ञान और विज्ञानने तथा उनकी बाह्य सम्पत्ति, भोगविलास और नित नयी फैशनने हमारे चित्तको चञ्चल कर डाला है, अपने घरकी चीजसे हमारा मन हट गया है, परन्तु पाश्चात्य शिक्षाके भी असली आदर्शको हम ग्रहण नहीं कर सकते। इस अवस्थामें हमारे उभय-भ्रष्ट होनेकी सम्भावना ही अधिक है। यदि इस समय हम इसके प्रतिकारका कोई उपाय नहीं करेंगे तो फिर हमारे भाग्यमें मृत्यु ही अनिवार्य है।

प्रत्येक देशके प्रत्येक समाजमें एक-एक विशेष भावका कुछ विशेषत्व रहता है, उसी भावको प्रस्फुटित कर देना उस देशके लिये प्राण-सञ्चारका एक श्रेष्ठ उपाय समझा जाता है। हिन्दू जातिका विशेषत्व है उसकी—'धर्मप्राणता'। हिन्दू जातिके व्यक्तिगत व्यवहार, उसकी सामाजिक रीतियाँ और उसकी राजनीति या शासन-प्रणाली र

धर्म ही भारतके चरित्र और अनुष्ठानमें भरा हुआ है। भारतके लिये धर्म एक काल्पनिक युक्ति नहीं है परन्तु वह सुस्पष्ट, मूर्तिमान् और जीवित पदार्थ है। इस धर्मकी उपेक्षा करके हम जो कुछ भी करेंगे उससे कल्याण कभी नहीं होगा। विरोधी सभ्यताके सहसा संघर्षणसे भारतकी तमोमयी निद्राका भाव कुछ घटा है परन्तु उसीके साथ-साथ वह अपने सनातन आदर्शसे भ्रष्ट हो गया है। इसीलिये आज हिन्दू जाति अपने पुरातन आदर्शसे च्युत होकर विजातीय सभ्यताकी ऐश्वर्यमयी राजमूर्तिकी ओर लोलुप दृष्टिसे ताक रही है। परन्तु उसकी यह आशा केवल दुराशामात्र है। पर्वतके शिखरसे उतरकर नदी जैसे धीमे-धीमे अपना रास्ता बनाती हुई अपने अनुकूल स्थानका निर्णयकर धीरे-धीरे सागरमें आकर मिल जाती है, इसी प्रकार अपने उद्देश्यके अनुकूल भाव, अभ्यास और रीति-नीतिको ग्रहणकर तथा अपने प्रतिकूल आचार, रीति और आदर्शको त्यागकर जातीय जीवनका विशेषत्व भी धीरे-धीरे अपना मार्ग निश्चय कर लेता है पर नदीको दूसरी ओर चलानेकी चेष्टा करनेमें जैसे फैले हुए बालूके टीलोंमें उसके लुप्त हो जानेकी सम्भावना रहती है इसी प्रकार जातीय जीवनको भी उसके निश्चित प्राचीन साधन-पथसे हटाकर दूसरी ओर ले जानेमें उसके नाशकी आशङ्का है। हमारे सनातन मार्गसे चलनेपर यूरोपका ऐश्वर्य, यूरोपका विलास और यूरोपके भोग चाहे हमें न मिलें परन्तु भारतकी शान्ति, भारतका प्रेम और आनन्द तो प्राप्त होगा ही!

हमारे पूर्वजोंने इसी सनातन मार्गका अवलम्बन करके अपने जीवनको धन्य और कृतार्थ किया था । उन्होंने धर्मके उज्ज्वल प्रकाशको अपने हृदयोंमें सुस्पष्ट देखकर यह घोषणा की थी कि केवल 'परब्रह्म ही आर्योंकी सर्वापेक्षा प्रियतम वस्तु है, वह पुत्रसे भी उत्तम है और धनसे भी उत्तम है और उसी, सबकी अपेक्षा अन्तरतम, तथा सर्वापेक्षा प्रियतम परमात्माको प्राप्त करके जीवन-को कृतार्थ करना चाहिये ।'* भारतीयोंके लिये वही सबकी अपेक्षा अधिक लुभानेवाली वस्तु है, वे लोग विलासकी सामग्रियोंके लिये, धनके खजानेके लिये, विद्या, अर्थ या प्रसिद्धिके लिये कभी कामना न करते थे, उनकी कामनाकी वस्तु थी केवल एक यह—

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु च यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च ।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः । तदेतत्सत्यं तदमृतं···॥
(मुण्डक० २ । २ । २)

जो तेजोमय हैं, जो अणुसे भी अणु हैं और जिनमें सारे लोक तथा लोकनिवासीगण निहित हैं, वे ही अक्षर ब्रह्म हैं, वे ही प्राण है, वे ही वाक्य और मन हैं, वे ही सत्य हैं तथा वे ही अमृत हैं । वे जानते थे कि 'न ह्यध्रुवैः प्राप्यते हि ध्रुवं तत्' अध्रुवसे ध्रुवकी प्राप्ति नहीं होती ।

भारतका वह दिन चला गया जिस दिन वह बड़े जोरके साथ कह सकता था कि 'यदि अमृतकी प्राप्ति नहीं हुई तो और

---

* बृह० १ । ४ । ८ में देखना चाहिये ।

उपकरणोंकी क्या आवश्यकता है'—'येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम् ।' आजकल हम घरमें, बाहरमें और मनमें केवल शत्रुकी गुलामी कर रहे हैं । प्राचीन आचार्यगण ब्रह्मको हस्तामलककी नाईं प्राप्त करते थे और इसीसे वे घोषणा करते थे कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्' हमने उसे पा लिया है, 'हमने उसे जान लिया है ।' आज दुर्भाग्यवश हमें इस बातपर विश्वास भी नहीं होता ।

यही तो हमारी स्थिति है, अब बात यह है कि इस मुमूर्षुको मरने देना चाहिये या इसे बचानेकी कुछ चेष्टा करनी चाहिये ? यदि मृत्यु ही वाञ्छनीय हो तब तो आजकल हम जिस पथसे चल रहे हैं, वह बिल्कुल ठीक है, स्वाभाविक ही वह पथ मृत्युकी ओर बढ़ रहा है । परन्तु सुना है कि रोगीको बिना बाधाके अनायास ही मृत्युकी ओर जाने देना किसी-किसीके मतसे ठीक नहीं है—किसीको भी विनाशके मार्गपर ढकेलना उचित नहीं है, उसे बचानेके लिये यथासाध्य सहायता अवश्य ही करनी चाहिये । विशेषतः उसके लिये कि जिसके बचनेकी बड़ी आवश्यकता है, ऐसेको बचानेकी चेष्टा करना सर्वथा युक्तिसंगत और पुण्यकर है । जो केवल मरनेके लिये जीते हैं, वे मर जायँ, इससे कोई हानि नहीं है परन्तु जो एक दिन अमृतकी प्राप्तिके लिये मृत्युको आलिंगन करना चाहते थे, जो दूसरोंके हितके लिये सर्वस्वत्याग करनेमें भी नहीं हिचकते थे, जो एक दिन अमृतकी खोजमें धन-जन-पुत्र-परिवारको अकातर भावसे परित्यागकर, बाण लगे हुए मृगकी तरह व्याकुल हुए हिमालयके शिखर-शिखरपर और गुफा-

गुफामें अपने हृदयकी गहरी मर्मवेदनाको बड़े आर्तस्वरसे उस विश्वदेवताके चरणोंमें उपस्थित कर चुके हैं, उन्हीं भरद्वाज, गौतम, कश्यप, शाण्डिल्य और वात्स्यादिकी सन्तानको अनायास मृत्युकी तरफ बढ़ने देना कदापि उचित नहीं है। कम-से-कम उन्हें उन्नत और पवित्र करनेकी चेष्टा तो एक बार अवश्य ही कर देखनी चाहिये।

इस आनन्दशून्य—उत्साह और उद्यमशून्य समयमें हमारा क्या कर्तव्य है? यदि बचानेकी चेष्टा ही करनी है तो फिर जिससे इस मुमूर्षुकी शक्ति क्षय न हो वरं कुछ बढ़े, इसी बातपर अधिक खयाल रखना चाहिये। अन्न जैसे स्थूल शरीरकी पुष्टि करता है इसी प्रकार धर्म अध्यात्मजीवनका पोषण करता है। धर्म ही जगत्की प्रतिष्ठा या आश्रय है और 'धर्मेण पापमपनुदति'—धर्म ही पापका नाश करता है। अतएव यदि भारतको बचाना है तो उसे धर्मरूप पथ्यका सेवन कराकर उसके बलको बचाना होगा और उसके पापरूपी बुढ़ापेका नाश करना पड़ेगा!

भारतके लिये धर्म ही औषध है और धर्म ही पथ्य है। भारतके प्राचीन ऋषि, जैसे छोटा बालक माताको जोरसे पकड़े रखता है, इसी प्रकार धर्मको सबकी अपेक्षा प्रिय समझकर पकड़े हुए थे। उन्हींके धर्मबलसे आज इन प्रतिकूल घटनाओंके चक्रमें पड़ा हुआ भी भारत, अपने विशेपत्वको किसी अंशमें बचाये हुए है। नहीं तो अतीत इतिहासको देखनेपर पता लगता है कि न मालूम कितनी जातियाँ, कितने प्रभावशाली साम्राज्य और कितने विश्वविजयी सम्राट् जो एक समय बड़े उन्नत थे, अतीतके परदेमें

छिप गये । परन्तु यह सबसे प्राचीन जाति जो किसी अतीत युगमें, एक दिन मेघहीन, शुभ्र किरणोज्ज्वल आकाशके तले जागृत होकर सहर्ष उस जगत्-रचयिताके पूजनीय प्रकाशको प्रणामकर प्रेम-पुष्पाञ्जलि अर्पण कर चुकी थी, इस बातको आज कितने युग बीत गये, कितने बुरे-बुरे योग और बुरी-बुरी घटनाएँ हो गयी परन्तु इसका ऐसा एक भी युग नहीं बीता जो किसी-न-किसी स्थानीय घटनाकी विजय-वैजयन्तीको अपने वक्षःस्थलपर बिना धारण किये ही अतीतके गर्भमें लीन हो गया हो । ऐसी धर्मप्राण जाति अपने प्राचीन गौरवको भूलकर अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे केवल मृत्युकी बाट देखती रहे, यह जानकर किसका हृदय विदीर्ण नहीं होगा ? इसीसे कहा जाता है, इसे बचाये रक्खो । इसके बचे रहनेमें समस्त जगत्का मङ्गल है । अतएव हमें सावधान होना चाहिये, कहीं हम अपनी ही इच्छासे मृत्युको न बुला लें—अपने ही हाथों खाई खोदकर उसमें न गिर पड़ें ! बड़ी सावधानीसे हमें अपने पूर्वजोंद्वारा सेवित प्राचीन पथपर चलकर घर लौटना पड़ेगा । मार्ग बड़ा ऊँचा-नीचा है, बड़ा दुर्गम और विकट है । सावधान ! हठसे कहीं आत्म-विनाश न हो जाय ।

प्राचीन कालकी काम्य-वस्तुओंमें पुत्र एक विशेष अभीष्ट वस्तु थी । विद्वान् और धार्मिक पुत्रके लिये तप किया जाता था और पितृगणोंसे प्रार्थना की जाती थी कि—

> ···दातारो नोऽभिवर्द्धन्तां वेदाः सन्ततिरेव च ।
> श्रद्धा च नो मा व्यगमद्बहु देयञ्च नोऽस्तु··· ॥

हे पितृगण ! हमारे वंशमें दाताओंकी संख्या बढ़े, वेदोंकी आलोचना सम्यक् प्रकारसे हो। वंशपरम्परा बनी रहे, वेदपर अटल श्रद्धा सदैव बनी रहे और दान करनेके लिये द्रव्यका अभाव कभी न हो।

लोग पुत्र तो अब भी चाहते हैं परन्तु अबमें और तबमें बड़ा अन्तर है, उस समयकी काम्य प्रार्थनामें भी जगत्के मङ्गलकी भावनाको लोग भूलते नहीं थे, केवल अपना भला सोचकर ही वे निश्चिन्त नहीं हो जाते थे। समस्त विराट्के साथ हमारा कितना गहरा संयोग है, इस तत्त्वको शायद ही पृथ्वीपर कोई दूसरे लोग उपलब्ध कर सके हों, परन्तु हमारे पूर्वजोंकी सर्वोच्च प्रार्थना होती थी—

'माहं ब्रह्म निराकुर्यां मा मा ब्रह्म निराकरोद् ।'

मैं ब्रह्मको अस्वीकार नहीं करूँगा और ब्रह्म भी मुझे अस्वीकार न करे। और आजकल केवल अपनी बात ही इतनी बड़ी हो गयी है कि जगत्का मङ्गल तो दूर रहा अपने पड़ोसियोंके सुख-दुःखकी बातोंके लिये भी हमारे अन्तःकरणमें स्थान नहीं है। यह लक्षण अत्यन्त मोहग्रस्त अनार्योंके हैं। परन्तु आज हमारे चित्तकी अवस्था ऐसी ही है इस बातको अस्वीकार कैसे किया जाय ?

पहलेके लोग कहते थे—

'कोऽर्थः पुत्रेण जातेन यो न विद्वान् न धार्मिकः ।'

उस पुत्रसे क्या लाभ है कि जो न विद्वान् है और न धार्मिक ! परन्तु आजकल सन्तान यथार्थ धार्मिक और संयमी है

या नहीं इस बातका खयाल कौन रखता है? धन कमाना चाहिये, फिर कोई भी दोष नहीं। अर्थकी ऐसी उत्कट इच्छा भारतीय सभ्यतासे तो कदापि अनुमोदित नहीं है!

आजकल हम जब प्रपञ्च (संसार) का कार्य करते हैं तब केवल प्रपञ्चको ही पकड़ रखते हैं, संसारसे परे कुछ और भी होगा, इस बातकी हमें धारणा ही नहीं होती। परन्तु प्राचीन कालमें संसार या प्रपञ्चके सभी कार्य परमात्माको केन्द्र बनाकर किये जाते थे। इसीसे उन्हें संसार कभी भाररूप नहीं होता था, इसीसे वे कहते थे—

'यत्करोमि जगन्मातस्तदेव तव पूजनम्।'

वे अपने सारे जीवनकी समस्त क्रियाओंमें धर्मको प्रत्यक्ष रूपसे देख पाते थे और इसीलिये शोकमें, दुःखमें, लाभमें, हानिमें, जीवनमें और मरणमें कभी उनके चित्तमें शान्तिका अभाव नहीं होता था। आजकल हमलोग धर्मका पालन प्राणोंसे नहीं करते, कुछ लोग-दिखाऊ बाह्याडम्बरोंने ही हमारे धर्मका स्थान अधिकृत कर लिया है। इसीसे आज न हमारे चित्तमें शान्ति है और न हमारे प्राणोंमें आराम है। कुछ शुष्क अर्थहीन नियमोंके पालनको ही धर्म नहीं कहते हैं, जो अनेकके साथ एकका और एकके साथ अनेकका ऐक्य स्थापन करा सकता हो, जो सान्तके साथ अनन्तका और मृत्युके साथ अमृतका मिलन करा देता हो उसीका नाम धर्म है। इस ऐक्यके भावको—इस मिलनके माधुर्यको ही हमें अपने गन्तव्य पथका दिग्दर्शक बना लेना होगा। जहाँ

इस भावका अभाव प्रतीत हो वहाँ समझना होगा कि यहाँ धर्मके नामपर अधर्मको आश्रय मिल गया है। हमारे आजकलके आचार-व्यवहारमें इसी अधर्मका प्रबल आक्रमण देखनेमें आता है।

ऋषिगण संसारके असंख्य जीवोंको असंख्यरूपसे नहीं देखते थे। वे इस समस्त संसारको एक विराट् शरीरके रूपमें अनुभव करते थे। इस बड़े भारी देहमें कोई मस्तक है, कोई हाथ है, कोई मुख है, कोई पैर है, इस प्रकार सब नाना प्रकारसे नाना स्थानोंमें अपने-अपने अधिकारानुसार एक ही देहके अवयवरूपमें संगठित हैं। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यादि उसीके बाहरी रूप हैं। उन्होंने किसी स्वार्थसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादिको कर्म-क्षेत्रके भिन्न-भिन्न स्थानोंपर बैठा दिया है ऐसी कोई भी बात नहीं है। केवल जीवन-यात्रा-प्रणालीको सुगम करनेके लिये, बहिर्मुखी वृत्तिको आत्माभिमुखी बनानेके लिये और आध्यात्मिक जीवनमें सबको अपने-अपने अधिकारानुसार सुयोग तथा सुविधा कर देनेके लिये ही उनकी यह व्यवस्था थी, इससे उनकी असाधारण सूक्ष्मदर्शिताका ही पता लगता है। यदि स्वार्थ रहता तो यह निश्चित है कि जनसाधारण इस व्यवस्थाको आग्रहके साथ कभी स्वीकार न करता।

जैसे मस्तकका कार्य पैर नहीं कर सकता और पैरका कार्य मस्तकसे नहीं हो सकता परन्तु अपने-अपने कर्मक्षेत्रमें सभी स्वाधीन हैं, सभी स्वतन्त्र हैं, साथ ही सभी एक दूसरेके साथ सूक्ष्म सूत्रसे जुड़े और मिले हुए भी हैं। मस्तिष्कमें विचार-शक्ति है

इसलिये पैरकी उपेक्षा नहीं की जा सकती, इसी प्रकार पैरको भी मस्तकका कार्य करनेके लिये कोई उद्वेग नहीं होता। अपने-अपने कर्मक्षेत्रपर सभी इन्द्रियोंकी स्वाधीनता और विशेषता है, परन्तु किसी अंगमें कुछ भी क्षति होनेपर सभीको अपने-अपने स्थानकी क्षतिका अनुभव होता है और उस क्षतिग्रस्त दुर्बल स्थानको फिरसे पूर्ण बलवान् बनानेके लिये सभी अपनी-अपनी शक्ति और सामर्थ्यका उपयोग करते हैं।

हमारे समाजका भी आदर्श यही होना चाहिये और पूर्वकालमें इसी आदर्शपर समाज संगठित था। शरीरके किसी भी स्थानपर चोट लगनेसे सारे शरीर और सभी इन्द्रियोंसे उसकी घोषणा क्यों होती है? इसीलिये कि वे एक ओरसे तो स्वतन्त्र हैं, परन्तु दूसरी ओरसे एक दूसरेके बिना उनमें स्वयं कोई पूर्ण नहीं है। यदि ऐसी ही बात है तो फिर हमें समाजके किसी भी अंगके कैसे भी सुख-दुःखसे उदासीन क्यों रहना चाहिये? क्योंकि किसी भी एकको छोड़कर हम अकेले पूर्ण नहीं हैं। जमीनके साथ पहले मंजिलका और पहलेके साथ दूसरेका खूब घनिष्ठ सम्बन्ध है इसीसे तो जमीनके साथ दूसरे मंजिलका सम्बन्ध प्रमाणित होता है। इसी प्रकार इस जनसमुदायमें सबके साथ सबका एक बड़ा गहरा सम्बन्ध है इस बातको छातीके जोरसे स्वीकार न करनेमें केवल मूर्खता ही प्रकट होती है। दूसरा और तीसरा तल्ला होनेपर भी जैसे उनका जमीनके साथ नित्य सम्बन्ध बना हुआ है इसी प्रकार व्यवहारमें हम कोई पण्डित हैं तो कोई मूर्ख हैं, कोई धनी हैं तो कोई दरिद्र हैं, कोई ब्राह्मण हैं तो कोई शूद्र हैं परन्तु हमारा परस्परका स्वार्थ

इतना अटूट और अखण्ड है कि हम उसकी कभी उपेक्षा कर ही नहीं सकते। यह केवल स्वार्थका बन्धन नहीं है। विचार करनेपर पता लगता है कि यह बन्धन प्रेमका है। इस प्रकारसे जगत्‌में इस सत्य सम्बन्धको स्वीकार करना ही परम धर्म है और हम लोगोंमेंसे जो जितने उन्नत हैं वे इस सत्यसम्बन्धको उतने ही विकसितरूपसे देख पाते हैं। जिसके हृदयकी वृत्ति जितनी अधिक विस्तृत है उतने ही परिमाणमें वह अधिक ज्ञानसम्पन्न और भक्त है और उतने ही परिमाणमें वह लोकसमाजका शिक्षक या गुरु है।

सहृदय विचारशील पुरुषोंको यह स्वीकार करना होगा कि केवल एकके कल्याणमें ही कल्याण नहीं है। अतएव जबतक हम सबके कल्याणमें अपना कल्याण नहीं समझेंगे, तबतक इस संसारके मोहावेशसे छुटकारा पानेकी कोई आशा नहीं है। यदि हमें मुक्तिके मार्गमें अग्रसर होना है तो इस स्वार्थपरताके बड़े भारको अपने कंधोंसे उतारकर फेंक देना चाहिये। समस्त अनैक्यमें ऐक्यको उपलब्ध करना और सारी विभिन्नताओंमें एक अभिन्न सद्वस्तुकी हृदयमें धारणा करना ही भारतीय साधनाका अन्तिम लक्ष्य है। इस लक्ष्यको ठीक समझकर वहाँतक पहुँचनेके लिये जिस पाथेयका प्रयोजन है उसको संग्रह करनेमें विलम्ब नहीं करना चाहिये। विलम्बमें बड़ी विपत्तिकी सम्भावना है। अतएव हृदयके प्रबल आवेगसे, बड़े पुरुषार्थके सहारेसे, इस साधनके सुदुर्गम पथको पार करना पड़ेगा। समय-समयपर वासनाओंके बन्धनसे और प्रवृत्तिके जोरसे मार्गमें अन्धकार-सा दिखायी देगा परन्तु शास्त्र

और गुरुवचनोंपर विश्वास रखकर मनको भगवान्‌के चरणकमलोंमें लगाकर और विषयोंके आकर्षणकी उपेक्षाकर धीरे-धीरे—जैसे लोग पर्वतोंको लाँघ जाते हैं—वैसे ही बड़े धैर्यके साथ चलते रहनेपर एक दिन लक्ष्यस्थानपर अवश्य ही पहुँचा जा सकेगा।

पता नहीं, आजकल जीवन-संग्रामके भीषण युद्धक्षेत्रमें इस पथको कोई चलने लायक समझेंगे या नहीं? तथापि यह बात तो जोरके साथ कही जा सकती है कि यह पथ कठिन भले ही हो परन्तु मनुष्य-जीवनके चरम वाञ्छनीय स्थानपर केवल इसी पथसे पहुँचा जा सकता है और कोई उपाय ही नहीं है। जिसको अपने लक्ष्य स्थलपर पहुँचनेकी टान है, वह मार्गके किसी भी कष्टको बड़ा नहीं समझता। आर्यसभ्यतामें यही एक विशेषता थी कि उसमें लक्ष्यकी प्राप्ति ही परम लाभ माना जाता था अतएव मार्गके कष्टोंको बारंबार स्मरण कर व्यर्थ मनपर भार नहीं डालना चाहिये।

जिस दिनसे हमने संसारको बड़ा देखना सीखा उसी दिनसे हमारी अन्तर्दृष्टि जाती रही। जिस दिनसे संसारके विविध भोग और उनके साधन अर्थके लिये हमने जोरसे चिल्लाना आरम्भ किया—संसारकी बाहरी चमक-दमकसे हमारी दृष्टि मोहित हुई, उसी दिनसे हम अपने अन्दर उस अन्तरात्माकी आवाज सुननेसे वञ्चित हो गये, उसी दिनसे हमारे कान बहरे हो गये। स्वार्थकी घनघोर गड़गड़ाहटमें उस प्रियतम परमात्माकी वंशीका मधुर स्वर कानोंमें प्रवेश नहीं कर सकता। हमें उस सत्य सुन्दरके सुविमल किरणोंसे उद्भासित चरणकमलोंकी निर्मल और शुभ्र ज्योतिका

कहीं पता नहीं लगता, हमने तो संसारको ही चारों ओरसे बड़ा समझकर सजा रक्खा है। इसीसे प्राणोंके प्राण, आत्माके आत्मा, विश्वके अधीश्वर उस शिव-सुन्दरके शिवभावकी उपलब्धि हमें नहीं होती। वे हमसे बहुत दूर चले गये हैं। संसारकी जरा-जरा-सी वस्तुओंसे भी वे छोटे हो गये हैं। इसीसे वे हमें नहीं दीखते, पर क्या यह सत्य है कि वे हमसे दूर हो गये हैं? नहीं!' वे तो दूर नहीं गये, हमीने मिथ्या मायाके मोहमें फँसकर उन्हें अलग कर रक्खा है, इसीलिये अब हम अपने उस 'यथार्थ अपनेको' पहचान नहीं सकते!

संसारसागरमें जो तरंगोंपर तरंगें उठती हैं और पड़ती हैं, हमारे नेत्र और हमारा मन तो उन्हींमें लग रहा है। हमारे वे चिरस्थिर, चिरसुहृद् और चिरप्रेमिक हमारे अत्यन्त समीप हैं तथापि हम उन्हें नहीं देख पाते।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यद्यपि संसारने हमारे लिये लुभावनी डाली सजाकर रख छोड़ी है और उसमें हमारी आसक्ति भी कम नहीं है परन्तु देखते हैं कि कभी-कभी यह मन-पक्षी यहाँसे छूटकर भागना चाहता है, संसारकी क्षुद्र सीमाको लाँघकर किसी अनन्त शून्यकी तरफ दौड़ता है, इससे मालूम होता है कि संसार हमें फँसाकर भी पूरी तरहसे नहीं फँसा सका है। इसीसे पता लगता है कि इस संसारकी अपेक्षा और भी कोई प्रियतम वस्तु है जिसके लिये यह मन समय-समय छूटकर दौड़ना चाहता है। परन्तु संसारकी मोहिनी शक्ति उसे फिर भुलावेमें डाल देती है।

क्यों ऐसी भूल होती है? मायाको छोड़ना चाहनेपर भी कौन हमें बन्धनमें बाँधता है? यह कैसा भ्रम है? क्या माया है? कितने पथिक, कितने यात्री, हमारे देखते-देखते इस मायाके प्रवाहमें बह गये, तो भी हमें चेत नहीं होता, किसने हमें मायामें जकड़ रक्खा है?

बहुत-से लोगोंने देखा होगा कि नदीमें कई जगह भँवर हुआ करते हैं, भँवरमें पड़ जानेपर किसी भी यात्री या नौकाका बचना कठिन हो जाता है, भँवर जोरसे उसे नीचे ले ही जाता है। इसी प्रकार इस संसारसागरके भँवरमें पड़नेसे ही हमारी यह दुर्दशा हो रही है।

यह भँवर ही विलक्षण अहंज्ञान या आत्माभिमान है। जो भँवरकी टानमें पड़ता है वह तुरन्त इस चक्रके मुखमें पड़कर डूब जाता है। हम भी इस अहंज्ञान (मैं, मैं) की प्रबल टानमें डुबकी खाते हुए डूबनेकी तैयारीमें हैं। अपनी तरफ मनुष्यकी कितनी टान है? समस्त संसार उन्मत्तकी भाँति अपने-अपने केन्द्रके चारों ओर बड़े वेगसे घूम रहा है।

कविने कहा है—

घेर घेर कर केवल जिसको पल पलमें डूबे मरते।

हम केवल अपने ही सुख-दुःख, अपने ही अभाव-अभियोग और अपनी ही बातोंमें मग्न हो रहे हैं, केवल 'मै-मै' और 'मेरे-मेरे' की ही चिल्लाहट मची हुई है। यही ममतारूपी भँवरकी भारी टान है, इस टानमें पड़कर जो अचेत हो जाता है, फिर

उसकी आशा नहीं रहती ! परन्तु जो पुण्य-बलसे भँवरके बाहर किसी खूँटेको या और किसी सहारेको मजबूतीसे पकड़ लेता है वह भँवरमें पड़कर नहीं डूबता, वह तुरन्त निकल जाता है। इस भवसागरमें सभी जगह भँवर नहीं हैं, जहाँ संकीर्णता है वहीं भँवर है; परन्तु बाहर तो खुला हुआ अनन्त जल है जो धीर, स्थिर और प्रशान्त है। यह मन 'मैं मैं' करके ही भँवरकी रचना करता है। जिसका मन 'मैं' को छोड़कर एक अनन्त विश्वकी तरफ चल पड़ता है वही सौभाग्यवान् पुरुष मुक्तिको प्राप्त होता है। चक्की घूमती रहती है और उसमें पड़े हुए सब दाने पीसे जाते हैं परन्तु जो दाना कील से चिपककर रह जाता है वह बच जाता है, इसी प्रकार इस संसारसागरके भँवरमें पड़कर जो उस सत्य-स्वरूप परमात्माका दृढ़ताके साथ आश्रय लेता है उसके नाश होने-की कोई आशङ्का नहीं रहती। भगवान्‌ने कहा है कि मायासे तरना बड़ा कठिन है परन्तु—'मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते'—जो मेरा ही आश्रय लेते हैं वे मायासे तर जाते हैं। इससे अधिक भरोसेकी बात और क्या हो सकती है ?

बहुत-से लोग मुक्तिकी इच्छा करके यह समझ बैठते हैं कि मानो जगत्‌में उनका कोई कर्तव्य ही नहीं है और इस कर्तव्य-हीनतासे ही उन्हें मुक्ति मिल जायगी। उन्हें याद रखना चाहिये कि जो पथ हमारे मनको सबसे अलग कर रखता है, तथा हमारे परस्परके विछोह और भेदको और भी बढ़ा देता है वह अहंकार-का भँवर ही है, उसमें पड़ जानेसे मुक्तिकी संभावना नहीं रहती।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि सारे अनैक्यमें एकको उपलब्ध करना ही मुक्तिका नामान्तर है ।

हमें संकीर्णसे असंकीर्ण, क्षुद्रसे महान् और आवर्त (भँवर) से आवर्तहीन स्थानपर जाना होगा । महान्‌को समझना ही—महान्‌को पाना ही यथार्थ ज्ञान और यथार्थ लाभ है । कारण 'भूमा' ही हमारा परम धाम है और 'भूमा' ही हमारा परम आनन्द है । संसार-सागरमें ममताका एक छोटा-सा भँवर उत्पन्न हुआ है परन्तु उसकी टान बड़ी जोरकी है । यदि हम इस भँवरसे निकलकर एक बार उस आवर्त (भँवर)-हीन अनन्त-मुक्त जल-राशिमें जाकर पड़ सकें तो बस काम बन गया । वहाँ अभिमानरूपी भँवरकी टान नहीं है । वहाँ जो कुछ है सो सभी आनन्दसे परिपूर्ण है; वहींपर हमारा सदाके लिये छुटकारा है । सीमाबद्ध स्थलमें ही मोहका आकर्षण होता है, असीममें कोई मोह नहीं है । यदि हम इस मोहमय आकर्षणसे छूटना चाहते हैं तो हमें इस क्षुद्रत्वका प्रेम त्याग करना पड़ेगा । क्षुद्रता—हीनताको लेकर वहाँ पहुँचा नहीं जा सकता । वहाँ जानेवालेको तो उस प्रदीप्त ब्रह्मानलमें अपने क्षुद्र स्वार्थ और अभिमानकी पूरी आहुति देनी पड़ती है, इसके बिना वह यज्ञेश्वर प्रसन्न नहीं होता ।

यदि हम इस बातको सत्य समझकर मान लें कि अपने क्षुद्र स्वार्थका त्याग किये बिना भगवान् प्रसन्न नहीं होंगे तब फिर इन क्षुद्र सुख-दुःख, लाभालाभ और मानापमानादि द्वन्द्वोंकी सहजहीमें उपेक्षा कर सकते हैं । इस विश्वमें 'मैं' कितना-सा है

और उसके सुख-दुःखका मूल्य ही क्या है? हमारा अभाव तो प्रायः कल्पना ही है। जैसे किसी बड़े स्वार्थके लिये छोटे स्वार्थको छोड़नेमें कोई कठिनता नहीं होती, वैसे ही जगत्‌के सुख और मङ्गलके लिये हमें अपने व्यक्तिगत स्वार्थका त्याग करनेमें भी कुछ कष्ट न होना चाहिये। हमें आरम्भमें जो कुछ दुःखरूप प्रतीत होता है वह वास्तवमें दुःख ही है, सो बात नहीं है, कई बार तो हम केवल कल्पनासे ही दुःखका अनुभव करते हैं। कई बार केवल अपने अविचारसे ही हम किसी अवस्थाविशेषको दुःख मान बैठते हैं। जोरसे हवा चलती है, छोटे-छोटे घर या गाँव उड़ जाते हैं, कुछ लोगोंको बड़ा कष्ट होता है, परन्तु जगत्‌में वैसे प्रचण्ड पवनकी कितनी आवश्यकता है? जब इस बातपर विचार किया जाता है तब अपने सामान्य सुख-दुःखकी बात सोचनेके लिये कहीं स्थान नहीं रह जाता। बाढ़ आती है, तो धन, जन और मकान बह जाते हैं, कुछ लोग तो निराश्रय हो जाते हैं परन्तु उस बाढ़से जगत्‌का जो अपार मङ्गल होता है उसको देखते हमारी जरा-सी हानिकी चिन्ता करनेमें लज्जा आती है!

जो भगवान्‌के उन जगत्-शरण्य चरणारविन्दोंको अपने हृदयमें धारण करना चाहता है वह क्षुद्रके लिये कभी विचार नहीं करता, अपने (शरीर) के लिये चिन्ता नहीं करता। 'अखिल विश्व उसका घर है और विश्वके समस्त निवासी उसके अपने हैं, वह अपनेको किसीसे पृथक् नहीं समझ सकता। शास्त्रमें इसी

अवस्थाको 'पराभक्ति' कहा है। हमारे हृदयमें इस परमभक्तिका प्रादुर्भाव कब होगा? कब हम मत्त मधुकरकी भाँति उन देवादिदेव-वन्दित चरणसरोरुहोंसे लिपटकर अपनी युगयुगान्तर सञ्चित कलङ्ककालिमाको सर्वथा धो सकेंगे?

जब हृदयमें उसके अभावका अनुभव होता है, जब उस 'अमृत' को पानेके लिये प्राणोंमें व्याकुलता उत्पन्न होती है तब ऐसा कौन है जो अपने प्राणोंकी उस तीव्र पिपासाको बुझाये बिना निश्चिन्त हो सके? व्याकुल भक्तको 'यह करो और यह न करो' कहकर सावधान नहीं करना पड़ता, वह यथार्थ ही विधि-निषेधकी सीमासे बाहर गया हुआ होता है। जबतक मोहका नाश होकर विवेक जागृत नहीं होता, तभीतक साधकके लिये विधि-निषेधका विधान है परन्तु ऐसे साधकको भी चेष्टा तो यही करनी चाहिये कि जिससे उसके हृदयमें (परमात्मप्राप्तिके लिये) व्याकुलता बढ़े। जबतक रोग रहता है तबतक भूख नहीं लगती। किसी भी पदार्थपर रोगीका मन नहीं चलता। परन्तु रोगका नाश हो जानेपर जब जोरकी भूख लगती है तब उसे सिवा खानेके दूसरी बात ही नहीं सुहाती। इसी प्रकार सद्गुरुकी कृपासे जिसका भव-रोग नाश होने लगा है उसको भगवत्प्राप्तिकी भूख बड़े जोरसे लग जाती है इसीलिये वह सब कुछ भूलकर उसीके लिये परम व्याकुल हो उठता है।

जब भक्त, भगवान्‌के लिये व्याकुल होता है तब भगवान् भी उससे छिपकर नहीं रह सकते। तब वे

किसी एक मूर्तिमें ही नहीं, किसी एक स्थानविशेषमें ही नहीं परन्तु विश्वेश्वर बनकर विश्वके स्थावर-जङ्गम और सजीव-निर्जीव प्रत्येक पदार्थमें स्थित होकर भक्तके द्वारा समर्पित की हुई पूजाकी सामग्री ग्रहण करनेके लिये अपने दोनों हाथ फैला देते हैं। उस समय भक्तको अखिल विश्वमें केवल भगवान् दीखते हैं। शिशुको जैसे मातृस्तनोंके लिये आग्रह रहता है वैसे ही माताके प्राण भी अपने बच्चेको स्तन्यपान करानेके लिये व्याकुल रहा करते हैं, इसी प्रकार जैसे भक्त भगवान्के लिये व्याकुल रहता है, भगवान् भी भक्तके लिये वैसे ही व्याकुल रहते हैं। भगवान् एक स्थानसे नहीं परन्तु नाना स्थानोंसे; एकके अंदरसे नहीं परन्तु सबके अंदरसे हमारे प्रेमको अनवरत आकर्षण कर रहे हैं। क्या उनके करुणार्द्र हृदयकी नीरव वीणा हमारे हृदयोंमें कभी नहीं बजती है? यदि ऐसा न होता तो किसी व्यथित व्यक्तिकी व्यथासे हमारे हृदयमें समवेदना क्यों होती? वास्तवमें इस समवेदनाका प्रकाश वे ही करते हैं क्योंकि वे 'सर्वभूतस्थित' ईश्वर हैं और इस विश्वके परम अधीश्वर हैं।

भगवान्के साथ हमारा जो यह नित्य सम्बन्ध बना हुआ है इसको हमें स्पष्टरूपसे समझ लेना चाहिये। लोगोंके कहनेसे नहीं परन्तु यथार्थमें ऐसा अनुभव होना चाहिये कि वास्तवमें भगवान् ही हमारे अन्तरके भी अन्तरतम हैं। यह उपलब्धि केवल कविताकी भाषामें नहीं, परन्तु अन्तःकरणकी निर्मलतामें होनी चाहिये। केवल

ऐश्वर्यके विलासमें नहीं, परन्तु दुःखोंकी कठिनतामें। जीवनकी शान्त स्निग्ध ऊषामें नहीं, परन्तु मृत्युकी भीषणतामें भी उसे पहचानकर कहना चाहिये कि बस, तुम्हीं हो—तुम्हीं हो! तुम्हीं हो हमारे प्राणोंमें, तुम्हीं हो हमारे मनमें! तुम्हीं हो हमारी साधनामें, तुम्हीं हो हमारी सिद्धिमें! तुम्हीं हो हमारे आयोजनमें और तुम्हीं हो हमारी सफलतामें—केवल विश्वाससे नहीं परन्तु तुम प्रत्यक्षगोचर हो!

सन्तानके लिये जननीकी कितनी आवश्यकता है, इस बातको तथा उसके असीम और अकृत्रिम स्नेहको एवं उसकी अतुलनीय निस्स्वार्थ भावनाको लड़कपनमें कोई बालक नहीं समझता, बुद्धिके परिपक्व होनेपर यह बात समझमें आती है परन्तु तो भी वह वाक्य-हीन, चलनशक्तिहीन और ज्ञानहीन बालक किस मन्त्रबलसे माताको सबसे बढ़कर अपनी समझता है? क्यों वह अटल निर्भरताके साथ माताकी गोदमें परम तृप्त होकर रहता है? इसीलिये कि उस शिशुके लिये जननी एक सहज सत्य वस्तु है। बस, भगवान् भी भक्तके लिये इसी प्रकार सहज सत्य हैं। भक्त, नहीं समझकर भी भगवान्‌को ही अपना समझता है। भगवान्‌को छोड़कर उसे अन्य किसी भी पदार्थकी आकांक्षा नहीं होती। भगवान् ही उसका परम आश्रय है और भगवान् ही प्रतिदिनके खानपानादिकी तरह उसके लिये नित्य सत्य और परम प्रयोजनीय पदार्थ हैं।

साधारणतः मनुष्य ऐश्वर्य, सुख, सम्पत्ति और यश चाहता है एवं ये सभी भगवान्‌में पूर्ण मात्रासे रहते हैं। हमलोग जरा-

ज़रा-से धन-ऐश्वर्य और सुख-सम्मानके लिये जीवनभर छटपटाते हैं तब भी वह हमें नहीं मिलता। जीवनभर सुख-सम्पत्तिकी मायामरीचिकाके पीछे दौड़ते रहनेपर भी हमें कभी सत्य और नित्यसुखके दर्शन नहीं होते। जगत्का यत्किञ्चित् सुख-सौन्दर्य उस नित्य और असीम सुख-सौन्दर्यका आभास ही तो है। जब छायाके लिये इतना मतवालापन है तब उस छायाके आधार सत्य पदार्थको पाकर तो न मालूम कितनी मत्तता होती होगी? इसीलिये भक्तगण जगत्के समस्त दुःख, समस्त दीनता, पीड़ा और लाञ्छना-का भार अपने सिरपर उठाकर उस परमधामके यात्री बनते हैं, इसीलिये ही कुल, मान, लज्जाको त्यागकर गोपियाँ मन्त्रमुग्धकी तरह उनसे मिलनेके लिये अभिसारिणी बनी थीं। आजतक न मालूम कितने ऐश्वर्यवान् और विद्वान् एक बार उस मोहनका मोहक 'शब्द' सुनते ही समस्त ऐश्वर्य-मानको खखारकी तरह त्यागकर विरह-व्याकुल प्राणोंसे उसकी खोजमें निकल पड़े हैं। यह निरा पागलपन नहीं है, सचमुच ही उसके अंदर इतना मिठास है और ऐसा सौन्दर्य है। वह मधुरिमासे इतना सना हुआ है कि जगत्की किसी वस्तुसे उसकी आंशिक भी तुलना नहीं हो सकती। पृथ्वीके भोग-सुख चार दिनकी चाँदनी हैं परन्तु उस भगवत्-माधुर्यका भोग कभी पूरा नहीं होता, उससे कभी अनिच्छा नहीं होती, कभी मन नहीं अघाता! भक्त अपने भगवान्को भोगकर कभी पूरा नहीं कर सकता, वह जितना उसे भोगता है उतना ही वह अपनी नित्य-नयी रूपछटासे भक्तको मुग्ध करता है। भक्त

भगवान्की उस अतुल रूपराशि और हृदयमाधुरीका स्मरणकर क्षण-क्षणमें रोता-रोता कहता है—

> जनम अवधि हम रूप नेहारिनु,
> नयन ना तिरपित भेल ।
> लाख लाख युग हिया माझ राखनु,
> तबु हिया जुड़न ना गेल ॥
> (विद्यापति)

प्रेममयी गोपियोंने भगवान्से कहा था—

> चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
> यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये ।
> पादौ पदं न चलतस्तव पादमूला-
> द्यामः कथं व्रजमथो करवाम किं वा ॥
> (श्रीमद्भा० १० । २९ । ३४)

'हमारा चित्त जो इस समयतक सुखसे घरके कामोंमें लग रहा था वह अब तुमने हर लिया है यही दशा हाथोंकी हुई है अब ये पैर भी तुम्हारे चरणतलको छोड़कर कहीं एक पद भी नहीं चल सकते इसलिये अब हम व्रजको कैसे जायँ और वहाँ जाकर क्या करें ?'

इसीलिये तो कहा जाता है कि संसारमें ऐसा कौन-सा सुख है जो भगवान्की समता कर सकता हो ? इहलोक और परलोकमें भगवान् ही विराजमान हैं, यह संसार न मालूम कितनी बार बनता है और बिगड़ता है, हम न मालूम कितनी बार जाते हैं और आते हैं, चन्द्रमा और सूर्य न मालूम कितनी बार नये-नये बनकर आते हैं परन्तु वह ज्यों-का-त्यों है, वही सदा सुकुमार और सदा सुकोमल

है। आनन्द और माधुर्यका नित्य नवीन निर्झर है, चिर नवीनतामें वह चिर दिन वर्तमान है।

समस्त विश्वका सुर पल-पलमें बजकर जिसके चरणोंमें मूर्च्छित होता है एक दिन हमलोगोंका हृदय भी उस अमल-धवल परम ज्योतिमें अवश्य ही विलीन होगा। नदीको समुद्रके बिना और गति कहाँ है? अतएव बन्धुओ! आओ! जो जहाँपर हों, वहींसे आओ, जो जिस अवस्थामें हों, उसीमें आओ, आओ! आज हम सब मिलकर उसके मृत्युभयसे छुड़ानेवाले अभय चरणकमलोंकी शरण ग्रहण करें! यदि मृत्यु अनिवार्य है, यदि मरना ही है तो आओ! उसके चरणोंमें पड़कर मृत्युको माँग लें और इन बहु-भार-पीड़ित, जन्म-मृत्युत्रासित, शोक-दुःख-ग्रसित, तापित प्राणोंको शीतल करें!

हमलोगोंमें कितने ही लोग भगवान्‌को भी ठगना चाहते हैं और इसीलिये अपनी कमजोरियोंको छिपाकर वे लोगोंमें साधु बनते हैं। इससे कुछ लाभ तो होता ही नहीं, परन्तु उनकी उन्नतिका पथ कण्टकाकीर्ण अवश्य हो जाता है। जो दूसरोंकी आँखोंमें धूल झोंकनेमें चतुर होते हैं वे समझते हैं कि हम इसी तरहसे भगवान्‌को भी धोखा दे सकेंगे परन्तु उनका ऐसा समझना निरा पागलपन है। अपनी कमजोरियोंको छिपानेकी चेष्टा न कर भगवान्‌से यही कहना चाहिये कि 'प्रभो! हम दुर्बल हैं, शक्तिहीन हैं, दीन हैं, अशरण हैं, अब तुम्हारी शरण लेते हैं, दया करके तुम हमें बचाओ।'

हमारी कमजोरियाँ और हमारा छोटापन भगवान्‌से छिपा नहीं है वे सब कुछ जानते हैं, तो भी वे इतने निर्मम या कठोरहृदय नहीं

है कि काँटेपर तौल-तौलकर ही हमारे लिये फलविधान करें। यदि वे ऐसा करते तो लोग पापोंसे कभी नहीं छूट सकते!

इस संसारमें यदि कुछ सुख है तो उसके साथ ही दुःख भी तो भरा हुआ है। यदि किञ्चित् आशा है तो निराशाका भी अपार समुद्र उमड़ रहा है। इसलिये इस भले-बुरे, सुख-दुःख, शान्ति-अशान्ति और धूप-छायाके प्रपञ्चसे किसी तरह छुटकारा पाना जीवका चिरन्तन लक्ष्य है। जीवका जीवन वास्तवमें इस जगत्के ऐश्वर्य, सौन्दर्य और दुःख-दैन्यके वैधुनिक अभिनयसे तृप्त नहीं है। वह चाहता है उस नित्य स्थिर और नित्य सुकोमल परमस्थानको, जहाँ जाकर वह कुछ शान्ति पा सके। इसी-लिये भक्त संसारके घात-प्रतिघातसे उकताकर कह उठता है कि यह सब कुछ भी नहीं है—तुम्हीं सब हो—तुम्हीं मेरे सर्वस्व हो!

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

ऐसी अवस्थामें उसे संसारका सुख-दुःख स्पर्श नहीं कर सकता। वह भक्त केवल अपने प्राणोंके देवताको ही चाहता है और वह उसीको सब तरहसे आत्मसमर्पण कर निश्चिन्त हो जाता है। वह कहता है—

सुख सम्पद्‌में तव प्रसाद अमृतका, हूँ मैं करता पान।
दुख सङ्कटमें पाता हूँ तव, मङ्गल करका स्पर्श, समान॥
तव अनन्त आशाका दीपक-अमर जला दो जीवनमें।
मरण अनन्तर सुप्रभात हो तव पदपङ्कज सेवनमें॥

ले लो सब आनन्द और यह प्रीति-गीत सब ले लो साथ ।
भीतर बाहर एकमात्र हो तुमहीं मेरे जीवन नाथ ॥

समय-समयपर भक्तकी परीक्षा हुआ करती है; कहना नहीं होगा कि वह परीक्षा विश्वविद्यालयोंकी परीक्षासे सर्वथा भिन्न प्रकारकी होती है । एक चतुर सुनार जैसे सोनेको धधकती हुई अग्निमें जलाकर उसकी उज्ज्वलताको और भी बढ़ा देता है उसी प्रकार श्रीभगवान् भी अपने भक्तको अग्नि-परीक्षामें डालकर उसके अन्तरकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म कालिमातकको मिटाकर उसकी उज्ज्वलताको और भी चमका देते हैं । यह कभी नहीं समझना चाहिये कि वे व्यर्थ ही भक्तको कठोर कष्टसे घायल करके उसकी आशाके बीजाङ्कुरको ध्वंस कर डालते हैं ।

कई लोगोंका कहना है कि भगवान्को पुकारनेपर भी उसका उत्तर नहीं मिलता; इससे बढ़कर झूठी बात और क्या हो सकती है ? अबतक जिसने उसको पुकारा है उसीने तत्काल उत्तर पाया है । जिसने उसका आश्रय चाहा है उसीने उसकी करुणाको हृदयङ्गम किया है । हमलोगोंमेंसे कितने ऐसे हैं कि जिन्होंने यथार्थ प्रेमके साथ प्राणोंकी आवाजसे उसको पुकारा है ? हमें अन्यान्य कार्योंके लिये समय खूब मिल जाता है परन्तु भगवान्के लिये बिल्कुल नहीं मिलता । हम पार्थिव धन-सम्पत्तिके लिये तो चेष्टा करते हैं और उसे किसी अंशमें पाते भी हैं किन्तु उस परमात्माके लिये हमने कितने दिन जी तोड़ परिश्रम किया, कितने दिनोंतक भूखे और प्यासेकी तरह उसे चाहा ? कभी नहीं; यदि एक दिन भी उन्हें इस प्रकार चाहते तो अवश्य उत्तर

मिलता । हमने चाहा धन, जन, सुख; उन्होंने हमें वही दे दिया 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।' इन शब्दोंको उन्होंने पूरा निबाहा । हमने अपने सारे धर्मकर्मोंको त्यागकर कब उनकी शरण ली है ? इसीलिये जलराशिमें रहकर भी हम प्याससे छटपटाते हुए मर रहे हैं । उनके चरणोंका आश्रय एक दिन भी तो नहीं लिया । ऐसी अवस्थामें हमें उनकी यह दिव्यवाणी कहाँसे सुनायी देगी कि 'मत डरो, मत डरो'—'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥' रे हतभागे जीव ! तू किस मुँहसे कहता है कि वे नहीं सुनते ! उन्होंने तो तेरे लिये सब कुछ किया है परन्तु तैंने उनके लिये कुछ भी नहीं किया !

तब भी वे तो बोलते हैं, कितनी बार झाँकी-सी मार जाते हैं, परन्तु हम उनकी ओर देखते ही कहाँ हैं ? पिता-माता, भाई-बहिन, पुत्र-कन्या, पति-पत्नी और दास-दासी आदिमें भी नित्य उन्हींके हृदयका निदर्शन प्राप्त होता है । इन ग्रह-नक्षत्रोंमें, चन्द्र-सूर्यमें, आकाशमें, नद-नदियोंमें, सागर-सलिलमें और अनल-अनिलमें जो उनका चमकता हुआ सुन्दर मुख दीख रहा है क्या हमने कभी उसे देखनेकी चेष्टा की है ? वे तो हमारे प्रत्यक्ष ही है परन्तु न मालूम हम किस जघन्य लोभसे—किस प्रबल दुराकांक्षासे उनकी असीम मर्यादाको पदपदपर ठुकरा रहे हैं । वास्तवमें वे 'दूराद् दूरतर' नहीं हैं, वे हमारे अत्यन्त समीप हैं ।

जब साधक समस्त वासनाओंके मोहको छोड़कर केवल भगवान्‌की प्राप्तिको ही अपने जीवनका एकमात्र लक्ष्य बना लेता है तब भगवान् स्वयं आकर उसको अपनी गोदमें उठा लेते हैं ।

सुतरां यदि हम इन क्षुद्र वासनाओंको छोड़कर उन्हें चाहें, अपने-अपने काम-सङ्कल्पसे उत्पन्न स्वार्थको त्यागकर हृदयमें प्रेम-की शुभ वृत्तिका अनुशीलन करें तो वे अवश्य ही हमारे हाथोंमें पड़नेको तैयार हो जायँ। परन्तु जबतक जरा-सा भी स्वार्थ रहेगा तबतक उनका मिलन नहीं होगा। हाँ, इससे पहले भी, चेष्टा करनेवाले भक्तके पीछे-पीछे वे अवश्य घूमते हैं, दो-एक बार झलक-सी भी दिखा देते हैं, कभी-कभी आँखोंके सामनेसे दौड़ जाते हैं, परन्तु स्पष्टरूपसे प्रत्यक्ष नहीं होते!

इसीलिये खोज-खोजकर हृदयकी कमजोरियोंको हटाना पड़ेगा। साधनमें बड़ी दृढ़ताके साथ लगना होगा, उत्साहके साथ सद् अभ्यास करना पड़ेगा तब महावनमें छिपे हुए सिंहकी तरह इस हृदयगुफामें ही हमें उनके दर्शन होंगे!

हमारे चारों ओर स्वार्थपरताका नाटक हो रहा है, इसीलिये स्वार्थत्याग हमें बड़ा कठिन प्रतीत होता है, हम एक पैर आगे बढ़ते हैं तो दस पीछे हटना चाहते हैं, बस, यहींपर अपनी सतृष्ण दृष्टिको जाग्रत् रखना चाहिये। कभी न सोकर, सदा बिना आलस्य-के उनकी खोज करनी चाहिये। स्वार्थकी तरफ कभी न देखकर निरन्तर उनमें प्रीति बढ़ानेकी चेष्टा करनी चाहिये। ऐसा करने-पर कभी-न-कभी वे अवश्य मिलेंगे।

माता लड़केके हाथमें कोई खिलौना देकर उसे भुला देती है और अपने दूसरे काम करने लगती है, जबतक बच्चा रोता नहीं तबतक माता उसकी ओर ध्यान न देकर दूसरी तरफ मन लगाये रहती है। परन्तु कई ऐसे हठी लड़के होते हैं जो खिलौने-

से भूलना या किसी तरह भी सोना नहीं चाहते। जबतक माताकी गोदमें रहते हैं तबतक चुप रहते हैं, जहाँ माताने गोदसे उतारा कि लगे चिल्लाने! ऐसे बच्चोंको माता कभी भुला नहीं सकती। उन्हें सदा साथ ही रखना पड़ता है। क्या हम उस जगजननीके ऐसे हठी और रुदनशील लड़के नहीं बन सकते? ज्यों ही वह हमें भुलाकर छोड़ना चाहे त्यों ही यदि हम रोने लगें तो वह विश्वजननी कभी हमें अपनी गोदसे अलग नहीं कर सकती, ऐसी अवस्थामें हम बिना विवाद उस सच्चिदानन्दमयी जननीकी गोदमें शान्तिमग्न होकर, उसका अमृत स्तन्य पानकर अनायास ही अमर हो सकते हैं।

मा तो सवेरेसे ही हमें गोदसे उतारकर दूसरे कार्योंमें लग गयी है; हम किस संसार-खिलौनेपर भूल रहे हैं? यह कैसी विडम्बना है? सन्ध्या होने चली, धीरे-धीरे रात्रिका अन्धकार चारों ओर फैल गया; भाई! क्या अब भी तुम्हारा खेल समाप्त नहीं हुआ? अन्धकार बढ़ता जा रहा है, चलनेका मार्ग धीरे-धीरे अन्धेरेसे ढका जा रहा है, साथियोंका कहीं पता नहीं है, चारों ओर बनैले पशुओंकी भयानक चिल्लाहटसे कान बहरे हुए चले जाते हैं। दिशाका छोर अन्धकारसे ढक गया है। अरे भूले हुए पथिक! रे अबोध! क्या अब भी तू चेत नहीं करता? वह सुन! समीप ही माताके मन्दिरोंमें नगारे बज रहे हैं, शङ्ख और घड़ियालके बाजेके साथ माताकी आरतीका दीपक कैसा सुन्दर जल रहा है। एक बार उसको सुनकर कह कि 'मा! मेरा खेल पूरा हो

गया, अब नहीं खेलूँगा, रातकी अँधेरी छायामें खेलनेपर मन नहीं चलता, अब मुझे अपने विश्वशरण चरणतलोंमें बुला ले।'

'मा ! मैं बहुत खेला। खेलते-खेलते थक गया। एक बार मेरे पास खड़ी होकर अपना शान्त और नींदभरा मुख मुझे दिखला दे! मा, खेलते-खेलते सब कुछ भूल गया, अब और न भुला। एक बार इस अन्धेरेको मथकर, दिव्य साजसे सज्जित हो, अपनी मधुर हँसीके विकाससे मेरे हृदयके आनन्द-निर्झरको खोल दे। दसों दिशाओंको अपनी असीम सुन्दरतासे भर दे! आँखोंकी झपकी दूर कर दे! जगजननि! एक बार फिर इस क्लान्त भक्तके हृदयदेशमें विश्वव्यापी जगन्मोहिनी वेशमें खड़ी हो जा मा! और मैं एकतान चित्त होकर यह गाऊँ—

अनाथस्य दीनस्य तृष्णातुरस्य
भयार्त्तस्य भीतस्य बद्धस्य जन्तोः।
त्वमेका गतिर्देवि निस्तारदात्री
नमस्ते जगत्तारिणि त्राहि दुर्गे॥
लीलावचांसि तव देवि ऋगादिवेदाः
सृष्ट्यादिकर्मरचना भवदीयचेष्टा।
त्वत्तेजसा जगदिदं प्रतिभाति नित्यं
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्॥
न जानामि दानं न च ध्यानयोगं
न जानामि तन्त्रं न च स्तोत्रमन्त्रम्।
न जानामि पूजां न च न्यासयोगं
गतिस्त्वं गतिस्त्वं त्वमेका भवानि॥

ईश्वर साकार हैं या निराकार

भगवान्‌को साकार कहें या निराकार ? उनको कैसा समझना ठीक है ? साकारवादी भगवान्‌को निराकार सुनते ही भड़क उठते हैं, और निराकार माननेवाले भगवान्‌के रूपकी बात सुनते ही जरा उपेक्षाकी हँसी हँसते हुए साकारवादियोंकी ओर करुणाभरी दृष्टिसे देखकर और उनकी बुद्धिके जडत्वपर विचारकर हताश हो जाते हैं। भारतके विभिन्न समाजोंमें बहुत प्राचीन समयसे इस बातपर न मालूम कितना वितण्डावाद और कलह हो चुका है। जिन शास्त्रोंमें भगवान्‌के साकार-विग्रहका वर्णन है, उनपर निराकार-वादी विश्वास नहीं करते और जिन ग्रन्थोंसे भगवान्‌का निराकारत्व प्रदर्शित किया गया है, उनको साकारवादी बिल्कुल मानना नहीं चाहते।

इनमें कौन-सी बात शास्त्रसम्मत है ? साकार सत्य है या निराकार ? दोनों दलोंके इस वितण्डावादमें पड़नेसे कोई लाभ नहीं है। इन दोनों मतोंकी उपेक्षा न कर शास्त्र और आचार्योंके मतोंके अनुसार मेरे हृदयने जैसी सम्मति दी और उससे मैं जो कुछ समझ सका हूँ, उसे यहाँ लिखता हूँ।

भगवान् न तो केवल साकार हैं और न केवल निराकार। वे साकार होते हुए भी निराकार हैं और निराकार होते हुए भी साकार हैं। वे साकार-अवस्थामें भी निराकार हैं और निराकार-अवस्थामें भी आकार-युक्त हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध भाव असम्भव-सा प्रतीत होनेपर भी, भगवान्‌में ये दोनों ही भाव सम्भव हैं। क्योंकि उनमें सम्भव-असम्भव सभी सम्भव है, उनके लिये असम्भव कुछ भी नहीं है।

इस विश्व—जगत्‌की ओर देखनेसे यह समझमें आ जाता है कि भगवान्‌का शरीर-धारण या रूप सम्भव है। वे असंख्य रूपों और अगणित भावोंमें प्रकट हो रहे हैं। इस विश्वके प्रकाशमें हम उन्हींके रूपको देखकर तो परम आश्चर्यचकित होते हैं। इतने रूपोंवाला यदि अरूप है तो रूपवान् कौन होगा ? इधर उनका निराकारत्व भी ऐसा गम्भीर और विस्मयोत्पादक है कि उसका स्मरण करते ही रूपमात्रको भुला देना पड़ता है। अमा-वस्याकी घोर रात्रिमें दिगन्तहीन मेघाच्छन्न आकाशकी ओर देखने-पर अपने शरीरके अस्तित्वपर भी मानो सन्देह-सा होने लगता है। इस दृष्टिसे न तो साकारको अस्वीकार करते बनता है और न

निराकारको ही इन्कार करनेसे काम चलता है। पर यहाँ तो भगवान्‌के विशिष्ट रूपपर विचार करना है। अस्तु

समय-समयपर विशिष्ट रूपसे भगवान् मनुष्यके सामने या मनुष्य-समाजमें आविर्भूत होते हैं या नहीं ? मनुष्य उनको अपने ही जैसे मनुष्यरूपमें देख सकता है या नहीं ? भगवान् कितने ही महान् विराट्स्वरूप और कैसे ही ऐश्वर्यशाली क्यों न हों, जबतक उनको मनुष्य अपने-जैसे मनुष्यरूपमें नहीं देखता, तबतक सम्भवतः वह सन्तुष्ट नहीं हो सकता। इसीलिये भगवान्‌को मनुष्यकी ऐकान्तिक आकांक्षाको पूर्ण करनेके लिये मनुष्यके समान बनकर मनुष्यके निकट आना पड़ता है। उनका यही भक्तोंपर अनुग्रह करनेवाला रूप लीला-विग्रह या अवतार-शरीर है। भगवान् मानव-समाजमें इस प्रकार आते हैं, यह अनेकों पुराणादि शास्त्रोंमें वर्णित है एवं गीतामें तो भगवान्‌ने अपने श्रीमुखसे हमें यह सुनाया है—

धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे॥

मैं धर्म-संस्थापनके लिये युग-युगमें प्रकट होता हूँ।

परन्तु जब भगवान् अपनी योगमायामें अधिष्ठित हो देह धारण करते हैं तो अन्य शरीरोंके सदृश ही प्रतीत होनेपर भी उनका वह भागवती शरीर होता है; हमारे पाञ्चभौतिक शरीरोंके समान वह भूतमय या भौतिक शरीर नहीं होता। उस समय मनुष्यके समान दीखनेपर भी उनके शरीरमें और हमारे शरीरमें बड़ा भारी भेद है। हमारा शरीर जड़भावापन्न है परन्तु उनके शरीरमें जड़भाव है ही नहीं। वह जड़वत् बोध होनेपर भी सर्वशक्ति-मय, चैतन्यमय और आनन्दमय है।

जिस प्रकार जल जमनेपर बर्फ हो जाता है, बर्फमें जलके सिवा और कुछ नहीं है, उसी प्रकार भगवत्-शरीर सच्चिदानन्दमय है, उसका प्रत्येक अणु सच्चिदानन्दसे पूर्ण है। हम कर्मोंके अधीन हो इस संसारमें बार-बार आते-जाते हैं, भगवान् कर्मरहित हैं, हमारे समान कर्मोंके अधीन होकर वे संसारमें नहीं आते, क्योंकि कर्म न होनेसे कर्म-फल-भोगरूप शरीरकी उन्हें आवश्यकता नहीं होती। उनका वह शरीर पञ्चभूतोंसे गठित नहीं होता, वे स्वेच्छासे शरीर धारण करते हैं, इसीसे जब वे मनुष्य-शरीरसे जगत्में अवतीर्ण होते हैं तो उनका वह शरीर उस सच्चिदानन्द-भावका स्वतः स्फुरण ही होता है। इसीलिये उसमें ऐसा चिर नवीन सौन्दर्य होता है जिससे जीवोंके मनःप्राण स्वतः आकर्षित हो जाते हैं। अनेकों बार देखनेपर भी वह पुराना नहीं होता, जितना देखा जाता है उतनी ही और देखनेकी इच्छा बढ़ती जाती है—

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसा महोत्सवम्।

शास्त्रोंमें अनेकों जगह भगवान्के श्रीविग्रहका वर्णन है। वहाँ उसे माया-तनु या लोकविमोहन शरीर ही कहा गया है। परन्तु इस माया-तनुका अर्थ मिथ्या शरीर या हमलोगोंको ठगनेके लिये शरीर-धारण नहीं है, वह शरीर अलौकिक शक्तिका आधार या क्रियाक्षेत्र है। भगवान्की अलौकिक ईश्वरीय शक्ति ही पुञ्जीकृत या घनीभूत होकर इस विशिष्ट रूपको धारण करती है।

भगवान्का रूप देश-कालसे परिच्छिन्न प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें देश-कालसे परिच्छिन्न नहीं है। देहधारी होकर भी

भगवान् मनुष्यके समान सीमित, सान्त या जडभावापन्न नहीं होते। उस शरीरमें उनकी वही असीम, अनन्त चैतन्य सत्ता विद्यमान रहती है। जिस प्रकार सूर्य बहुत विशाल वस्तु है पर हमारी दृष्टि-शक्ति इतनी बड़ी वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकती, अतएव हमारी दृष्टिकी अल्पताके अनुरूप सूर्य हमें छोटे रूपमें दिखलायी पड़ता है। उसी प्रकार अनन्त, अपरिमेय परमात्मा हमारे नयन-गोचर होनेपर हमारी नेत्र-शक्तिके अनुसार छोटे रूपमें दीखने पर भी वास्तवमें वे क्षुद्र हो नहीं जाते। यही उनका असीम शक्ति-युक्त, भक्त-अनुग्रहकारी रूप होता है। भक्तकी तृप्तिके लिये भगवान्को भक्तकी दृष्टि-शक्तिको सामर्थ्यके अनुरूप रूप धारण करना पड़ता है। इससे वे छोटे नहीं हो जाते। यदि कोई अन्य अधिक सामर्थ्यवान् पुरुष, उनको उसी समय देखना चाहे तो उस एक ही समयमें वे साधककी शक्तिके अनुसार बड़े रूपमें भी दिखलायी पड़ सकते हैं। इसीलिये भगवान्के प्रति भक्तका आग्रह बढ़ता ही रहता है। हम उनको अपने खिलाड़ी साथीके भेषमें, उसीके रूपमें प्राप्त कर सकते हैं; साथ ही गुरु, पिता, माता, विधाताके रूपमें भी पा सकते हैं। आवश्यक होनेपर वे हमारे प्राणोंके परमोत्सवरूपमें, नवीन-नटवर मदन-मोहन प्राण-कान्तके रूपमें आकर हमारे साथ रसालाप भी कर सकते हैं। हमारे विरह-व्याकुल चित्तको अपनी सुमनोहर वंशी-ध्वनिद्वारा अपने चरणोंमें खींचकर हमारी अनन्तकालकी दारुण संसार-पिपासाको मिटा दे सकते हैं।

वे निराकार, अरूप-रूपसे भी यह सब कुछ कर सकते हैं

और साकार-रूपसे हमारे समीप बैठकर हमारी व्यथासे व्यथित होकर हमें अनेक प्रकारसे सान्त्वना भी दे सकते हैं।

यह सब उनकी महिमा है और यह महिमा ही उनकी माया या अघटनघटनापटीयसी अलौकिक शक्ति है।

एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि॥
यथा नभसि मेघौघो रेणुर्वा पार्थिवोऽनिले।
एवं द्रष्टरि दृश्यत्वमारोपितमबुद्धिभिः॥

जो भगवान् वस्तुतः चिन्मय एवं रूपवर्जित हैं, यह स्थूल-रूप भी उन्हीं चिन्मयका रूप है। (भापके आकारमें जो अदृश्य था बस वही जलाकारमें दिखलायी पड़ने लगा) क्योंकि जिन तीनों गुणोंके विकारसे यह स्थूल रूप बनता है, वे तीनों इस चिन्मयके ही अंश हैं। वे ही स्थूलरूपसे अधिष्ठित हैं। यद्यपि स्थूल रूप भगवान्‌का ही रूप है, पर उनका स्वरूप सभी रूपोंसे भिन्न है। जिनकी बुद्धि अविद्याके मोहसे मुग्ध है उन अबुद्धि मनुष्योंद्वारा 'दृश्यत्वम्' दृश्यभावको यानी स्थूलरूपको 'द्रष्टरि' द्रष्टा पुरुष (जीव और ब्रह्म) के ऊपर आरोप किया जाता है।

जो विश्व-मूर्ति-रूपसे वासुदेव हैं, प्राणाधीशरूपसे अखिल प्राणमय दिव्य-तेज-पूर्ण देहधारी हैं, उन्हींका मनुष्य-सदृश रूप भी है। पर मानव-सदृश होकर भी वह अमानव हैं। उसी रूपको देखनेके लिये भक्तमात्रके प्राण व्याकुल रहते हैं। विश्व-रूप देखने-के बाद अर्जुनने इसी रूपको देखना चाहा था और भगवान्‌ने भी कृपा करके अर्जुनको वह रूप दिखलाया था। इस रूपके दर्शन

कर लेनेपर भक्तकी रूप-तृष्णा सदाके लिये मिट जाती है। मनुष्यके अन्दर रूप-तृष्णा बड़ी प्रबल होती है, इस रूप-तृष्णा या रूप-दर्शनके नशेको मिटानेके लिये ही वे अपूर्व श्यामसुन्दर-मूर्ति धारण करते हैं। शास्त्रोंमें अनेक स्थलोंपर, विविध छन्दों और अनेक भाव-भङ्गियोंसे इस मदनमोहन, पुरुषोत्तमरूपके आविर्भावका वर्णन है। इस सुसंवादसे हमारा चित्त मानो स्वाभाविक ही आश्वासन प्राप्त करता है।

भगवान्‌के रूपयुक्त और रूपहीन दोनों भावोंका वर्णन शास्त्रोंने हमें सुनाया है। एक सीमाहीन, अन्तहीन, चैतन्य, इन्द्रियोंके अगोचर, अरूप और सत्तामात्र हैं तो दूसरे अनन्त शक्तिके आधार, अनन्त-क्रीडा-कौतुक-पूर्ण, प्रेम-पूर्ण, रूपमय, भुवन-मनोमोहन, चिन्मय, लीलाविग्रह हैं। एकमें अनन्त शक्ति शुद्ध और अव्यक्त है तो दूसरेमें अनन्त शक्तिका खेल है, अनन्त रूपका नित्य-निकेतन है। जहाँ शक्ति शुद्ध है, अपने आपमें मग्न है, उस अरूप भावका वर्णन भाषामें कोई भी नहीं कर सकता, वहाँ वे निराकार हैं। परन्तु जहाँ वह शक्ति जाग्रत् है, क्रीडाशील है, वहाँ वे निराकार होते हुए भी साकार हैं, क्योंकि जहाँ शक्ति-का स्फुरण है वही रूप है। शक्तिका स्फुरण होते ही कुछ अवलम्ब या आश्रय लेना पड़ता है। यह आश्रय-केन्द्र ही उनके रूपको प्रकाशित करता है। यह रूप-परिग्रह-केन्द्र-शक्ति भावमयी है। यह रूप, विशिष्ट रूप होनेपर भी चिन्मय-भावके साथ एवं अरूप-सत्ताके साथ नित्य सम्बन्धित है। इसीसे जब भक्त भयभीत होकर उन्हें 'मा' कहकर पुकारता है तब भक्तको अभय प्रदान करनेके लिये वे अनन्त-चैतन्य-सत्ताका विस्तारकर अनुपमरूपमें-

भक्तके सम्मुख प्रकट होते हैं। उस समय वे हमारे ही समान बातें करते हैं, अपने भक्तके मनकी बात सुनते हैं। भक्तके दिये हुए पदार्थ ग्रहण करते हैं, खाते हैं। प्रभुकी यह कैसी अपूर्व करुणा है? भक्त प्रह्लादसे जब हिरण्यकशिपुने पूछा कि 'क्या इस स्तम्भमें तेरा भगवान् है?' तो भक्त प्रह्लादने निर्भीक-चित्त और विश्वासपूर्ण हृदयसे उत्तर दिया कि 'निश्चय ही हैं, पिताजी! वे सर्वव्यापी हैं, इस स्तम्भमें भी हैं।' हिरण्यकशिपुने चिर-शत्रु भगवान्‌को इतना निकट जानकर ज्यों ही खड्ग उठा प्रचण्ड वेगसे स्तम्भपर आघात किया त्यों ही सर्वव्यापी होते हुए भी भक्तके प्रभु, भक्त-प्राणके देवता भगवान् भक्तकी बात सच्ची करने एवं हिरण्यकशिपुके अज्ञानतमको ध्वंस करनेके लिये उसी समय कितने भीषण और कितने मधुर रूपमें भक्तके सामने प्रकट हो गये और भक्तके हृदय-क्षोभको सदाके लिये मिटा दिया!

इस रूपके न धारण करनेपर उनकी भक्तवत्सलता कहाँ रहती? भक्तको भगवान् इसी प्रकार कृतार्थ करते हैं। यहाँ यह सोचना ठीक नहीं होगा कि भगवान् जब एक जगह आविर्भूत हो गये तो अन्य स्थानोंपर शायद नहीं रहे। वे सर्वव्यापी रहते हुए ही एक समयमें ही अनेकों स्थानोंपर प्रकट हो सकते हैं एवं सभी रूपोंमें उनकी असीम शक्ति पूर्ण रहती है। जिस प्रकार एक महान् अद्वितीय भगवत्स्वरूपमें उनकी असीम शक्ति है, खण्डरूपसे प्रतीत होनेवाले असंख्य स्वल्पायतनोंमें—छोटे शरीरोंमें भी उनकी वही असीम शक्ति विद्यमान रहती है। यही उनकी भगवत्ता है। एक परमाणुमें वे जिस प्रकार पूर्णात्पूर्णतर रूपमें विराजमान हैं, अनन्त ब्रह्माण्डमें, अनन्त ब्रह्माण्डव्यापी अधिष्ठानमें

भी वे वैसे ही पूर्णात्पूर्णतर रूपसे विराजित हैं। हमलोगोंकी भाँति भगवान्‌का एक स्थानपर स्थित रहते दूसरी जगह अभाव नहीं होता। परन्तु जब वे अपनेको किसी देश, काल और आधारमें प्रकाशित करते हैं तब वह एक अपूर्व प्रकाश होता है। उस देश, काल, आधारमें रहकर भी वे उस देश, काल और स्थानसे अतीत ही रहते हैं। वे भक्तकी पुकार सुनते हैं, एवं भक्तको अभय देनेके लिये उसी देश, काल और स्थानमें अपनेको प्रकट करते हैं। द्रौपदीने दुःशासनके अत्याचारसे भयभीत हो कौरव-सभामें उनको करुण-भावसे पुकारा था, उन्होंने कातर भक्तके आह्वानसे आकर्षित होकर तत्काल भक्तका भय दूर कर दिया। उनकी आर्त-त्राणपरायणताके ऐसे अनेकों दृष्टान्त हैं।

जैसे दुर्गन्धमय, कीचड़-भरे, संकीर्ण जलमें भी कमल अपूर्व शोभा, सुगन्ध और सुन्दर वर्णको लेकर खिलता है, भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे इसी देश, काल और आधारमें अपनी अपूर्व भक्तभयहारी मूर्तिको उसी प्रकार प्रकट करते हैं। यही उनका मदनमोहन रूप या भुवन-मन-मोहन ईश्वरीय भाव है। इसी भावमय-रूपमय सत्ताके दर्शन करनेपर साधकका हृद्-रोग नष्ट हो जाता है। इस रूपको देखते-देखते साधक विह्वल हो उठता है। इस रूपसागरमें डूब-डूबकर भी वह अपने प्राणोंकी आशा मिटा नहीं सकता। भक्त कहता है—

जन्म अवधि हम रूप निहारिनु, नयन ना तिरपित भेल।

ज्ञान ही प्रेम है और प्रेम ही ज्ञान है

प्रथम—अच्छा ! तुम हरिनारायणको पहचानते हो ? उससे प्यार करते हो ?

द्वितीय—हरिनारायण कौन ? क्या मैं उसे जानता हूँ ?

प्रथम—यह बताओ, तुम उसे चाहते हो या नहीं ? इसके बाद तुम्हारी बातका उत्तर दूँगा ।

द्वितीय—अजब आदमी हो यार तुम भी, मैंने कभी देखा नहीं, जाना नहीं, नामतक नहीं सुना और चाहने लगा ? क्या प्यार यों ही हुआ करता है ?

प्रथम—पर भाई ! वह है बड़ा सुन्दर, क्या तुम्हारी इच्छा उसे प्यार करनेकी नहीं होती ?

द्वितीय—तुम भी बड़े मज़ेके आदमी हो, मैं जिसके सम्बन्धमें कुछ जानता ही नहीं, उसके सम्बन्धमें यह कैसे निश्चय करूँ कि वह सुन्दर है या कुरूप। पहले सुनूँ कि वह कैसा है, एक बार उसे आँखोंसे देखूँ, दो बातें करूँ, मेरा उससे परिचय हो, तब कहीं प्यार होगा या ऐसे ही?

प्रथम—क्यों? क्या बिना देखे-सुने किसीको भी प्यार नहीं किया जा सकता?

द्वितीय—शायद किया जा सकता हो, परन्तु वह प्यार किसके साथ है यह तो कभी पता लगनेका नहीं! अच्छी कवि-कल्पना है, पागलपन और किसे कहते हैं?

प्रथम—अब आये सीधी राहपर, कल तो बड़ी उछल-कूद मचा रहे थे कि 'प्रेम ही बड़ा है, ज्ञान बड़ा नहीं, ज्ञान हुए बिना भी प्रेम हो सकता है, प्रेमिकका चाहे कहीं कुछ भी पता न हो, ज्ञानसे तो प्रेममें बाधा पड़ती है।' कहाँ गयी वह सारी उछल-कूद? अब उसी बातके लिये मुझे पागल बताने लगे? बोलते क्यों नहीं? उत्तर दो मेरी बातोंका! भाई, असल बात यह है कि प्रेम या ज्ञान किसे कहते हैं इस बातको हम समझते ही नहीं। हम केवल बातोंसे लड़ना जानते हैं, हमारी बातोंमें थुका-फ़जीहत तो बढ़ जाती है परन्तु ज्ञान और प्रेमका कहीं पता भी नहीं लगता। हमलोगोंके सदृश विषयासक्त और बुरी चिन्ताओंके भयानक विषसे जर्जरित

चित्तवाले पुरुषोंके लिये इन दोनों बातोंको समझना एक तरहसे असम्भव ही कहा जा सकता है।

दीर्घकालतक श्रद्धाके साथ सत्सङ्ग और भगवान्‌का भजन करनेसे भावशुद्धि होती है। इसके बाद सच्ची निष्ठा उत्पन्न होती है तब परमात्माके प्रति रुचि होती है। इसके बाद आसक्ति और इसके भी बहुत पीछे प्रेमका प्रादुर्भाव होता है। हमलोगोंके ज्ञान और प्रेमकी बातें तो केवल तोता-रटन्त है, वस्तुस्थिति नहीं है। भगवान्‌के प्रति रुचि उत्पन्न होना कितने बड़े साधनका फल है इस बातको हम अप्रेमिक लोग क्योंकर समझ सकते हैं? जिस समय मनुष्यके बहुत जोरसे ज्वर चढ़ जाता है उस समय वह अन्य सारी बातोंको भूल जाता है। ज्वर उसको हिला-हिलाकर और उसके देहकी हड्डियोंको कँपा-कँपाकर क्षण-क्षणमें उसे केवल अपना ही अस्तित्व बताया करता है। इसी प्रकार किसी शुभ घड़ीमें, परम सौभाग्यसे, जब मनुष्यके अन्तःकरणमें परमात्माके प्रति रुचि और आसक्ति उत्पन्न होती है तब उसका वेग इतना प्रबल होता है कि उस समय उसे और कुछ भी स्मरण नहीं रहता, उसके सारे चित्तपर केवल उस एक प्रेममयका ही अधिकार हो जाता है। उस समय वह भक्त भूल जाता है अपने आपको और भूल जाता है समस्त जगत्‌को! वह केवल एक उसीकी ओर देखता है। ऐसी स्थितिमें उसे अन्य किसीसे भी प्रयोजन नहीं रह जाता इसलिये वह अन्य किसी भी वस्तुकी इच्छा नहीं करता। धन, जन, मान-प्रतिष्ठा आदि उसके चरणोंमें आकर लोटने लगते हैं परन्तु वह उन सबकी ओर ताकता

भगवद्भक्तियुक्तस्य तत्प्रसादादात्मबोधतः सुखं बन्धविमुक्तिः स्यात्।

भगवद्भक्त भगवान्‌के अनुग्रहसे आत्मज्ञानको प्राप्तकर सुखपूर्वक बन्धनसे छूट जाता है। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥

(१०।१०)

'जो निरन्तर मुझे प्रेमपूर्वक भजते हैं मैं उनको बुद्धियोग याने ज्ञान देता हूँ कि जिसे पाकर वे मुझको प्राप्त होते हैं।'

यह ज्ञान और प्रेम अभिन्न हैं। दोनों ही परम कल्याणके हेतु हैं। नदी जहाँ अपने अस्तित्वको समुद्रमें मिला देती है वहीं महातीर्थ बन जाता है। यही नदीका अपने चिरवाञ्छितको प्राप्त करना है। यही नदी-जीवनका चरम लक्ष्य है और यही उसका आत्मज्ञान या मोक्ष है।

यहीं प्रीतिका अवसान है इसीलिये इसको 'प्रेम' कहते हैं। आत्मा ही समस्त आनन्दका निर्झर है, इस आत्माको जाने बिना अमृत नहीं मिलता, इसीलिये समस्त धर्म, कर्म और ज्ञान भक्तिकी एकमात्र चेष्टा है, उस प्रेम-पारावार परमात्माको जान लेना और उसके साथ मिलकर एकात्मताको प्राप्त हो जाना। एकके साथ दूसरेकी जो आत्यन्तिक मिलनकामना है उसीको आसक्ति कहते हैं। इस आसक्तिके बाद मिलन होता है। इस मिलनमें ही आत्मविस्मृति है,—बस यही अर्पणका उपयुक्त अवसर है। इसके पश्चात् जब व्रजगोपियोंकी भाँति सारी इन्द्रियाँ उस श्रीकृष्ण परमात्माके प्रति अर्पण हो जाती हैं तब 'चाहने' और 'पाने' की समस्त भावनाएँ

मिट जाती हैं। साधक अपने आपको भूल जाता है। उस समय केवल एक प्रेममय श्रीकृष्णके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं रह जाता, तब श्रीकृष्णके साथ एकात्मता (एकीभाव) प्राप्त होती है। इसीका नाम 'प्रेम' है। इस प्रेममें समस्त नामरूप मिट जाते हैं— लय हो जाते हैं। ठीक यही अवस्था आत्मज्ञानीकी होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा है—

> ता नाविदन्मय्यनुषङ्गबद्ध-
> धियः स्वमात्मानमतस्तथेदम्
> यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
> नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥
> (११। १२। १२)

समाधिमें स्थित होकर मुनिजन तथा समुद्रमें मिल जानेपर नदियाँ जैसे अपने नाम और रूपको गँवा देती हैं उसी प्रकार अतिशय आसक्तिवश मुझमें ही निरन्तर मन लगे रहनेके कारण उन्हें अपने शरीरादिकी कोई भी सुधि नहीं रहती।

इससे यह सिद्ध होता है कि पहले जान लेनेके बाद प्रेम होता है। अब यह प्रश्न उठता है कि हठात् किसीको जाननेकी इच्छा क्यों होने लगी? पहले किसीके द्वारा उसके गुण-प्रभावकी बातें सुननेपर ही उससे मिलनेकी इच्छा होगी। ठीक है। इसी- लिये तो सबसे पहला साधन 'श्रवण' है। इसके बाद मनको समझाने-बुझानेका काम होता है अर्थात् हम जिसको पकड़ना या प्राप्त करना चाहते हैं वह वास्तवमें ठीक 'वही' है या नहीं, इस बातपर बारंबार विचार करना पड़ता है, इसे कहते हैं 'मनन'। आत्म-प्रत्यय हुए बिना केवल शास्त्रवचनोंसे कुछ भी नहीं होता

अतएव इसके बाद होता है 'निदिध्यासन'; फिर 'ध्यान' और इसके बाद ध्येय वस्तुकी 'धारणा' होती है। धारणाका अर्थ है उस परमात्माके प्रति दृढ़ विश्वास होना, यह अच्छी तरह जान लेना कि वही मेरा 'सर्वस्व' है, इस धारणाके साथ-ही-साथ गद्गद भाव है। भक्तिशास्त्रमें इसीको आसक्ति या नवानुराग कहते हैं। परानुराग या प्रेम यह नहीं है। ध्यानी जन जिसे सविकल्प समाधि कहते हैं उसका दर्जा और भी ऊँचा है, भक्तिशास्त्रमें उसका नाम 'भाव' है। इसके भी ऊपर एक दर्जा और है। अपने प्रणयपात्र प्रियतमके प्रति प्रीति करते-करते जब उसमें इतनी प्रगाढ़ता हो जाती है कि उसे देखनेमे, उसकी बातें सुननेमें, उसका चिन्तन करनेमें, उसके साथ टहलनेमें, उसे भोजन करानेमें, उसकी सेवा करनेमें, उसकी बातें करनेमें यहाँतक कि उसके स्मरण होनेमें ही भक्तके प्राणोंमें एक निविड़ निर्मल आनन्दरसका सञ्चार होने लगता है और वह भक्त उस आनन्दके साथ जगत्के किसी भी आनन्दकी तुलना नहीं कर सकता। कदाचित् उसका वह चिरवाञ्छित प्रियतम उसके घरपर चला आता है तो वह अपने नहाने, खाने आदि सारे कामकाजोंको भूलकर आनन्दमें इतना डूब जाता है कि उस समय पृथ्वीका यश, मान, ऐश्वर्य और आत्मीय स्वजन सब उसे विरस और अनावश्यक मालूम होने लगते हैं। उस समय उसके हाव-भाव, चाल-चलन और वेश-भूषा सभी एक विचित्र प्रकारके हो जाते हैं। भक्तिमती गोपाङ्गनाओंकी भाँति वह कह उठता है—

> कोई कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ
>
> कोई कहौ रंकिनि कलंकिनि कुनारी हौं।

कैसो परलोक नरलोक वरलोकन में
लीन्हीं मैं अलोक लोक लोकनतें न्यारी हौं ॥
तन जाहि मन जाहि देव गुरुजन जाहि
जीव क्यों न जाहि टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन वारी वनवारीके मुकुट पर
पीत पट वारी वहि मूरति पै वारी हौं॥
(कविवर देव)

एक ज्ञानशून्य मोहग्रस्त उन्मत्तकी तरह वह केवल अपने प्रेममयका ही सङ्ग चाहता है। एक क्षणके लिये भी उसे अपनी आँखोंसे परे करना नहीं चाहता। उस समय वह 'देखता है स्वप्नमें भी रूप सुन्दर श्यामका'। कभी-कभी तो वह कहता है—

है मुझको अपना नाम याद नहिं आता।
हर लिये प्राण, अब कुछ भी नहीं सुहाता॥

इस प्रकारसे भक्त अपनेको और जगत्को सर्वथा भूल जाता है। यही रागानुगा या असली भक्ति है; नकली या वैधी भक्तिकी यहाँतक पहुँच नहीं! इसीलिये इस रागानुगा भक्तिका मर्म साधारण भक्तोंकी समझमें नहीं आता। हमलोगोंमेंसे अधिकांशकी भक्ति तो प्रायः कृत्रिम होती है। कोई बहुत आगे बढ़ता है तो वह वैधी भक्तितक पहुँचता है। इस अवस्थामें प्रेमाभक्तिकी बातें हमारी समझमें कैसे आ सकती हैं?

इधर प्रगाढ़ ज्ञानियोंकी भी यही अवस्था होती है। वे विविध

भाँतिके विक्षेपोंमें तथा रोग, शोक और दुःखके हृदयविदारक कोलाहलमें भी समस्त विपर्योसे अपने मनको 'कूर्मोऽङ्गानीव' हटाकर आत्मामें प्रतिष्ठित कर लेते हैं। निर्वात स्थानमें दीप-शिखाकी तरह-से उनका मन ब्रह्ममें अचलप्रतिष्ठ रहता है। शीत-उष्ण, लाभ-हानि, हर्ष-शोक और जीवन-मृत्यु आदि कोई भी उनके चित्तमें चञ्चलता उत्पन्न नहीं कर सकते। इस अवस्थामें वे परमात्मामें स्थित हुए ज्ञानी देखते हैं—

यदि चैक निरन्तर सर्व शिवं
यजनं च कथं तपनं च कथम्।

इसी समय ज्ञानीके ज्ञाननेत्रोंके निकट 'आत्मबोध' प्रतिभासित होता है और तभी वह समझता है—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षौ
न ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो
भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥

(हस्ता० २)

बस, यहाँपर भी नामरूपका सर्वथा अवसान हो गया। उपर्युक्त भक्तोंकी अवस्थाके साथ इस ज्ञानीकी अवस्थाका कितना सादृश्य है! दोनों ओर बात एक ही है। नाम-रूपका नाश किये बिना न तो वास्तविक भक्त ही बना जा सकता है और न यथार्थ ज्ञानी ही।

अवश्य ही ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग साधनरूपमें एक नहीं हैं पर दोनोंका लक्ष्य एक ही है। दोनों एक ही स्थानपर पहुँचाते हैं। नदियाँ भिन्न-भिन्न दिशाओंकी ओर बहती हैं परन्तु उनका लक्ष्य एक समुद्र ही होता है। यह सत्य है कि ज्ञानमार्ग कुछ कठिन है, भक्ति और कर्ममार्ग उसकी अपेक्षा कुछ सरल और सुगम हैं। एक ही अधिकारी सभी मार्गोंपर एक साथ नहीं चल सकता। ज्ञान, भक्ति और योग इन तीनों मार्गोंके लिये अधिकारी भी तीन प्रकारके होते हैं, जो जिस पथका अधिकारी होता है उसके लिये वही पथ सहज है। ज्ञान, भक्ति और योगके मार्ग भिन्न-भिन्न हैं परन्तु इनका लक्ष्य भिन्न नहीं है। किसी भी मार्गसे जानेवालेको अन्तमें प्राप्त होता है वही ज्ञान, प्रेम या योग ही। ये तीनों वास्तवमें एक ही साध्य वस्तुके भिन्न-भिन्न नाम हैं। इनको पानेके साधन तीन प्रकारके हैं जिनमें ज्ञानका साधन कुछ कठिन है। कारण, हमलोगोंका चित्त साधारणतः दुर्बल और रज-तमसे भरा हुआ है। हमारा चित्त निरन्तर वासना और तमोमय विक्षेपोंका लीलाक्षेत्र बन रहा है। ऐसे चित्तको लेकर ज्ञान-पथका अवलम्बन करना प्रायः फलदायक नहीं होता। ऐसे लोगोंके लिये ज्ञानमार्गपर चलना असाध्य समझना चाहिये। कर्मयोगके द्वारा चित्तके कुछ निर्मल होनेपर, उसमें भक्तिका सञ्चार होता है। भक्तिके आवेशसे चित्तके शुद्ध और कोमल होनेपर उसमें विवेक और वैराग्य उत्पन्न होता है, तब कहीं ज्ञानका प्रादुर्भाव होता है।

ज्ञान और प्रेम कोई भिन्न वस्तु नहीं है। किसी भी एक मार्गका अवलम्बन करो, लक्ष्यस्थलपर पहुँचते ही इस बातको

तुरन्त समझ सकोगे कि जिसको 'अपरोक्ष ज्ञान' या आत्मदर्शन कहते हैं, सचमुच उसीका नाम 'प्रेम' है। भक्ति और ज्ञान केवल शब्दान्तर हैं। जो लोग इन दोनों ही साधनोंको कठिन समझते हैं उनको इनकी प्राप्ति बड़ी कठिन है। वास्तवमें सहज और कठिन-का झगड़ा भी केवल एक विडम्बना है। न तो कोई-सा मार्ग सहज है और न कोई-सा मार्ग सर्वथा कठिन हीं। प्रेम और ज्ञानमें वस्तुतः कोई भेद न होनेपर भी भावमें किञ्चित् अन्तर है। भगवान् अनन्त और असीम होते हुए भी नित्य सुन्दर और प्राणाराम हैं। इस बातको हम दो वस्तुओंकी सहायतासे समझ सकते हैं। एक अनन्त महासमुद्र है और दूसरा सीमाहीन महाकाश। दोनों ही अनन्तको बतलाते हैं, दोनों ही सीमाहीन हैं, इन्द्रिय-ज्ञानसे उपलब्ध नहीं हैं, परन्तु दोनोंके भाव दो तरहके हैं। एक तो असीमके आनन्दमें इतना प्रफुल्लित हो रहा है मानो उसको किसी एक अव्यक्त प्रेमने व्याकुल कर रक्खा हो। परन्तु दूसरा इतना स्तब्ध और गम्भीर है मानो कुछ पाकर अपने ही आपमें निमग्न हो रहा है, न मालूम किस अनोखे आश्चर्यसे उसका चित्त उस असीममें अपनेको खोकर मौन धारण किये हुए है। इधर यह मूक, मौन, गम्भीर और शान्त महिमा तथा उधर वह आनन्दका मर्यादा भङ्ग करनेवाला असीम चाञ्चल्य। वास्तवमें ये एक ही वस्तुके दो भिन्न-भिन्न प्रकाश हैं।

असल बात अभी बाकी है। मैंने कहा था कि ज्ञान ही प्रेम है, अब समझो कि ज्ञान कैसे प्रेम बनता है। समझो, तुम सत्य

और सत्यवादीको बहुत पसंद करते हो, तुमने लोगोंसे सुनकर और स्वयं भी कुछ परीक्षा करके यह जान लिया कि विश्वनाथ बड़ा सत्यवादी है, तब स्वतः ही उसके प्रति तुम्हारा आकर्षण होगा। फिर समझो, 'हरि' परोपकार और दयाको ही मनुष्यका सर्वप्रधान गुण समझता है, अब यदि 'हरि' ने सुना कि अमुक मनुष्य बड़ा दयालु है, बड़ा करुणामय है, दूसरेके लिये अपने हजार नुकसान सहनेको तैयार है, लोकसेवामें उसे जितना सुख मिलता है उतना धन-सम्पत्तिके भोगविलासमें नहीं मिलता, दूसरेका उपकार करनेके लिये वह अपना सर्वस्व अर्पण करनेको प्रस्तुत है। यों सुनने और जाननेपर ऐसे सदाशय महात्माके प्रति हरिकी भक्ति हुए बिना कभी नहीं रह सकती। और सोचो, गोपाल विज्ञान और तत्त्वालोचनाका पक्षपाती है सुतराम् श्रेष्ठ वैज्ञानिक और दार्शनिकोंके प्रति उसकी श्रद्धा होनी सर्वथा स्वाभाविक है। परन्तु विचारकर देखो तुमने यदि विश्वनाथके सत्यवादी होनेकी बात केवल कानोंसे ही सुनी, कभी उसे देखा नहीं—ऐसी अवस्थामें यदि वह तुम्हारे सामनेसे जाता है तो तुम कैसे जान सकते हो कि यही विश्वनाथ है? इस अवस्थामें क्या तुम्हारे सामनेसे जानेवाले विश्वनाथके प्रति तुम्हारा आकर्षण होता है? मनुष्य वही है, परन्तु परिचय न होनेके कारण आकर्षण नहीं होता। इसी प्रकार परिचय हुए बिना, जाने बिना प्रत्यक्ष प्रेम नहीं हो सकता। देखे बिना भी किसीके गुणोंको सुनकर हम जो उसके प्रति श्रद्धा करते हैं सो केवल उसके गुणोंका आदर है, उसके गुणोंका हमें प्रत्यक्ष

परिचय नहीं है, किसी दूसरे जाननेवालेसे हमने केवल सुन लिया है। यही तो परोक्षज्ञान है। इससे यह सिद्ध हो गया कि प्रेम करनेके लिये पहले परिचयकी आवश्यकता होती है। फिर 'तद्गुण श्रुतिमात्रेण' गुणोंके सुनते ही उसके प्रति जो आकर्षण होता है उसका कारण उसमें अगाध गुणोंका रहना है। गुणहीनका कोई आदर नहीं करता। पत्थरसे किसीका प्रेम नहीं होता। भगवान् जो सर्व गुणाधार हैं, सौन्दर्य और माधुर्यके नित्य नूतन निर्झर हैं, 'सुहृदं सर्वभूतानाम्' हैं इस बातको हमने सुना है, जाना है तभी तो हम उनको चाहते हैं। ज्ञानका काम है जानना, वह जब हो चुकता है तब प्रेम आता है। लोग अपना सर्वस्व त्यागकर क्यों उसके लिये पागल हो जाते हैं? इसीलिये कि उसके अन्दर कुछ ऐसी वस्तु है जो मन, प्राण और इन्द्रियोंको मोहित कर देती है, जिसे देख-सुनकर कोई ऐसा नहीं, जिसके मनमें उसे प्राप्त करनेके लिये अत्यन्त आकर्षण न होता हो। जगत्के समस्त रूप-रस-गन्ध उसीके माधुर्यको स्पर्श करके मधुमय बन जाते हैं—इसीलिये तो उसे पानेके लिये इतना प्रयत्न है। परमात्मा ज्ञानस्वरूप है, प्रकाशस्वरूप है, बलविधाता है और शान्तिदाता है, उसमें कुछ भी गड़बड़ नहीं, सब कुछ स्पष्ट है इसीलिये तो उसे प्राप्त करनेके लिये लोगोंमें इतनी व्याकुलता है। अतएव भगवान्के प्रति जो प्रेम है उसमें ज्ञानकी आवश्यकता है। परमात्मा यदि प्रकाशरूप न होकर घोर अन्धकारमें कारिखसे मुँह पोतकर गुपचुप एक कोनेमें बैठ रहते तो उनको ढूँढ़नेके लिये जीवनभर अनेक प्रकारके कष्ट कौन उठाता? और कौन उन्हें प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छासे इतना

छटपटाकर युग-युगान्तरोंमें जन्म-मृत्युके चर्खेपर चढ़ा घूमता? वह स्वयं-प्रकाश है इसीलिये तो अन्धकारके भयसे दौड़कर उसके समीप जानेकी आवश्यकता है। हम जो अन्धकारसे इतना डरते हैं इसके भी मूलमें ज्ञान है। कारण, हम इस बातको जानते हैं कि अन्धकार केवल हमारी आँखोंकी दृष्टिको ही हरण नहीं करता परन्तु उसमें किसी वस्तुसे टकराकर हमारे मस्तकमें चोट भी लग सकती है। इसीलिये तो हम प्रकाशको इतना चाहते हैं। अन्धकारमें भटकना किसीको भी अच्छा नहीं लगता। प्रकाश ही हमारा प्रिय बन्धु है, प्रकाश ही हमारे जीवन-पथका अवलम्बन है। इसीलिये हम प्रकाशरूप ज्ञानके पक्षपाती और अन्धकारमय अज्ञानके विरोधी हैं। परन्तु ज्ञान भक्तिका विरोधी नहीं है। जो ज्ञानको भक्तिका विरोधी समझते हैं वे भ्रान्त हैं। भगवत्-प्रेम चाहे जितना अहैतुक हो परन्तु भक्तके अन्तरमें भगवान्‌का एक स्पष्ट ज्ञान नित्य प्रकाशित रहता है। इसीलिये तो भक्त, भगवान्‌को अपना सर्वस्व समझता है। वह इस बातको जानता है कि भगवान् ही भक्तका एक परम आश्रय है। प्रेमके मूलमें इतना स्पष्ट और सहज ज्ञान है तभी तो भक्त भगवान्‌के प्रति विगतसन्देह है। वृषभानुनन्दिनी श्रीमती राधा केवल शून्यकी ओर ताककर किसी कल्पित श्यामसुन्दरके लिये ही रो-रोकर व्याकुल हुई भटकती थीं, ऐसी बात नहीं है। पहले सखियोंके मुँहसे उसका गुण सुना, फिर स्वयं उसने वंशीकी ध्वनि सुनी और इसके बाद छिपकर उस भुवन-मनमोहनके रूपको निरखा तब वह श्रीकृष्णके लिये पागलिनी हुई। सुतराम् देखा जाता है कि ज्ञान हुए बिना प्रेम

नहीं होता, इसी तरह असली ज्ञान भी प्रेमके विना प्रकट नहीं होता। एक मनुष्यको ऊपर-ऊपरसे हम जानते हैं परन्तु जबतक उसके साथ प्रीति नहीं होती, जबतक हम श्रद्धाके साथ प्रेमभावसे उसे नहीं देखते तबतक उसका पूरा परिचय हमें नहीं मिल सकता! एक मनुष्य कहता है कि, 'गोपाल अच्छा आदमी नहीं है' वह क्यों अच्छा नहीं है? एक दूसरा मनुष्य तो उसे बहुत अच्छा बतलाता है। इसका कारण यही है कि पहलेकी अपेक्षा दूसरेका गोपालके साथ प्रेम अधिक है इसलिये उसके गुणोंका जितना परिचय उसको है इतना पहलेको नहीं है। उससे यह सिद्ध हो गया कि प्रेमके विना ज्ञान नहीं होता! ज्ञान और भक्ति एक दूसरेके निकट-ही-निकट खेला करते हैं।

ज्ञान विहंगम उड़ उड़ करके जाता है जिस पथकी ओर।
भक्ति विहंगिनि भी सत्वर ही उड़ जाती उस पथकी ओर॥

यदि यही बात है तो फिर भगवान् चैतन्यदेवने ज्ञानमिश्रा भक्तिकी अपेक्षा ज्ञानवर्जिता भक्तिकी अधिक प्रशंसा क्यों की? ठीक ही तो किया। उन्होंने ज्ञानवर्जित शुद्ध भक्तिकी प्रशंसा की है, इसका अर्थ यह नहीं है कि उन्होंने अज्ञानयुक्त भक्तिकी उपासना बतला दी है। इसका तात्पर्य यही है कि जबतक ज्ञेय वस्तुका ज्ञान नहीं होता, तभीतक ज्ञानका प्रयोजन होता है। परन्तु ज्ञानके द्वारा ज्ञेयकी प्राप्ति होते ही, फिर ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती। इसीलिये जो पुरुष प्रेममय परमात्माको जानकर उसके प्रेमिक बन चुके हैं उन्हें ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है

परन्तु जिनके अन्तःकरणमें विवेक-वैराग्यकी उत्पत्ति न होनेके कारण प्रेमका प्रादुर्भाव नहीं हुआ है उनको भी ज्ञानकी आलोचना नहीं करनी चाहिये, यह बात ठीक नहीं। हमलोग जो नामकी दुहाई देते हुए कहते हैं 'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्'— 'हरिनामके सिवा और कोई उपाय नहीं है' यह बात कैसे कही जाती है? यह कोई मनगढ़न्त या अनुमानके शब्द नहीं हैं। किसी महापुरुषने इस सत्यको जाना था, इसीलिये उन्होंने इस सत्य तत्त्वका प्रचार किया। भगवान् शङ्कराचार्य आदि दार्शनिकोंने ज्ञानको ज्ञेयसे अभिन्न बतलाया है। इसलिये उनके मतसे ज्ञानकी प्राप्तिमें ही ज्ञेयकी प्राप्ति है। गीतामें कहा है—

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥
कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्॥

(२।५०-५१)

श्रुति कहती है उस आत्माको '....विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।' दूसरे स्थानपर कहा है 'अथ यः एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात् प्रैति स ब्राह्मणः। भूमैव सुखम्।' अवश्य ही यह ज्ञान केवल शास्त्रज्ञान नहीं है, यह है 'अपरोक्ष ज्ञान'।

यही सत्य ज्ञान है। जो लोग ज्ञानको चरम लक्ष्य या परम साध्य नहीं मानते उनका भी काम ज्ञानके बिना नहीं चल सकता। यहाँ यही बात समझायी गयी है। जैसे अन्धकारमें किसी पदार्थको ढूँढ़नेके लिये दीपककी आवश्यकता होती है, पदार्थके मिल

जानेपर दीपक बुझा दिया जाता है तो भी कोई आपत्ति नहीं होती, इसी प्रकार भगवत्प्रेमकी प्राप्तिके लिये ज्ञान-दीपककी आवश्यकता है। इस दीपकमें यह विशेषता है कि यह एक बार जल उठनेपर फिर कभी बुझता नहीं। इस प्रकार जब सभी कामोंमें ज्ञानकी आवश्यकता होती है तब इस ज्ञानका अनुसन्धान करनेकी चेष्टा पहलेसे करना ही बुद्धिमानी है।

एक बार ज्ञानकी सहायतासे परमात्माको प्राप्त कर लो फिर चाहे ज्ञानको छोड़ देना। परन्तु इससे पहले नहीं। वस्तुको पानेपर ज्ञानको छोड़नेकी बात इसीलिये कही जाती है कि वह वस्तु स्वयं ही प्रकाशमय या ज्ञानमय है। उसको प्राप्त कर लेनेके बाद ज्ञानकी आवश्यकता नहीं रहती। यह कहनेमें कोई आपत्ति नहीं। कारण, ज्ञान उससे भिन्न नहीं है। न चाहनेपर भी वह तो रहेगा ही! ज्ञेयके साथ इस ज्ञानका ऐसा सम्बन्ध है कि वह कभी छूट ही नहीं सकता, 'अभिन्न' ही कहना चाहिये! भागवतमें ज्ञानको ईश्वरस्वरूप कहा है।

मुक्तात्मभिः स्वहृदये परिभाविताय
ज्ञानात्मने भगवते नम ईश्वराय।

शास्त्रोंमें अवश्य ही ऐसा कहा गया है कि 'ज्ञानेन ज्ञेयमालोक्य ज्ञानं पश्चात् परित्यजेत्' परन्तु इस ज्ञानको सत्य ज्ञान नहीं समझना चाहिये। यहाँ परोक्षज्ञान या साधनज्ञान ही विवक्षित है जो कि ज्ञानका एक आभासमात्र है। लौकिक विद्या, विचार, कल्पनाशक्ति, युक्ति और हेतुवाद आदि इसीके अन्तर्गत हैं। ज्ञेय

वस्तुके प्राप्त हो जानेपर सचमुच ही इन वस्तुओंकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जबतक सूर्यके दर्शन नहीं होते तभीतक दीपकके प्रकाशसे काम चलाना पड़ता है। सूर्योदयके पश्चात् दीपककी आवश्यकता नहीं रहती। लौकिक ज्ञान और युक्तियोंकी तो बात ही कौन-सी है, साधन ज्ञानकी उपासनाका भी यहींपर अन्त हो जाता है। इसीलिये हमारे यहाँ कहावत है कि 'जिस दिन गुरु-दर्शन हों उस दिन भजन-साधनकी आवश्यकता नहीं क्योंकि जिसके लिये साधन किया जाता है वही स्वयं उपस्थित हैं।'

सूर्य और दीपकमें जैसे थोड़ी समानता और बड़ा भेद है उसी प्रकार लौकिक और सत्य ज्ञानमें भी थोड़ी-सी समानता और बड़ा भेद है। सूर्य स्वयं प्रकाशस्वरूप है, दीपक जलाकर उसे नहीं देखा जाता। जबतक सूर्य उदय नहीं होता तभीतक दीपककी सार्थकता है, इसी प्रकार 'यावत्तत्त्वं न विन्दति' जबतक तत्त्वज्ञान न हो तभीतक शास्त्रज्ञान, विचार, विवेक और वैराग्यादि साधनोंकी आवश्यकता है। एक बार उसे पाते ही सारे कार्य शेष हो जाते हैं—

'तस्य कार्यं न विद्यते'

सूर्य जैसे समस्त जगत्को प्रकाशित करता हुआ स्वयं अपनेको भी प्रकाशित करता है इसी प्रकार भगवान् अपने ज्ञानरूपी प्रकाशसे रहस्ययुक्त जगत्के सारे व्यवहारोंको प्रकाशित करते हुए स्वयं अपने यथार्थ स्वरूपको भी बुद्धिके गोचर करा देते हैं। जहाँपर सूर्यका प्रकाश है वहींपर दीपकके प्रयोजनका सर्वथा

अभाव है। इसी प्रकार जहाँ ब्रह्म स्वयं प्रकाशित है वहाँपर तत्त्वालोचना या ब्रह्म-निरूपणकी कोई आवश्यकता नहीं। जो उसको अपने नेत्रोंके सामने देख पाते हैं—जिनकी हृदय-गुहामें उसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है उनको तर्क-वितर्कके कूट जालसे क्या प्रयोजन ? वे तो उसकी स्वरूप-सत्तामें ही सर्वथा निमग्न हैं! 'ब्रह्म क्या है?' इस प्रश्नका उनके लिये अवसर ही कहाँ है? वे तो 'वस्तु' को पाकर विगतमोह हैं और 'परं दृक्षा' होनेसे विगतकाम हैं; वे और क्या चाहेंगे? जिससे भगवान्की स्वरूपसत्ताका बोध होता है, जिससे देहका सारा अभिमान नष्ट होकर साधककी परमात्मामें अचल स्थिति होती है, जिसके द्वारा उसके साथ निरन्तर मिलन होनेसे 'त्वम्' के साथ 'अहम्' का अखण्ड अभेद प्रमाणित हो जाता है, जिससे वह अपना निज-जन परम सुहृद् परमात्मारूपसे उपलब्ध होता है, जिस भावमें 'उसको' छोड़कर 'मैं' कुछ भी नहीं रह जाता और जिस भावमें तन्मय होनेसे यह समस्त विश्व वासुदेवात्मक प्रतीत होता है उसीका नाम यथार्थ ज्ञान है, यही वास्तवमें 'प्रेम' का नामान्तर है। भगवान्के साथ अखण्ड मिलनयोगको ही भक्तगण प्रेमके नामसे पुकारा करते हैं। इसी प्रेमकी साधनाका नाम भक्ति है। भागवतमें कहा है, इस भक्तियोगका जब भगवान् वासुदेवके प्रति प्रयोग किया जाता है तब शीघ्र ही ज्ञान और वैराग्य उदय हो जाते हैं—

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यत्तदहैतुकम् ॥
(श्रीमद्भा० १।२।७)

अब समझमें आया होगा कि ज्ञान कैसे होता है। भक्तिका ही फल ज्ञान है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि भक्तिसे प्रेम होता है अतएव 'ज्ञान' और 'प्रेम' एक ही पदार्थ हैं। पूर्वोक्त वैराग्य भी परवैराग्य है। जिसे भगवान् पतञ्जलिने 'गुणवैतृष्ण्यं वैराग्यम्' कहा है। भक्तशिरोमणि महामति श्रीनारदजी महाराजकी आत्म-कथामें भी इसी बातका संकेत है—

तस्मिंस्तदा लब्धरुचेर्महामुने
प्रियश्रवस्यस्खलिता मतिर्मम ।
ययाहमेतत् सदसत्स्वमायया
पश्ये मयि ब्रह्मणि कल्पितं परे ॥
(श्रीमद्भा० १।५।२७)

'हे महामुने ! पहले मेरी परमात्मामें रुचि हुई जिससे उसमें दृढ़ भक्ति हो गयी और उससे मैं देखने लगा कि मुझ परब्रह्ममें यह सब सत्-असत् प्रपञ्च मायासे कल्पित है।' इसी मतिके उत्पन्न होनेपर प्रपञ्चातीत ब्रह्मके स्वरूपकी पहचान होती है। जिस प्रकार नदी स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ती है उसी प्रकार जब चित्त अपने आपको भुलाकर नदीके स्रोतकी तरह स्वाभाविक ही भगवत्-समुद्रकी ओर दौड़ने लगता है, किसीके कहनेसे नहीं, किसी इष्टकी प्राप्तिके लिये नहीं, किसी कामनाके लिये नहीं, परन्तु इसलिये कि उससे उस भगवत्-समुद्रकी ओर दौड़े बिना रहा नहीं जाता। बस, इसी अवस्थाका नाम निश्चल भक्तियोग है।

'मेरी बातोंको ध्यानसे सुना कि नहीं ?'

द्वितीय—सुना तो अवश्य ! परन्तु—

प्रथम—परन्तु क्या ?

द्वितीय—प्रेम और ज्ञान तो एक ही वस्तु है, परन्तु भक्ति, ज्ञान और कर्म ये तीनों मार्ग तो बहुत प्रसिद्ध हैं ।

प्रथम—मार्ग तो तीनों ही हैं परन्तु इन तीनोंका गम्य स्थान एक ही है । कल्याण या मोक्ष ही तीनोंका लक्ष्य है । इसीसे इन तीनोंको 'योग' कहा है ।

योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २० । ६)

भगवान् कहते हैं कि ज्ञान, कर्म और भक्ति—ये तीन ही मोक्षके पथ हैं, इनके अतिरिक्त और कोई पथ नहीं । यदि कहो कि एक ही वस्तुके लिये पथ तीन क्यों? इसका कारण है, जगत्में हम सभी समान अधिकारी नहीं हैं । परन्तु अधिकारी समान न होनेपर भी मोक्षकी इच्छा तो सभीको होती है । अस्तु जिसके लिये जिस मार्गमें सुविधा हो वह उसी मार्गसे जा सकता है । आर्य ऋषियोंने इसीलिये मोक्षके ये तीन सनातन मार्ग बतलाये हैं । अधिकारके सम्बन्धमें भगवान्‌ने कहा है—

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु ।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम् ॥

(श्रीमद्भा० ११ । २० । ७)

कर्मफलसे विरक्त त्यागी या संन्यासियोंके लिये ज्ञानयोग तथा कामी और फल चाहनेवाले लोगोंके लिये कर्मयोग कल्याणका हेतु है ।

इसीलिये राज्य-सुखाभिलाषी अर्जुनको भगवान्‌ने कहा 'कर्मण्येवाधिकारस्ते'—तुम्हारा कर्ममें अधिकार है परन्तु कर्मी लोग यह न समझ लें कि इससे हमारी मुक्ति किसी कालमें नहीं होगी। इसीसे भगवान्‌ने कहा 'मा भैः' भय नहीं है, यह कर्म ही तुम्हें मुक्ति प्रदान करेगा। 'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय' योगस्थ होकर याने ईश्वरार्पितचित्तसे कर्म करो। 'मा कर्मफलहेतुर्भूः' फलके लिये ही कर्म न करो एवं 'मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि' तथा संन्यासियोंकी तरह कर्मोंके त्यागमें भी तुम्हारी प्रवृत्ति न हो तब कर्म कैसे करना चाहिये—

> ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
> लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥
>
> (गीता ५।१०)

कर्मोंको परमेश्वरमें अर्पण करके और कर्मोंके फलकी आसक्तिको त्यागकर जो कर्म करता है, वह पापोंसे लिप्त नहीं होता। कैसे? जैसे कमलके पत्र जलमें रहते हुए भी जलसे लिप्त नहीं होते। इसी प्रकार कर्मयोगी भी कर्म करता हुआ कर्मफलसे नहीं बँधता। इसीलिये तो भगवान्‌ने कहा है कि 'योगः कर्मसु कौशलम्' कर्ममें कुशलता ही योग है। इस प्रकारके कर्मयोगी बननेका उपाय श्रीगीताजीमें बतलाया गया है। श्रीमद्भगवद्गीताको श्रद्धाके साथ पढ़कर मनन करनेसे यह सब बातें समझमें आ सकती हैं।

द्वितीय—फिर भक्तियोग किन लोगोंके लिये है?

प्रथम—

यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः॥
(श्रीमद्भा० ११।२०।८)

भगवान् कहते हैं—जो पुरुष मेरी कथामें श्रद्धा रखता है, पर न वैराग्यसम्पन्न है और न अत्यन्त आसक्त है उसके लिये भक्तियोग सिद्धिदायक होता है। जबतक वैराग्य या भगवत्कथा सुननेमें श्रद्धा उत्पन्न न हो तबतक कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये—

तावत्कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥
(श्रीमद्भा० ११।२०।९)

द्वितीय—तब हमलोगोंके लिये तो कर्मयोग ही कल्याणका उपाय है?

प्रथम—इसमें क्या सन्देह है? ज्ञान या भक्ति यों ही नहीं प्राप्त हो जाती।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।

कर्मका अनुष्ठान किये विना कभी नैष्कर्म्य या ज्ञान नहीं मिलता। कर्मके द्वारा ईश्वरमें चित्त अर्पण करनेका अभ्यास करते-करते जब अन्तःकरणकी शुद्धि होती है तब उस विशुद्ध अन्तःकरणमें भक्ति उत्पन्न होती है याने भगवान्‌में आसक्ति होती है और विषयोंमें दोषदृष्टिसे वैराग्य होता है। इसके बाद ज्ञान होता है और उस ज्ञानसे मुक्ति होती है।

श्रीभगवान् और उनकी प्राप्तिके उपाय

हम अल्पबुद्धि प्राणी ईश्वरके अस्तित्वके सम्बन्धमें क्या प्रमाण पेश करें ? हम-जैसे इन्द्रियाराम मनुष्योंकी बातों और युक्तियोंका मूल्य ही क्या है ? और लौकिक युक्तियोंद्वारा आजतक उनको सिद्ध ही कौन कर सका है ? ध्याननिष्ठ ज्ञानी और नित्य आत्मसमर्पित भक्तके अचल हृदयासनपर वे सदा ही विराजित रहते हैं; और हम क्या प्रमाण दिखावें ?

हमलोगोंके द्वारा भगवान्‌के अस्तित्वमें प्रमाण प्रदर्शित करना एक प्रकारसे पागलका प्रलाप ही समझना चाहिये । सूर्यको देखने-

के लिये जैसे दीपककी आवश्यकता नहीं होती, वैसे ही ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेमें भी अन्य प्रमाणोंकी आवश्यकता नहीं है। भक्त और ज्ञानियोंकी स्वानुभूति और सम्पूर्ण ज्ञानोंकी खान, साक्षात् ईश्वरवाणी भगवती श्रुति ही उनके अस्तित्वमें सर्वोत्तम और प्रवल प्रमाण है। जो श्रुति-प्रमाणको नहीं मानते, उनसे हमारा कुछ भी कहना नहीं है। मैं यथासाध्य श्रुति-प्रमाण, कुछ लौकिक युक्ति और यत्किञ्चित् अपने अनुभवके आधारपर ही यह निवन्ध लिखना चाहता हूँ। आशा है, भगवद्भक्त महापुरुष मेरी इस धृष्टतापर क्षमा करेंगे।

भगवान्में सभी लोग विश्वास कर सकते हैं, या करेंगे, यह किसी प्रकार भी सम्भव नहीं। महर्षि नारदने अपने भक्ति-सूत्र (२) में कहा है—'*सा कस्मै परमप्रेमरूपा।*'

यहाँ 'किम्' शब्दका प्रयोग करके महापुरुष समझाते हैं कि जो 'किम्' शब्दवाच्य है, हमें उन्हींसे प्रेम करना होगा। इस 'किम्' शब्दका अर्थ यह है भगवान् सदा ही प्रश्नार्ह हैं। अर्थात् जिनके सम्बन्धमें कितने लोग कितनी वातें कहते हैं, आजतक कितने प्रश्न हो चुके हैं और कितने बुद्धिमान् पुरुषोंने उनके कितने प्रकारसे उत्तम-उत्तम उत्तर दिये हैं। तथापि मानव-हृदयके इस पुरातन प्रश्नके विषयमें शंकाहीन, सन्देहहीन, सवके लिये ग्रहणीय, सबको सन्तोषप्रद सदुत्तर अभीतक कोई भी नहीं दे सका। अतएव जब-जब इस प्रश्नकी मीमांसा हुई, तव-ही-तव कुछ समय-के वाद पुनः सन्देहपुञ्ज इकट्ठा हो गया और वही प्रश्न कुछ नवीन रूपमें फिर सामने आ गया। नचिकेताको यमराजने कहा था—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा
न हि सुज्ञेयमणुरेष धर्मः ।
(कठ० १ । १ । २१)

पूर्वमें देवताओंको भी आत्माके (ईश्वरके) अस्तित्वमें सन्देह हो गया था । कारण, यह विषय 'न सुविज्ञेयम्' है । सहज ही जाननेमें नहीं आता । क्योंकि जगत्को धारण करनेवाला यह आत्मा 'अणुः' सूक्ष्म चिन्तनसे भी अगम्य है ।

इसीसे कहा जाता है, सब लोग भगवान्में विश्वास नहीं कर सकते । बहुतोंको तो उसका पता ही नहीं होता । भगवान्में विश्वास करनेके लिये कोई सहज, सरल मार्ग भी समझमें नहीं आता । हमलोगोंका जो उनपर यत्किञ्चित् विश्वास है सो केवल उनकी दयासे ही है ।

पुत्र अपनी मातापर सहज विश्वास करता है । वह किसीसे कुछ सुनकर या युक्तियोंका संग्रह करके ऐसा करता हो, सो बात नहीं है । जननीका अनिर्वचनीय स्नेह शिशुके हृदयको न जाने क्या समझा देता है जिसको वह बतला नहीं सकता । परन्तु अपने प्राणोंके अन्दर वह किसी अव्यक्त आकर्षणका अनुभव करता है, उसीकी प्रेरणासे वह माताको 'माँ, माँ' कहकर पुकारता है और असीम विश्वासके साथ उछलकर माँकी गोदमें जा बैठता है । इसी प्रकार युक्तियोंके सहारे कोई भगवान्पर कभी न तो विश्वास कर सकता है और न उनमें प्रेम ही कर सकता है ।

भगवान्की विश्वविमोहिनी शक्ति या बाँसुरी, भक्तके प्राणोंमें

न मालूम क्या सङ्गीत सुनाती रहती है। उसीसे भक्त सदाके लिये उनके चरण-रजका भिखारी बन जाता है। फिर उसको किसी भी युक्तिद्वारा उस मार्गसे हटाया नहीं जा सकता। प्रभुके आकर्षणमें ऐसा ही अपार बल है। यदि यह कहा जाय कि भगवान् तो सर्वान्तर्यामी, सर्वव्यापी और सबके आत्मा हैं फिर वे चुन-चुनकर केवल अपने भक्तोंको ही बाँसुरीका मधुर स्वर क्यों सुनाते हैं? दूसरे उसे क्यों नहीं सुन सकते? इसके उत्तरमें भगवान् गीतामें स्वयं ही कहते हैं—

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्॥
(९। २९)

भक्तको ही मोक्षकी प्राप्ति होती है, अभक्तको नहीं, इससे क्या भगवान्में वैषम्य-दोष आता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'मैं सब भूतोंमें समान हूँ, मेरा कोई शत्रु-मित्र नहीं है, किन्तु जो मुझे भक्तिपूर्वक भजते हैं वे मुझमें रहते हैं और मैं उनमें रहता हूँ।'

जैसे अग्निके समीप रहनेवाले पुरुषका अन्धकार और जाड़ा अग्निकी स्वाभाविक शक्तिसे ही दूर हो जाता है, उसी प्रकार पापी-पुण्यात्मा जो कोई भी भगवान्को भजता है, वही उनकी महिमाको जानता है और वही शान्ति प्राप्त करता है।

पुत्र जैसे जननीपर सहज ही विश्वास करता है, पत्नी जैसे अपने प्रियतम पतिसे स्वाभाविक प्रेम करती है, कुत्ता जैसे अपने

अन्नदाता (स्वामीपर) विश्वास करता है, इनसे कहीं अधिक भक्त अपने भगवान्पर प्रेम और विश्वास करता है ।

जो निराकार, निर्विकार और न मालूम क्या-क्या हैं; जिनको खोजते-खोजते बुद्धि थक जाती है, युग-युगान्तरोंसे कितने लोगोंके मनोंने उनका कितना अनुसन्धान किया, किन्तु कोई उनकी थाह न पा सका—ऐसी वह अचिन्त्य वस्तु भी मिल सकती है, उस अधर तत्त्वका भी पता लग सकता है । किन्तु कहाँ ?

'हरिके कोमल पद-कमल हरि-जन-हियमें पैठि ।'

भक्तको देखकर ही अभक्त, अज्ञानीका भगवान्में विश्वास होता है मानो उसे कुछ प्रत्यक्ष अनुभव-सा होने लगता है। मानो कोई अचिन्त्य वस्तु उसकी नजरोंके सामने आ जाती है । भगवत्-प्रेममें मतवाले श्रीमान् नित्यानन्द प्रभुको देखकर जन्मके पाप-कलुषित चित्तवाले महापातकी जगाईकी पापवृत्ति शान्त हो गयी । सदाके अभ्यस्त विषयोंसे वह मानो सर्वथा दूर हट गया । यही साधुसंगकी महिमा है । फिर उसने जब भक्तावतार श्रीचैतन्यचन्द्र-के प्रेमपूरित नेत्रोंकी ओर देखा, जब श्रीचैतन्यदेवके शरीरसे स्पर्श होकर आयी हुई वायुके झकोरे जगाई-मधाईके शरीरमें लगे, तब तुरन्त ही एक वैद्युतिक क्रिया-सी हो गयी । दोनों भाई अनास्वादित अपूर्व भगवत्-प्रेममें सर्वथा निमग्न हो गये। उनकी कुप्रवृत्ति सदाके लिये शान्त हो गयी । जो भूलकर भी कभी भगवान्को याद नहीं करते थे, वे ही भगवत्की प्राप्तिके लिये अकुला उठे । भगवद्भक्तोंके संगकी यही तो महिमा है ।

सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते मतिः ॥
(श्रीमद्भागवत १० । ५१ । ५४)

भक्त भी अपने बलपर भगवान्‌को नहीं पकड़ सकता। इस बलको त्यागनेकी तो भगवान्‌ने आज्ञा दी है। भगवान् स्वयं भक्तके समीप आकर उसकी भुजाओंमें बँध जाते हैं। भगवान्‌की शरण ग्रहण करने और उनको भजनेकी यही महिमा है। जो भगवान्‌में विश्वास नहीं करता, वह उनके भजनमें भी कभी नहीं लग सकता। भजन बिना केवल बुद्धिवादसे कोई भी भगवान्‌की अपार महिमाका पता नहीं पा सकता। भगवान्‌का महत्त्व समझे बिना, उनके चरणोंमें अपनेको सब प्रकारसे अर्पण किये बिना, मनुष्य-जन्म ही विफल हो जाता है। श्रुति कहती है—

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः ।
(केन० २ । ५)

इस लोकमें यदि उस सत्यस्वरूप परमात्माका पता लग सके अथवा उनको जाना जा सके तभी 'सत्यमस्ति'—जीवनकी सफलता होती है। इस लोकमें यदि उन्हें न जाना जा सका तो 'महती विनष्टिः'—महान् अनिष्ट हो गया—महा विनाश हो गया! क्योंकि जिस आनन्दकी खोजमें समस्त जीवसमुदाय व्याकुल हो रहे हैं, जिस आनन्दकी प्राप्तिके लिये लोग सैकड़ों-हजारों अनर्थ करनेमें आनाकानी नहीं करते तथापि किसी प्रकार भी उस परमानन्दस्वरूपका सन्धान नहीं पाते। यदि मनुष्यको किसी

उपायसे उसका पता लग जाय, यदि वह उस परमानन्दके अन्तहीन, अनादि निर्झरके निकट पहुँच जाय तो फिर उसके आनन्दकी सीमा नहीं रहती। वह जन्म-मरण, शोक-रोग, शीत-उष्ण और अभावके नित्य-निरन्तरके सन्तापोंसे—समस्त दुःखोंसे सदाके लिये मुक्त हो जाता है। श्रुति कहती है—

भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः
प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥
(केन० २।५)

फिर वे परम भक्त धीर ज्ञानीजन सब भूतोंमें उन परमात्माकी उपलब्धि कर सकते हैं। इस प्रकार अनुभव करनेवाले धीर पुरुष ही इस लोकसे गमन करके ब्रह्मपदको प्राप्त करते हैं।

भक्त जैसे भगवान्के लिये पागल हो जाते हैं, भगवान् भी उसी प्रकार अपनी स्वाभाविक भक्त-वत्सलतासे नहीं चूकते। माता यशोदा बड़ी चेष्टा करके भी जब अपने गोपाल कृष्णको न पकड़ सकीं, तब जननीको परिश्रमसे श्रान्त और क्लान्त देखकर श्यामसुन्दर स्वयं ही आकर उसकी डोरीमें बँध गये! धन्य है!

जिन बाँधे सुर-असुर, नाग-नर, प्रबल करमकी डोरी।
सोइ अविछिन्न ब्रह्म जसुमति हठि बाँध्यो सकत न छोरी॥

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड जिनके चरण-कमलोंमें धूलि-कणके सदृश नाचते रहते हैं, वे यदि अपनी इच्छासे न पकड़ावें, तो उन्हें कौन पकड़ सकता है? कातर भक्तके समीप भगवान् स्वयं ही आकर अपनेको पकड़ा देते हैं। भक्त, भक्तिप्रिय माधवको

भगवत्कृपा-लब्ध भक्तिके बलसे ही पकड़ सकते हैं। जिसके पास भक्तिका यह बल नहीं है, वह किस प्रकार भगवान्‌का सान्निध्य प्राप्त कर सकता है? और उनका सान्निध्य प्राप्त हुए बिना वह किस प्रकार उनपर परम विश्वास कर सकता है? अतएव मुझ-जैसे प्राकृत मनुष्य यदि भगवान्‌में विश्वास न कर सकें तो उन लोगों-को उतना दोष नहीं दिया जा सकता।

हमलोगोंमें साधारणभावसे जो यत्किञ्चित् भगवद्विश्वास है उसमें वास्तविक विश्वासकी तो गन्ध भी नहीं है। भगवद्-विश्वास एक अपूर्व वस्तु है। वह अप्राकृत, अमूल्य सम्पदा है। उसके उदय होते ही जीव कृतकृत्य हो जाता है और उसका भवबन्धन टूट जाता है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

(गीता ६। २२)

भक्त प्रह्लादके अंदर उस विश्वासकी कैसी अपूर्व शोभा—कैसी अपूर्व माधुरीका विकास हुआ था? तभी तो उसको समुद्र-गर्भमें निमज्जित होनेमें और अत्युच्च गिरिशिखरसे गिरनेमें तनिक-सा भी भय नहीं लगा। मतवाले हाथीके पैरों-तले कुचलनेकी बात भी उसके मनमें किसी प्रकार जरा-सी भी शंका उत्पन्न न कर सकी। इसका कारण यही था कि प्रह्लाद भगवान्‌के अभय मुखारविन्दका दर्शनकर सदाके लिये भयसे मुक्त हो गया था। दुष्ट हिरण्यकशिपुने जब प्रह्लादको सामनेका स्तम्भ दिखलाकर कहा कि—'क्या तेरा भगवान् इस स्तम्भमें भी है?' प्रह्लादने

अविचलित चित्तसे उत्तर दिया कि—'हाँ, हैं, वे सर्वत्र हैं, इस स्तम्भमें भी निश्चय ही हैं।' यही भक्तके शुद्ध भावसे भरे हुए चित्तका अपूर्व विश्वास है। ऐसा चित्त मिले बिना क्या किसीको भगवान्‌के दर्शन हो सकते हैं? यह युक्ति नहीं है, यह तो भक्तकी प्रत्यक्ष की हुई बात है—*'येन सर्वमिदं ततम्।'*

भगवान् भी शरणागतवत्सल हैं। जो उनकी शरण लेता है, वे उसपर कृपा करते हैं, अथवा वह उनकी नित्य विद्यमान असीम कृपाके स्पर्शका अपने हृदयमें अनुभव करता है। सकाम आर्त, अर्थार्थी भक्तपर भी जब भगवान् कृपा करते हैं; तब जिसकी भक्ति फलकामनासे रहित है, उसका तो कहना ही क्या है?

एकवस्त्रा निःसहाया द्रौपदी सभाके अंदर नंगी किये जानेके भयानक भय और लज्जासे अभिभूत होकर जब कातरकण्ठसे प्राण भरकर भगवान्‌को पुकारने लगी तब भगवान् क्या उसकी पुकारको अनसुनी करके वहाँ आये बिना क्षणभर भी रह सके? आश्चर्यमयी घटना हो गयी, भगवान्‌का वहाँपर वस्त्रावतार हो गया। सभाके सभी लोग स्तम्भित और चकित हो गये। भयार्तके भयभञ्जनका अद्भुत दृश्य देखकर भक्तोंका चित्त भगवान्‌के लिये रो उठा! इतनेपर भी अविश्वासी दुर्योधन अपनी आँखोंके सामने आश्चर्य घटनाको देखकर भी विश्वास न कर सका। उसको यह दृश्य तनिक भी विचलित न कर सका। ऐसा क्यों हुआ? ईश्वरमें उसका जरा-सा भी विश्वास क्यों नहीं हुआ? कारण यह है कि वह अहंकारी और अभिमानी होनेके कारण अनधिकारी था। वह

अपने आपको ही बड़ा मानता था। उसका हृदय अन्धकाराच्छन्न और सर्वत्र अवरुद्ध था। उसके ऐसे हृदयमें भगवान्‌के प्रकाशके लिये स्थान कहाँ था? इसीलिये भगवत्-शक्ति सर्वत्र प्रकाशित होनेपर भी वहाँ प्रकाशित नहीं हुई।

बाहरी युक्ति और तर्कोंद्वारा जो भगवान्‌के अस्तित्वका निरूपण किया जाता है वह केवल बाह्य वाणीका विलासमात्र ही है। उससे भगवान्‌का बोध नहीं हो सकता। वह तो मनके स्वधाममें छिपे हुए निज निकेतनका रहस्य है। सबके सामने कहने-सुननेकी बात नहीं।

बहुत दिनोंके प्रवाससे लौटे हुए स्वामीके साथ स्त्रीका जो परस्पर गुह्य प्रेमालाप होता है, उसकी भाषाके और उसके भावके रहस्यको, उसकी करुणरागिनीके अस्पष्ट स्वरको जाननेका अधिकार क्या किसी बाहरी मनुष्यको होता है? इसी प्रकार भगवद्-ज्ञान-का, उनके अस्तित्वका और भक्त-हृदयमें स्थित भगवान्‌के सौन्दर्य-की मधुरताका, लीलास्वादका भक्तके हृदयमें ही अनुभव किया जा सकता है। हम अभक्त उसके स्वादको क्या समझें? और कैसे उसका वर्णन करें?

ईसाइयोंके 'Imitation of Jesus Christ' नामक ग्रन्थमें लिखा है—

The soul is not to be satisfied with the multitude of words but a holy life is continual feast. The kingdom of God is not in words.

'शब्दोंकी प्रचुरतासे आत्माका सन्तोष नहीं होता। पवित्र जीवनसे निरन्तर सुखका रसास्वाद मिलता है। ईश्वरके राज्यमें शब्दोंका महत्त्व नहीं है।'

भगवान्‌को जाननेके लिये चरित्रकी शुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। विशुद्ध चरित्र हुए बिना कोई भी उनको न तो पहचान सकता है और न देख ही सकता है। विषयव्याकुल चञ्चल चित्त-से आत्मदर्शन नहीं होता। स्थिर चित्त होनेपर ही आत्मसाक्षात्कार होता है। स्थिर चित्त हुए बिना हजारों बार खोज करनेपर भी और सैकड़ों ग्रन्थ पढ़नेपर भी भगवान्‌के अस्तित्वका पता लगना बड़ा कठिन है। भगवान्‌के दर्शनके लिये जिसके मनमें अत्यन्त तीव्र आकर्षण होता है, वह नचिकेताके समान ही विषयोंकी क्षणभंगुरता और अनित्यताको देखकर विषयोंकी ओर ताकता ही नहीं। जिसके प्राप्त हो जानेपर जीवन-यात्रा सदाके लिये समाप्त हो जाती है और मनुष्य-देहका धारण करना सफल हो जाता है—उस परमपदकी प्राप्तिके लिये ही लालायित होकर वह केवल उसीको चाहता है। इसके सिवा वह और कुछ भी नहीं चाहता।

यह भाव तर्क और युक्तियोंकी सहायतासे उत्पन्न होनेवाला नहीं है—'नैषा तर्केण मतिरापनेया' यह ब्रह्मविषयक बुद्धि तर्कके द्वारा प्राप्त नहीं होती। विषयोंमें निमग्न हुए चित्तके द्वारा हमलोगों-मेंसे कोई भी उस गूढ़तम भगवत्स्वरूपका तत्त्व नहीं जान सकता। वह इतना सूक्ष्म है और इसीलिये वह इतना दुरवगाह है—

> श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः
>
> शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा-
श्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः ॥
(कठ० १।२।७)

संसारमें अधिकांश लोग तो ऐसे हैं जो इस आत्मज्ञान अथवा परमेश्वर-सम्बन्धी बातोंको सुननेका ही सुयोग नहीं पाते। कोई श्रवणका सुयोग पाकर भी इस आत्मस्वरूपको यथार्थतः जान नहीं सकते। इस आत्मज्ञान—परमेश्वर-सम्बन्धी ज्ञानके उपदेष्टा भी दुर्लभ हैं। इसके जानकार श्रोता भी दुर्लभ हैं और इसी प्रकार आत्मज्ञानी पुरुषके द्वारा उपदेश-प्राप्त हुए ज्ञाता पुरुष भी दुर्लभ हैं। फिर जिस किसी मनुष्यसे इस आत्मतत्त्वके सुननेपर भी कोई फल नहीं होता। विवेकहीन साधारण मनुष्यके द्वारा किये हुए परमतत्त्वके उपदेशसे आत्मज्ञानका विकास नहीं होता।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष
सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।
(कठ० १।२।८)

इस आत्माके सम्बन्धमें अनेक प्रकारके मत हैं। कोई कहता है भगवान् हैं, कोई कहता है नहीं हैं। कोई उनको कर्ता, कोई अकर्ता, कोई साकार, कोई निराकार, कोई न्यायवान् और कोई दयालु, इस प्रकार भगवान्‌के सम्बन्धमें अनेक लोग अनेक प्रकारके भाव रखते हैं। हमारे इन्द्रियग्राह्य ज्ञान और विचारसे उन अतीन्द्रिय परमात्माका यथार्थ बोध नहीं हो सकता। लोग अपनी भावनाके अनुसार ही भगवान्‌की कल्पना कर लेते हैं।

किन्तु वह अद्वितीय देव सभी भूतोंके अन्तरमें गूढ़रूपसे स्थित हैं। वह सर्वव्यापी और सर्वभूतोंके अन्तरात्मा हैं। वह सबके, सब कर्मोंके साक्षी होनेपर भी निर्गुण हैं, अर्थात् कोई भी गुण उनको बाँध नहीं सकता—

एको देवः सर्वभूतेषु गूढः
सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः
साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च॥
(श्वेताश्वतर० ६। ११)

उन भगवान्‌को जाननेके लिये उनकी शरण ग्रहण करनी चाहिये। स्वयं श्रीभगवान् आज्ञा देते हैं—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(गीता १८। ६२)

इस शरणागतिद्वारा भगवदुपदिष्ट साधनमें लग जानेपर शरणागत साधकको भगवान् स्वयं अपने स्वरूपका तत्त्व समझा देते हैं।

शास्त्रोंके अध्ययनसे केवल भगवान्‌को जाननेकी इच्छा जाग्रत् होती है। नहीं तो अनेक शास्त्रोंको पढ़नेवाला कोई भी उन्हें जान लेता। पर ऐसी बात नहीं है, शास्त्राध्ययनके साथ ही साधन-सम्पन्न भी होना चाहिये।

शब्दब्रह्मणि निष्णातः न निष्णायात्परे यदि।
श्रमः तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः॥

जो केवल शब्द-शास्त्रको जानता है, परन्तु साधनके द्वारा उसका रहस्य उपलब्ध करनेकी चेष्टा नहीं करता, उसका शास्त्र पढ़ना वैसे ही श्रममात्र है जैसे बाँझ गौ अपनी रक्षा करनेवालेको केवल परिश्रम ही देती है। इसलिये जब कि साधनके विना भगवान्‌को जाननेका कोई उपाय ही नहीं है, तो फिर उन्हें जाननेके लिये साधन ही करना चाहिये। साधन किये विना जन्म-जन्मान्तरोंसे सञ्चित अन्तःकरणका मल नष्ट नहीं हो सकता। मलनाश होकर अन्तःकरणके शुद्ध हुए विना भगवान्‌के स्वरूपका दर्शन नहीं होता। भगवान्‌के स्वरूपका साक्षात्कार हुए विना केवल दूसरेके द्वारा सुननेसे या मनमानो युक्तियोंके सहारेसे वास्तविक भगवत्-स्वरूपका अस्तित्व समझमें नहीं आता। अतएव आत्मतत्त्व जाननेके लिये अथवा भगवत्-स्वरूपका दर्शन करनेके लिये सद्गुरुके उपदेशकी आवश्यकता है। गुरु-कृपा विना कुछ भी नहीं होगा। परन्तु अनुरागी भक्तपर गुरुदेव कृपा करते ही हैं। इस विषयमें भागवतमें वर्णित श्रीनारदकी आख्यायिका ध्यान देने योग्य है।

श्रीनारद कहते हैं—

तस्यैवं मेऽनुरक्तस्य प्रश्रितस्य हतैनसः।
श्रद्दधानस्य बालस्य दान्तस्यानुचरस्य च॥
ज्ञानं गुह्यतमं यत्तत् साक्षाद्भगवतोदितम्।
अन्ववोचन् गमिष्यन्तः कृपया दीनवत्सलाः॥

(श्रीमद्भा० १।५।२९-३०)

नारदके मालिकके घरमें चातुर्मास करनेवाले उन दीनवत्सल साधुओंने वहाँसे जाते समय श्रद्धालु, विनीत, अनुरक्त और दमगुणयुक्त बालक नारदको जिस गुह्यतम ज्ञानका रहस्य समझाया था, वह गुह्यतम ज्ञान भगवान्‌का ही साक्षात् स्वरूप है।

इससे यह सिद्ध होता है कि विनीत, श्रद्धासम्पन्न और सेवापरायण व्यक्तियोंपर साधुलोग कृपा किया करते हैं। उनकी कृपासे ही यह गुह्यतम भागवत ज्ञान जीवके अन्तःकरणमें उत्पन्न होता है। अवश्य ही भगवान्‌को जाननेकी रुचि होनी चाहिये और भगवान्‌के प्रति दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

किस प्रकार यह विश्वास दृढ़ हो और कैसे भगवान्‌में रुचि हो? इसपर भागवतमें कहा गया है—

> शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।
> स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥
> शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः।
> हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम्॥
> नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया।
> भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी॥
>
> (श्रीमद्भा० १।२।१६, १७, १८)

सेवा और तीर्थ-दर्शनादिसे भगवान्‌की कथामें प्रेम होता है। पुण्य-श्रवण-कीर्तनरूप उस भगवत्-कथाको जो सुनता है उसके अन्तःकरणके मलको भगवान् स्वयं अपने करकमलोंसे धो डालते हैं। इस प्रकार नित्य साधुसंगसे एवं साधुओंके मुखोंसे भगवत्-कथा

सुनते रहनेसे जब अन्तःकरणकी अमङ्गलकारिणी शक्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, तब उत्तमश्लोक भगवान्में निश्चला भक्ति उत्पन्न होती है।

श्रीनारदने भी कहा है—

तत्रान्वहं कृष्णकथाः प्रगायता-
मनुग्रहेणाशृणवं मनोहराः।
ताः श्रद्धया मेऽनुपदं विशृण्वतः
प्रियश्रवस्यङ्ग ममाभवद्रुचिः॥
(श्रीमद्भा० १।५।२६)

वे (साधु) प्रतिदिन श्रीकृष्ण-कथा कहा करते थे। उन्होंने दया करके मुझे उस कथाके सुननेका अधिकार दे दिया था। प्रतिदिन श्रद्धासहित कथा सुनते-सुनते मेरे हृदयमें भगवान्के प्रति प्रेम उत्पन्न होने लगा।

आदौ श्रद्धा ततः सङ्गस्ततोऽथ भजनक्रियाः।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः॥

पहले श्रद्धा होती है। तदनन्तर सत्सङ्गके फलस्वरूप चित्तमें भगवत्-प्राप्तिकी आशा बढ़नेसे भजनद्वारा विक्षेपादि नष्ट हो जाते हैं; पश्चात् निष्ठा और उसके बाद रुचि होती है, रुचिके द्वारा विश्वास दृढ़ हो जाता है, फिर भगवान्में प्रबल आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। इसीका नाम भक्ति और यही विश्वासकी पराकाष्ठा है। यह विश्वास हमें सिर्फ बातों और युक्तियोंसे कैसे मिल सकता है?

जिसके प्रति हमारा प्रेम बढ़ा हुआ होता है उसका चिन्तन हमें बहुत ही प्रिय प्रतीत होता है। भगवान्में भक्ति होनेपर उनका

भी अधिक-से-अधिक चिन्तन करना प्रिय लगता है। फिर वह भक्त अपने प्रियतम भगवान्के चिन्तनमें निमग्न हो जाता है। इस प्रकार आनन्दघन भगवान्का प्रत्यक्ष अनुभव करके भक्त कृतकृत्य हो जाता है।

ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्जितचेतसा।
औत्कण्ठ्याश्रुकलाक्षस्य हृद्यासीन्मे शनैर्हरिः॥
(श्रीमद्भा० १। ६। १७)

भगवान्के चरणकमलोंका ध्यान करते-करते भक्तिके प्रबल होनेपर नारदके चित्तकी वृत्तियोंका बहिर्मुख भाव संयत होने लगा; क्रमशः प्रगाढ़ प्रेम उत्पन्न हो गया। कब उनके दर्शन होंगे, क्या मुझे भी भगवान् दर्शन देंगे? इस प्रकारकी भावनासे नारदका चित्त भगवद्विरहमें व्याकुल हो गया। उनके नेत्रोंसे आँसुओंकी धारा बहने लगी। उसी समय नारदके हृदयमें श्रीभगवान्की मूर्तिका आविर्भाव हुआ।

ऐसे सर्व-तम-नाशक आनन्दघन भगवान्के दर्शन हुए बिना क्या जीवन सफल हो सकता है? इसी आनन्दके लिये ही तो मनुष्य लालायित है। इसी आनन्दको पानेकी आशासे वह इन्द्रियोंके द्वार-द्वारपर विषयोंके लिये भीख माँगता भटक रहा है। वह 'आनन्द' और 'शान्ति' के लिये पुकार मचाता हुआ बिना विराम दौड़ रहा है, किन्तु—

हरि-सौरभ मृगनाभि बसत है, द्रुम तृण सूँघि मर्‍यो।

—कहाँ है वह आनन्द ? वह आनन्द विषयोंमें नहीं है। तथापि जीव इसी आनन्दका सेवन करता है। विषयोंमें इस आनन्दका ज़रा-सा आभास है। इसीलिये तो जीव विषयोंको छोड़कर उनसे हटना नहीं चाहता। जीवमें इस आनन्दकी आकांक्षा स्वाभाविक ही है। वह खण्ड आनन्द अथवा आनन्दके जरा-से विचूर्णको कई बार प्राप्त कर चुका है, किन्तु उससे जीवकी तृप्ति नहीं होती। वह तो चाहता है आनन्द-रस-समुद्रको। वह तो उसमें सदाके लिये अपनेको खोकर डूबे रहनेके लिये पागल हो रहा है। यह 'पूर्णात् पूर्णतरम्' अथवा 'पूर्णतम' आनन्द ही भगवान्‌का स्वरूप है। उसके न मिलनेसे विश्वासके साथ उसका आस्वादन न करनेसे, जीवकी यह जीवन-यात्रा ही व्यर्थ है। अतएव भगवान्‌में विश्वास न करनेसे कितनी हानि होती है, इसका कोई अनुमान भी नहीं हो सकता। आनन्दकी तो इच्छा ही पवित्र होकर भक्ति-रूपमें परिणत हो जाती है। पहले कहा जा चुका है कि आनन्दकी आकांक्षा जीवमें स्वाभाविक है, अतएव भक्ति भी मनुष्यका सहजात संस्कार है। इस भक्तिकी चरितार्थताके लिये भगवान्‌की आवश्यकता है। हमारे अन्दर यह भक्ति है इसीसे हम समझ सकते हैं कि 'भक्तिप्रिय माधव' भी हैं।

हम भगवान्‌में क्यों विश्वास करें ?

जो वस्तु संसारमें नहीं होती उसके लिये किसीको लालायित नहीं देखा जाता। इसके विपरीत जो वस्तु जितनी सुन्दर और सत्य हो, उसका मिलना असम्भव होनेपर भी लोग उसे प्राप्त

करनेकी इच्छा किया ही करते हैं। जीवोंमें, विशेष करके मनुष्यमें तो स्वाभाविक ही 'सुन्दर' और 'सत्य' के प्रति आकर्षण है। 'सत्य' और 'सुन्दर' को पानेके लिये जीव असाध्य साधन करनेको भी तैयार है। जीवनकी बाजी लगा देना तो उसके लिये साधारण बात है। वस्तुतः यह 'सत्य' और 'सुन्दर' यदि संसारमें न होता तो केवल अन्ध-कौतूहल-वश कोई भी इसके प्रति आकर्षित नहीं होता। यह भी देखा जाता है कि सत्य और मिथ्या इन दोनोंमें लोग सत्यको ही चाहते हैं। स्वप्नमें प्राप्त धन और वास्तविक धनमें, लोग वास्तविक धनकी ही इच्छा करते हैं। जबतक सत्यका यथार्थ बोध न हो, तबतक सत्यके प्रति उपेक्षा दिखलाना सम्भव है, किन्तु एक बार सत्यको समझ लेनेके बाद उसके प्रति आकर्षित न होना असम्भव है। जबतक हम सांसारिक वस्तुओंको सत्य समझते हैं तबतक उनको अधिक-से-अधिक पानेकी आकांक्षा करते हैं, किन्तु जब वही वस्तुएँ हमारी बुद्धिमें असत्य प्रमाणित हो जाती हैं, तब उनके प्रति कोई आकर्षण नहीं रहता। हम अज्ञानवश असत्यको तभीतक चिपटाये रहते हैं, जबतक उसको असत्य समझ नहीं लेते। इसी प्रकार सत्यके प्रति भी तभीतक उदासीनवत् व्यवहार करते हैं, जबतक सत्यका स्वरूप हमारे सामने प्रकट नहीं हो जाता। सत्य सदा उपेक्षित नहीं रह सकता। इसी प्रकार असत्यके प्रति मोह भी सदा नहीं टिकता। इसीसे यह सम्भव है कि एक दिन सत्य अवश्य मिलेगा ही। सत्यके प्रति हमारा जो इतना खिँचाव है, यह हमारे अन्तरका एक अति गूढ़ रहस्य है। जो सत्य है वही तो सुन्दर है। सुन्दरके प्रति आकर्षण हमारा (Intuitive) सहजात ज्ञान है।

यह सत्य हमारी अपनी वस्तु है, यह हमारे मनका मोहन, प्राणोंका आराम है। जबतक इसको भूले रहते हैं तभीतक 'अवस्तु' के साथ खेलना सम्भव है। 'सत्य' के पा जानेपर 'अवस्तु' के प्रति आदर नहीं रहता। जब बालक खिलौनोंको लेकर खेलमें रम जाता है, तब ऐसा मालूम होता है मानो वह अपनी माँको और घरको भूल गया है। किन्तु उसकी वह भूल सदा नहीं रहती। भूल मिटती है, खिलौनोंको फेंक देना पड़ता है। उस समय उसको अपने घरका, अपनी जननीका स्मरण हो जाता है। तब वह व्याकुल होकर, रो-रोकर अपनी माँको खोजता है और अपने घरकी ओर दौड़ पड़ता है। घर पहुँच माँसे मिलकर उसे इतना सन्तोष होता है कि खिलौने फेंककर चले आनेका उसको किञ्चित् भी पश्चात्ताप नहीं होता। उसका अन्तःकरण और अनुभव यही साक्षी देता है कि उसे जो प्राप्त करना था उसको वह पा गया है। इस वास्तविक वस्तुकी प्राप्तिके आनन्दमें वह सब कुछ भूल जाता है। 'उस' को पाकर सब कुछ भूले हुए पुरुषको हमने अपनी आँखों देखा है। ऐसे लोग किस महानन्दमें मग्न रहते हैं, कैसे परितृप्त रहते हैं यह बात उनको देखनेसे ही समझमें आ सकती है। असत्य वस्तुके आकर्षणमें इतना मोह नहीं होता; यदि कभी हो भी जाता है तो वह दीर्घकालतक ठहर नहीं सकता। महापुरुषोंकी जीवनी हमें यह समझा देती है कि 'भगवान् हैं।' जिस वस्तुको पाकर वे सब कुछ भूल गये हैं, वह इतनी सुन्दर है कि संसारकी अन्य कोई भी वस्तु उनके मनको उतना नहीं खींच सकती।

यह सत्य वस्तु किसीकी निराधार कल्पनामात्र नहीं है। यह

भूत, भविष्यत्, वर्तमान तीनों कालमें सत्य है। अँधेरेमें हम कुछ भी देख नहीं सकते, किसी वस्तुका भी स्वरूप समझ नहीं सकते, परन्तु ऐसा होनेसे हमारे मनको सन्तोष या तृप्ति प्राप्त नहीं होती। यह मनका एक स्वाभाविक धर्म है। मनकी इस स्वाभाविक वृत्तिके कारण ही हम अन्धकारको पसंद नहीं करते, अथवा अन्धकारसे तृप्त नहीं होते। जिन सांसारिक सुखोंके लिये जीव लालायित रहते हैं, उनको इच्छानुसार पाकर भी जो उनकी कुछ भी परवा न करके—उनकी उपेक्षाकर, केवल मनकी कल्पनाके आधारपर ही तृप्त हो रहते हैं, सो बात नहीं है। वे इसीलिये तृप्त हैं कि इस समय उन्हें सत्यके दर्शन हो गये हैं। वे उस असली सुन्दरपर मुग्ध होकर उसकी ओर खिंच गये हैं। इसीसे अब उन्हें जगत्के विविध वैभव और मान-प्रतिष्ठा आदि आकर्षित नहीं कर सकते। उन्हें प्रकाशके दर्शन हो गये हैं, अतएव वे अन्धकारमें भटकना नहीं चाहते। यह अन्धकार ही अज्ञान है। जबतक अज्ञान हमपर छाया रहता है तबतक हमें बाध्य होकर उसमें निवास करना पड़ता है, किन्तु सत्यका प्रकाश पाते ही हम तुरन्त उसीकी ओर दौड़ जाते हैं, फिर वह अन्धकार हमें नहीं सुहाता। अनेकों पुरुषोंके जीवनमें यह ज्ञानालोक प्रकाशित हो चुका है। हमने ऐसे बहुत-से लोगोंको देखा है, जो इस ज्ञानालोकके प्रभावसे विगतमोह हो अज्ञान-अन्धकारके चंगुलसे छूट चुके हैं।

सत्यका आलोक प्रकाशित हुए बिना हमारे मनका यह गोरखधन्धा मिट नहीं सकता; अन्तःकरणकी अप्रसन्नता और चित्तका भय दूर नहीं होता। ज्ञानी हो या अज्ञानी, सभी निर्भय, निश्चिन्त और

आनन्दित होना चाहते हैं, इसीसे सत्य और ज्ञानके प्रकाशको आवश्यकीय समझते हैं और इसीलिये जो सत्यस्वरूप हैं, ज्ञानस्वरूप हैं और 'तमसः परस्तात्' हैं उनको पानेकी इच्छा करते हैं। यही जीवमात्रके अन्तर-से-अन्तरकी बात है। यह 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मानन्दरूपममृतम्' परम सत्य है। इसीलिये यह हमें इतना आकर्षित करता है। मिथ्या होता तो निश्चय ही हम इतने आकर्षणका अनुभव नहीं कर सकते। जैसे अन्धकारके बाद प्रकाश देखकर हम तृप्त होते हैं, वैसे ही अज्ञानका पर्दा फटनेपर जो ज्ञानालोक प्रकाशित होता है, उस ज्ञानके प्रकाशमें हम उन्हींका साक्षात् करते हैं जो—'प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्' हैं।

वही परम कल्याणस्वरूप हैं, वही हमारे आत्मा हैं, वही हमारे सबके राजा, प्रभु और भगवान् हैं। इसलिये अज्ञानीको भगवान्के दर्शन न होनेपर भी ज्ञानी भक्त उनको देख पाते है। इसमें अविश्वास करनेका कोई भी कारण नहीं है। उनके स्वरूपको पहचानकर पूर्वकालके ऋषिगण सरल शिशुके सदृश उच्च कण्ठसे यह पुकार उठे थे—

'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्।' (श्वेताश्वतर० ३।८)

वह गम्भीर ध्वनि आज भी मनुष्योंके चित्ताकाशमें प्रतिध्वनित हो रही है। धीर, विवेकी पुरुष अब भी उसको सुन पाते हैं।

हम जगत्में अनेकों विषयोंके लिये आकर्षण अनुभव करते हैं और उनको अपने हाथके समीप ही देखना भी चाहते हैं एवं अवसर मिलनेपर उनपर अपना अधिकार जमानेमें भी नहीं चूकते। ऐसा क्यों करते हैं? इसीलिये कि वे विषय हमको आकर्षित

करते हैं, आनन्द देते हैं, उनको पाकर मन शान्ति प्राप्त करता है; इसीसे हम उन आनन्दप्रद वस्तुओंको पाना चाहते हैं। किन्तु इन वस्तुओंमें आनन्दका स्वप्न दीखनेपर भी ये क्षणभंगुर हैं, इनकी प्राप्तिसे हमारे प्राणोंकी आकांक्षा नहीं मिटती। जो सचमुच परमानन्दस्वरूप हैं एवं नित्य सत्य हैं, जिनका किसी कालमें ध्वंस नहीं होता, जो आनन्द कभी चुकता नहीं, जिसको पाकर ऐसा नहीं कह सकते कि बस, हो चुका और नहीं चाहिये। वह ध्रुव नित्य सत्य परमानन्द ही भगवान् हैं। जब क्षणिक विषयानन्दके लिये ही जीव उन्मत्त हुआ फिरता है, जिस विषयसे जिसको जितना कुछ आनन्द मिलता है, वह उसीपर अपना अधिकार जमाना चाहता है, तब यह तो पता लग ही जाता है कि हमारा ध्येय आनन्द है। यह सत्य है कि जगत्में अनेकों विषय हैं, और उनमें हमें आनन्द मिलता है, किन्तु वह आनन्द सदा रहनेवाला नहीं है, इसीलिये चित्त हाहाकार पुकार उठता है। यही जीवकी आत्यन्तिक मर्मवेदना है। नाना प्रकारके सांसारिक आनन्दको पाकर भी हम उसका स्थायी भोग क्यों नहीं कर सकते? इसका कारण यही है कि हमें वास्तविक आनन्दका पता नहीं लगता। आनन्दके सत्यस्वरूपको हम पकड़ ही नहीं पाते। हम जो कुछ देखते हैं वह काँचके अन्दर आवृत प्रकाशका प्रतिबिम्बमात्र है, अवश्य ही वह आलोकका प्रतिरूप है, किन्तु अनुरूप नहीं है। इस आनन्दको हम नित्य स्थिररूपसे प्राप्त नहीं कर सकते, इसीसे हमारा मन इतना विक्षेपयुक्त और चञ्चल रहता है। वास्तविक आनन्द ही जीवनका चरम सत्य है। यदि हम इस चरम सत्यको

देख पाते, अथवा इसके सन्निकट पहुँच जाते तो हमारे मनमें विकार या चित्तमें विक्षेप किञ्चित् भी नहीं रह सकता। उस आनन्दमें महान् आकर्षण है इसीसे तो वह कृष्ण है। उसको प्राप्त करनेके लिये न मालूम हम किस अनादिकालसे दौड़ रहे हैं। उस परमानन्दको न पानेके कारण ही तो मन क्षिप्त हो उठता है और अज्ञ शिशुकी तरह उसे पानेके लिये दौड़ने लगता है। हमारे बार-बार एक जन्मसे दूसरे जन्ममें जानेका यही रहस्य तो नहीं है?

जो वस्तु ही न हो, उसे पानेके लिये मनका इतना विक्षेप और इतना वेग नहीं हो सकता। निश्चय ही 'वह' है, इसीसे उसको पानेके लिये मनमें इतनी प्रबल इच्छा है, इसीसे परमानन्दकी प्राप्तिके लिये जीवकी इतनी टान है। इस आनन्दस्वरूपकी नित्यप्राप्ति ही जीवकी नित्यइच्छित वस्तु है। और इस परमानन्दके मूर्तिमान् विग्रह ही श्रीभगवान् हैं। फिर भगवान् नहीं हैं यह बात कैसे स्वीकार करें?

साधारणतः हम चक्षु आदि करणोंकी सहायतासे शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धकी उपलब्धि कर सकते हैं। परन्तु इन इन्द्रियोंद्वारा हम भगवान्को देख या समझ नहीं सकते। स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा स्थूल विषयोंका ज्ञान हो सकता है, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तुके जाननेका उपाय तो दूसरा ही है। वह ज्ञान इन इन्द्रियोंकी सहायतासे सहजमें नहीं हो सकता। पदार्थसमूह इन्द्रियोंद्वारा ग्राह्य होनेपर भी ऐसे अनेक सूक्ष्म पदार्थ अथवा कीटाणु हैं जिनको हम इन चक्षुओंद्वारा नहीं

देख सकते। उनका देखना या तो सूक्ष्म शक्तिवाले कृत्रिम यन्त्रादि-द्वारा हो सकता है या मनुष्यके अन्तरमें स्थित अतीन्द्रिय शक्तिके स्फुरणद्वारा। वस्तु तो यन्त्रादिकी सहायतासे शायद दीख भी सकती है, किन्तु आत्मदर्शन अथवा ईश्वरदर्शनमें इन यन्त्रादिकी सहायता बिल्कुल व्यर्थ होती है; उसके लिये तो दिव्य चक्षु चाहिये। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनको यही दिव्य चक्षु दिये थे, इसीसे वह विश्वरूप देख सका था। ये अतीन्द्रिय दिव्य नेत्र सब मनुष्योंके अन्दर हैं किन्तु वे न तो उनका सद्व्यवहार करना जानते हैं और न उन्हें प्रस्फुटित करनेका उपाय ही। इसीलिये सबके पास दिव्य चक्षु होनेपर भी वे उनके अधिकारमें नहीं हैं। भगवान्का स्वरूप अलौकिक है, अतः उसके दर्शनके लिये अलौकिक नेत्रोंकी आवश्यकता है। सौभाग्यसे जिनके ये अलौकिक नेत्र खुल गये हैं, वे भगवान्के—

रूपं भगवतो यत्तन्मनःकान्तं शुचापहम्।

—को देखकर कृतकृत्य हो जाते हैं। यह कल्पना नहीं है। भगवत्-स्वरूपके दर्शन किये जा सकते हैं, यह परम सत्य है। आजीवन विषयोंके पीछे भटकनेके कारण हमारा मन अत्यन्त चञ्चल हो गया है। इस चञ्चलताके मिटते ही हृदय-पटमें उसका ललित.त्रिभङ्ग-सजल-जलद-कान्ति, बाँकेविहारी मधुर रूप प्रकट होता है। किन्तु स्थूल विषयोंका चिन्तन करते-करते हमारा मन बहुत ही स्थूल हो गया है, इसीसे 'सूक्ष्मत्वात् तदविज्ञेयम्' सूक्ष्म होनेके कारण अविज्ञेय परमात्माके दर्शन-लाभसे वह वञ्चित रहता

है। यह बात नहीं कि उनका अस्तित्व ही नहीं है, इसीसे हमें उनके दर्शन नहीं होते। 'वह' हैं, परन्तु हमारे अन्दर सूक्ष्म दृष्टि—योग-दृष्टिका अभाव है, इसी कारण हम उनके दर्शन-लाभसे वञ्चित हैं, नहीं तो—

ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
(ईश० १)

—ऐसे भगवान्‌को क्या हम देख नहीं सकते? भगवान्‌को जाननेके लिये पहले अधिकार प्राप्त करना होगा। परमात्माको जाननेके अधिकारीके सम्बन्धमें यमराजने नचिकेताके प्रति कुछ बातें कही हैं—

कामस्याप्तिं जगतः प्रतिष्ठां
क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम्।
स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा
धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः॥
(कठ० १।२।११)

जो समस्त विषयभोग, संसारका स्वामित्व, यज्ञोंका अनन्तफल, सब भयोंके नाशकी पराकाष्ठा और अतिशय स्तवनीय और सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त शुभ फल और अपनी अत्युत्तम गति, इन सबकी आशाको त्याग सकता है, वह महात्यागीश्वर पुरुष ही इस परमतत्त्वको जान सकता है।

जो पुण्य-कर्मोंमें रत, सरल, परोपकारी और दम-गुण-सम्पन्न है, उनका भगवान्‌में अपने आप ही विश्वास होता है। भगवान्‌के

मिलते ही सब कुछ मिल जाता है, इस प्रकारकी निश्चयात्मिका दृढ़ बुद्धिको धारण करके वे किसी भी सांसारिक फलकी कामना नहीं करते। विषयोंका लोभ सब प्रकारसे छूटे बिना भगवान्‌को प्राप्त करनेकी आशा दुराशामात्र है।

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
(कठ० २।३।९)

यह परमात्माका स्वरूप इन्द्रियका प्रत्यक्ष विषय नहीं है— इन्द्रियग्राह्य नहीं है, चक्षु आदि इन्द्रियोंद्वारा कोई भी उसको नहीं देख सकता। किन्तु विकल्पहीन अर्थात् संयत वा निश्चल 'हृदा' बुद्धिद्वारा ध्यानकी सहायतासे वह अभिक्लृप्त अर्थात् प्रकाशित होता है, जो इसको जान जाता है वह अमृतस्वरूप हो जाता है।

न साम्परायः प्रतिभाति बालं
प्रमाद्यन्तं वित्तमोहेन मूढम्।
अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे॥
(कठ० १।२।६)

जिनकी बुद्धि प्रमादग्रस्त है, जो धनके मोहसे मोहित है, ऐसे ज्ञानरहित बालक-सदृश व्यक्तियोंके निकट शास्त्रानुकूल साधनादि और उसका फल प्रकाशित नहीं होता। जो यह

समझते हैं कि यही लोक है, परलोक नहीं है, ऐसे पुरुष बारंबार मृत्युके ही मुखमें पड़ते हैं। वे अमृतके स्वरूपको प्राप्त नहीं कर सकते।

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥
(कठ० १।२।२४)

जो पुरुष असदाचारी है, इन्द्रियोंके भोगोंमें आसक्त है, एकाग्रतारहित अत्यन्त चञ्चल और अशान्त मनवाला अर्थात् फल-कामनाके लिये अत्यन्त लोलुप है वह यदि ब्रह्म-विषयक विचार भी करे, तो भी इस चैतन्यस्वरूप आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥
(कठ० १।२।१२)

जो दुर्दमनीय विषय-लोभमें प्रमत्त नहीं है, अर्थात् धीर है, ऐसे धीमान् पुरुष परमात्मामें चित्त-समाधानरूप योगके अभ्याससे उस 'दुर्दर्श'—दुर्विज्ञेय 'गूढ'—इन्द्रियोंसे अग्राह्य और 'अनुप्रविष्ट'—सब भूतोंके अन्तरमें प्रविष्ट, प्राणियोंकी बुद्धिके भीतर विराजित देहरूप गर्त्तमें स्थित, सदा विद्यमान उस परमदेवको मानकर विषयोंसे उत्पन्न सुख-दुःखादिका परित्याग करते हैं। अर्थात् गम्भीर ध्यानके द्वारा आत्मस्वरूपको प्राप्त कर लेनेपर उनको फिर विषयोंसे उत्पन्न होनेवाले सुखदुःखद्वारा विडम्बित होना नहीं पड़ता।

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा
सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
(कठ० २ । ३ । १७)

जो अङ्गुष्ठ-परिमाण पुरुष हृदयाकाशमें प्रकाशित है, वही जीवोंके अन्तःकरणमें स्थित है।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम् ॥
(कठ० १ । २ । २३)

जो मुमुक्षु साधक इस आत्माको प्राप्त करनेके लिये प्रार्थना करता है, अथवा वही एकमात्र प्राप्तव्य वस्तु है, यों समझकर उसको वरण करता है, उसी मुमुक्षु साधकद्वारा यह आत्मा प्राप्त किया जाता है। यह आत्मा उस मुमुक्षु उपासकके निकट अपनी मूर्ति प्रकाशित करता है। साधककी ऐकान्तिक शरणागति और भगवत्-कृपा ही उसके साक्षात्कारका उपाय है।

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्यनुशासनम् ॥
(कठ० २ । ३ । १५)

जब इस जीवनमें ही अन्तःकरणके समस्त बन्धन (देहादि-में ममत्वबुद्धि) नाश हो जाते हैं, तब यह मरणशील देह-विशिष्ट व्यक्ति अमृत हो जाता है। यहींतक अनुशासन है। इस प्रकारकी अवस्था प्राप्त करनेके बाद फिर उपदेशकी आवश्यकता नहीं रहती।

यह आत्मा ही—

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥
(गीता १३ । २२)

यह पुरुष उपद्रष्टा अर्थात् साक्षीमात्र, अनुमन्ता—अनुमोदन करनेवाला, वही सबका भरण करनेवाला, पालन करनेवाला और महेश्वर अर्थात् ब्रह्मादिका भी अधिपति है। श्रुतिमें कहा है—

एष सर्वेश्वरः एष भूताधिपतिः।

(बृह० ४।४।२२)

प्रकृतिके गुणोंसे मोहित जीव वृथा-आशा, वृथा-कर्मी होकर सब भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमतत्त्वको न जाननेके कारण मनुष्य-देह-धारी मुझ परमात्माकी अवज्ञा करते हैं, किन्तु—

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्॥

(गीता ९।१३)

हे पार्थ! दैवी प्रकृतियुक्त महात्मा पुरुष मुझमें एकाग्रचित्त हुए मुझे जगत्-कारण और नित्य-स्वरूप समझकर मेरी आराधना करते हैं। अतएव जिसमें आसुरी स्वभाव बदलकर दैवी स्वभाव प्राप्त हो, इसके लिये चेष्टा करना परम कर्तव्य है। दैवी स्वभाव-वाले पुरुषको ही स्वरूप-साक्षात्कार होता है।

मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते॥

(गीता १४।२६)

जो अन्य लक्ष्य त्यागकर एकान्त-भक्तियोगद्वारा परमेश्वर-स्वरूप मुझ वासुदेवकी सेवा करता है, वह तीनों गुणोंको उल्लंघन करके मोक्षप्राप्तिके लिये समर्थ होता है।

भक्ति और भक्तिकी साधना

प्रेममयी मंगलमयी शान्तिमयी सुखरूप ।
हरिपदकमल विकासिनी जय जय 'भक्ति' अनूप ॥

मनुष्यमें जन्मसे रहनेवाली वृत्तियों या संस्कारोंमें भक्ति सबसे प्रधान है । भक्तिको कहींसे माँग-जाँचकर नहीं लाना पड़ता । हिमालयकी गगन-भेदी पर्वतमालाओंके वक्षःस्थलपर सुशोभित देव-नदी गंगाकी पवित्र धाराकी भाँति मनुष्यके गम्भीर अन्तःतलमें इस भक्तिकी पवित्र धारा अनवरत बहती ही रहती है । यद्यपि अन्तःसलिला फल्गुकी भाँति हर समय उसकी गति दिखायी नहीं देती परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वह है ही नहीं । उसके बिना मनुष्यका

जीवन-प्रवाह कभीका सूख गया होता ! मनुष्यका यही एक अपना विशेष धन है—यही उसके लिये ईश्वरकी एक परम पवित्र देन है। जैसे सोना किसीको बनाना नहीं पड़ता, पृथ्वीकी भीतरी गुप्त तहोंमें वह सदा विद्यमान है, केवल उसे वहाँसे उठाकर थोड़ा साफ कर लेनेसे ही मनुष्यके काममें आने लगता है, केवल काम ही नहीं आता, अपने वर्ण और प्रतिभासे मनुष्यका मन भी मोह लेता है, वैसे ही इस भक्तिको भी कहींसे उपजाना नहीं पड़ता। भक्ति तो मनुष्यमात्रके गहरेसे भी गहरे हृदयस्थलका एक परम गुप्त धन है। इसे तनिक खोदकर निकालते ही इसके प्रकाश और सौन्दर्यकी प्रभासे मनुष्यका मन मुग्ध हो जाता है।

जिसको पाकर यह दुस्तर भवसागर गोपदकी भाँति सहज और सुगम हो जाता है, जिस सम्पत्तिका अधिकार मिल जानेपर मनुष्य दूसरोंमें भी जीवन डाल सकता है, जिसके द्वारा 'स तरति स तरति स लोकांस्तारयति' वह स्वयं तो तरता ही है दूसरोंको भी तार देता है और जो धन भगवान्‌को मोल लेनेके लिये असली सिक्का है वह चाहे जितना मूल्यवान् क्यों न हो, भगवान्‌ने उससे कोरा रखकर अनाथकी भाँति मनुष्यसमुदायको इस जगत्‌में नहीं भेजा है। यदि भक्तिरूपी धन दुष्प्राप्य होता तो फिर मनुष्यभण्डारमें ऐसी दूसरी वस्तु ही न मिलती जिसके बदले वह भगवान्‌को पा सकता।

माँ अपने बच्चेको किसी कामसे दूर भेजते समय वापसीका राहखर्च पल्ले बाँध देती है, तो क्या यह सम्भव है कि सब जीवोंके

माता-पिता भगवान् अपनी सन्तानको इस जगत्में भेजते समय वापसी राहखर्च कुछ भी न दें। मेरा तो यह दृढ़ विश्वास है कि उसने हमें अपने पास लौट आने, अपने चरणस्पर्श करनेभरका सामान हमारे साथ अवश्य कर दिया है। हम यदि उसकी ओरसे आँखें बंद कर लें—पल्ले बँधी पूँजीको बिसर जायँ तो यह दोष भगवान्‌का नहीं, हमारा है। यदि वह खाली हाथ हमें इस जगत्में भेज देता तो कदाचित् उसकी करुणापर सन्देह करना सर्वथा अन्याय न कहलाता परन्तु उसपर यह कलंक नहीं लग सकता। राहभूले पथिकोंका वही तो ध्रुव तारा है—वही तो प्रेमियोंके हृदयाकाशका निष्कलंक कलाधर है।

आप यह जानना चाहते होंगे कि मनुष्यके साथ वह नित्य पाथेय क्या है और कहाँ है? बन्धुओ, वह है हमारा चिरपरिचित 'प्रेम'। यही जीवसे जीवके मिलनका सुन्दर सेतु है, यही पारस्परिक प्राणोंका आकर्षण है जो मनुष्यके हृदयमें सहजात संस्काररूपसे नित्य विद्यमान है। इसके द्वारा मनुष्यसे केवल मनुष्यका ही मिलन नहीं होता परन्तु मनुष्येतर जीवका—मानवके साथ मानवात्माका महामिलन हो जाता है। जिस प्रबल आकर्षणके कारण कंजूस धनके लिये प्राण दे सकता है, माता पुत्रके लिये प्राणोंकी परवा नहीं करती, सुहृद् सुहृद्के लिये धन और जीवनको तुच्छ समझता है, प्रेमिका अपने प्रियतमके लिये सारे दुःख-कष्ट हँसती हुई झेल लेती है और जिसके लिये यह मानवात्मा निरन्तर व्याकुल है, वह व्याकुलता ही—वह प्राणोंका आकर्षण ही भक्त और भगवान्‌के

बीच मिलनका महासेतु है। इसी पाथेयके द्वारा मोहमुग्ध मानव उस अनिर्देश्य अव्यक्त परमधामका यात्री होनेको अपने हृदयमें आध्यात्मिक आकुलताका अनुभव करता है। इस व्याकुलताको ही हम 'प्रेम' कहते हैं। यह आकर्षण जब सांसारिक वस्तुकी प्राप्तिके लिये प्रचण्ड व्याकुलताका अनुभव करता है तब उसका नाम होता है—'काम' और जब यही आकर्षण परमात्माकी ओर जाता है तब इसकी संज्ञा 'परानुराग' या 'प्रेम' होती है।

प्रेम-मूल्यहीसे बस, तुमको भक्त मोल ले सकते हैं।

यह अनुराग ही उसे पानेकी कीमत है। इसीका दूसरा नाम है 'भक्ति' 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा' (नारदभक्तिसूत्र २)—वह भक्ति परम प्रेमरूपा है। हम प्यार तो बहुतेरी चीजोंसे करते हैं—धन, माँ-बाप, लड़के-लड़कियाँ, मित्र और पत्नी, फल और फूल, शोभा, सौन्दर्य और सुगन्धसे भी प्यार करते हैं। अपने शरीर और जीवनसे कितना प्यार करते हैं! और भी न मालूम किन-किनसे प्यार करते हैं! पर यही प्यार जब भक्तके हृदयमें अंकुरित, पल्लवित और फल-पुष्पसमन्वित होकर महान् वृक्षके रूपमें परिणत हो जाता है, जब उसका वेग किसी प्रकार नहीं रुकता, जब कोई विघ्न-बाधा उसे रोकनेमें समर्थ नहीं होती, भादोंकी भरी और छलकती हुई नदीके जलकी भाँति जब वह दोनों किनारोंको प्लावित करता हुआ तीव्र वेगसे महासिन्धुकी ओर महायात्रा करता है उस समयके लिये श्रीमद्भागवत कहती है कि 'भगवान् वासुदेवमें लगा हुआ यही प्यार भक्तिके नामसे पुकारा जाता है।' फिर यह

किसीके वशका नहीं रहता । तभी यह जीवके लिये परम कल्याण-दायक होकर उसे परमानन्दप्राप्तिका अधिकारी बनाता है । इसी-से ज्ञान, वैराग्य आदि स्फुरित होते हैं और इसीसे 'ययात्मा सम्प्रसीदति'—यह आत्मा सुप्रसन्न होता है । फिर जीवनभर इस प्रेमानन्दका महामहोत्सव होता रहता है । यह कभी रुकता नहीं । भक्त कबीर कहते हैं—

छिनहिं चढ़े छिन ऊतरे, सो तो प्रेम न होय ।
आठ पहर लाग्यो रहै, प्रेम कहावे सोय ॥

इस प्रेमका आस्वादन जितना मधुरातिमधुर है—'मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्' उतनी ही इसकी ज्वाला भी तीव्र और प्रचण्ड होती है । साधारण भक्तोंके लिये यह प्रेम बहुत दुर्लभ है, यह विषय-व्यापार-रहित निर्मल रस है । जैसे समुद्रके अगाध जलमें डूबे बिना महामूल्यवान् मणि नहीं मिल सकती, वैसे ही इस प्रेम-मुक्ताके लिये भी भावसमुद्रके अगाध जलमें भक्तको डूबना पड़ता है । इसका निकास हृदयमें ही है, परन्तु बड़ी सावधानीसे गोता लगाना चाहिये । इसमें बड़े कठोर त्यागकी आवश्यकता होती है । वैराग्यसे चित्त ओतप्रोत हुए बिना इस प्रेमका पता पाना असम्भव है । भागवतमें कहा है कि भगवान्में भक्ति करनेसे ही 'जनयत्याशु वैराग्यम्'—तत्काल वैराग्य उत्पन्न होता है । वैराग्यकी खलबलाती हुई कड़ाहीमें पकाकर भगवान् अपने भक्तको शुद्ध कर लेते हैं । बहुजन्म-सञ्चित पापोंका महान् भार जो मनुष्यके हृदयमें पत्थर-की नाईं जमा है वह वैराग्य-अग्निके तापसे गल-गलकर बह जाता है । जबतक भगवन्नामस्मरणरूपी ईंधन धधकने नहीं लगता तबतक

वह पापोंका पहाड़ नहीं पिघलता और न मनुष्यकी विषय-रस-भोग-इच्छा ही मिटती है। इसीलिये भगवान् भक्तकी बार-बार परीक्षा करते हैं। वे किसी तरह भी उसपर क्षमा नहीं करते। यह उनकी असीम भक्तवत्सलता है! इस अग्नि-परीक्षामें बहुतेरे भक्तोंको जलभुनकर भस्म हो जाना पड़ता है। उनका उत्कृष्ट अंश तो भाप बनकर ऊपर उड़ जाता है और निकृष्ट अंश भस्मरूपमें परिणत हो जाता है। इसलिये वह किसीके भी भार या भयका कारण नहीं होता, निकृष्ट अंशकी तो राख यों ही होनी चाहिये। तभी यह राख परम पवित्र समझी जाती है।

अब यहाँ सवाल उठता है कि क्या यों जलकर खाक हो जाना ही बस है? और कुछ नही होता? होता क्यों नहीं! हृदय पवित्र हो जाता है फिर उसमें कोई कामना नहीं रहती। केवल एक प्रियतमके मिलनकी आशा ही बचती और बढ़ती रहती है। इसीलिये खाक होनेकी बात कही गयी है। यह भस्म ही त्यागीके अंगका भूषण है। यों पवित्र हो जानेपर ही भगवान्‌का विरहताप भक्तके लिये असह्य हो जाता है। वह दिनरात विरहाग्नि-से जलता रहता है। जलकर खाक हो जाता है पर मुँहसे घबराकर कभी नहीं कहता कि 'मैं तुम्हें नहीं चाहता'। भक्त कहता है, 'प्रभो! तुम्हारा विरह मेरे लिये गरल और अमृत दोनों है। उबलते हुए ईखके रसके समान बड़ा मीठा, साथ ही जलानेवाला भी है। प्रभो! कब आओगे? प्रभो! तुम्हारे पदस्पर्शसे यह तापित प्राण कब शीतल होंगे? हे वारिदवदन! तुम्हारे प्रेमामृतकी धारासे यह

तप्त भूमि कब सींची जायगी ? इसी आशापर जीता हूँ। देखना, कहीं हताश न होना पड़े, अबतक जो इतना जलता रहा हूँ—इतना दग्ध होनेपर भी तुम्हारी आशासे जीता रहा हूँ यह मेरी शक्तिसे नहीं, 'तव कथामृतं तप्तजीवनम्'—इस जलते हुए जीवनको तुम्हारा कथामृत ही अमृतदान देकर जिलाता है, इसी कारणसे अबतक बचा हूँ।'

इसीलिये भक्त उनके नामकी महिमासे मुग्ध होकर गाता है—'अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम्' उनके विरहतापसे दग्ध होकर भक्त रोता है और पुकारता है—

हा ! हा ! सखि कहा करूँ उपाय !
कहा करूँ जाऊँ कहाँ, कहाँ मिले वह कृष्ण।
कृष्ण बिना ये प्रान जायँ। हा ! हा ! सखि०

कृष्णकथाके सिवा भक्तको और कोई बात नहीं सुहाती। कृष्णविरहमें भक्तका बाह्य व्यवहार विलुप्त हो जाता है और वह रातदिन विरहकी ज्वालामें जलता हुआ पुकारता रहता है—

हा ! हा ! कृष्ण प्राणनाथ ! व्रजेन्द्रनन्दन !
कहाँ जाऊँ ? कहाँ पाऊँ ? मुरलीवदन !!

विरहके प्रचण्ड उत्तापसे जब भक्तका मृत्युकाल उपस्थित हुआ जान पड़ता है, तब क्या दयामय हरि,—भक्तोंके भगवान् चुपचाप बैठे रह सकते हैं ? वे उस समय जो कुछ करते हैं भक्त कबीरने बड़ी ही सुन्दर भाषामें बतलाया है—

विरहिनि जलती देखकर साँई आवै धाय।
प्रेमबूँदसे सींचिकै तनमें लेय मिलाय॥

भक्त भी प्रभुको देखकर आँखोंसे आँसू बहाता हुआ गद्गद कण्ठसे हाथ जोड़कर कहता है—'प्यारे! अब तो तुम्हारा वियोग सहा नहीं जाता'—

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम्।
शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्दविरहेण मे॥

अहो! भक्तजीवनकी कैसी सुन्दर परिसमाप्ति है! ससीम-असीमका कैसा महामिलन है! इस प्राप्तिकी कीमत क्या हो सकती है? इस समय भक्त सोचता है कि मैंने जितनी वेदना भोगी है, जितना दुःख-ताप सहन किया है उससे करोड़गुना होनेपर भी इस सुखकी कीमत नहीं हो सकती। उसी समय यह मालूम होता है कि भगवन्! तुम दीनदयालु हो! इतने मामूली मोलमें तुम भक्तके हाथ अपनेको बेच डालते हो! तुम धन्य हो और तुम्हारे भक्त धन्य हैं!

इस मिलनके लोभसे लोभातुर होकर ही तो भक्त हरिदासने मुसलमान शासकके दिये हुए प्रचण्ड दण्डकी उपेक्षाकर बड़ी दृढ़तासे कह दिया था—

टुकड़े टुकड़े देह हों, तनसे निकलें प्रान।
तब भी मुख त्यागूँ नहीं हरी नामकी तान॥

इतनेसे पाठक यह जान गये होंगे कि भगवान्‌ने अपने मिलनेका साधन हमें दे रक्खा है। उसके लिये चिन्ताकी आवश्यकता

नहीं। अब यहाँपर यह प्रश्न होता है कि जब उनकी प्राप्तिका मूल्य हमारी जेबमें ही है तब हम उन्हें पाते क्यों नहीं? इतनी विपत्तियोंमें पड़कर हमें इधर-उधर भटकना क्यों पड़ता है? भाई! हम अपने समझके दोषसे ही इन विपत्तियोंमें पड़े हुए हैं। इसीके लिये कुछ विचार और सत्संगकी आवश्यकता हुआ करती है। जैसे बालक विचार और परामर्शदाताके अभावसे घरमें अन्नादि सम्पूर्ण पदार्थ होनेपर भी भोजन न पाकर इधर-उधर भटकता है वैसे ही यह जीव सत्संग और सद्गुरु बिना पासमें सब कुछ रहते भी दरिद्रकी भाँति दुःख उठाता है। परन्तु यह दुःख भी व्यर्थ नहीं होता। इसीसे उसे अपनी भूली हुई वस्तुका स्मरण होता है और वह उसकी खोज करनेकी कोशिश करता है। एक बार यों जाग जानेपर फिर कोई खटका नहीं!

ऊपर कहा जा चुका है कि हम साथ लायी हुई पूँजीसे भगवान्‌का चरण-स्पर्श पानेकी योग्यता प्राप्त कर सकते हैं लेकिन हमने उस हीरा हासिल करनेकी पूँजीको काँचके टुकड़े लेनेमें लगा दिया। जिस मूल्यवान् खादद्वारा भूमिके उपजाऊ होनेपर कितने ही मधुर फलोंके वृक्ष लग सकते थे, हमने अपनी मूर्खतासे उस उर्वरा भूमिमें झाड़-झंखाड़ पैदा कर लिया। जहाँ सुन्दर पुष्पावली अपनी शोभा और सुगन्धसे सब दिशाओंको प्रमुदित कर सकती थीं, वहाँ हमने ऐसे पेड़ उपजाये कि जिनके फूलोंकी दुर्गन्धसे आज हम स्वयं व्याकुल हैं। घरमें महामूल्यवान् मणि थी परन्तु हमने उससे अपना ऐश्वर्य न बढ़ाकर उसके बदलेमें क्षणभंगुर केवल दीखनेमें

सुन्दर थोड़े-से काँचके टुकड़े खरीद लिये और उन्हींकी रक्षा करनेमें हमारा यह अमूल्य जीवन भी मौतके द्वारपर आ पहुँचा। बड़े-बड़े कष्ट-दुःख झेलकर जिस संसारकी रक्षा की उसके राज्यसिंहासनपर उसके असली रचयिताको न बैठाकर उसे काम-क्रोधादि चोर-डाकुओंको सौंप दिया। इससे संसार तो बना, पर प्रभु नहीं मिले! यही हमारा कर्मदोष है—यही हमारा दुर्भाग्य है! परन्तु भाई, मुसाफिरो! इस दुर्भाग्यकी कलंक-कालिमा तो हमने अपने ही हाथों अपने मुँह पोती है! अब अपने ही हाथों इसे धोकर साफ भी करना पड़ेगा। अतएव 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।'

अब वह उपाय ढूँढ़ना चाहिये जिससे यह दुर्भाग्य सौभाग्यके रूपमें बदल जा सके। इस विषयमें शास्त्र, साधु और गुरुवाक्योंको ही हमें अपना मार्गदर्शक बनाना पड़ेगा। दूसरा उपाय नहीं है। पथभ्रान्त पथिकोंकी भ्रान्ति दूर करनेके लिये दूसरा कोई पथ नहीं दीखता।

हमारा अपना मान-अभिमान, हमारे सांसारिक संस्कार और अभ्यासका दोष ही इस मार्गकी प्रधान कठिनाई है। हम सभी भ्रममें डूबे पड़े हैं—अभिमानसे अन्धे हो रहे हैं। यही कारण है कि जिसके लिये दुनियामें आये, गर्भवासका कष्ट सहा और बादको कितनी ही शारीरिक और मानसिक पीड़ाएँ भोगीं, उसे पा न सके। कौड़ी-कौड़ीके लिये कलह करते जन्म गँवाया परन्तु जिसके लिये जन्म लिया था उसे भूल गये—जीवनको व्यर्थ कामोंमें ही खो दिया! बस, नावके डाँड़ खोकर नदी किनारे बैठकर रोना ही हमारे भाग्यमें

रह गया ! इस पापका प्रायश्चित्त करना पड़ेगा, यह भूल सुधारनी होगी और फिर एक बार नौकाके डाँड़ किसीसे माँग-जाँचकर लेने होंगे। हम-जैसा दीन और कौन है ? कौन ऐसा आर्त है जिसके पास पार जानेका कोई साधन नहीं ! हम किस बातपर इतरा सकते हैं ? न हम धनी हैं, न ज्ञानी हैं, न सुखी हैं। धन-मानकी भ्रान्ति मिटाकर ही हमें उस पारका यात्री बनना पड़ेगा। हम-सरीखे कंगालोंके भी कंगालोंको अभिमान किसी प्रकार शोभा नहीं दे सकता। यह अभिमान-अहङ्कार ही हमारे लिये अठफाँसी (आठ तरहकी फाँसी) है और अज्ञान ही हमारे इस फाँसीमें जकड़े जानेका कारण है। किस साधनसे, किस अभ्याससे जीव इस अठ-फाँसीसे छूटकर भगवत्साधनसे कृतकृत्य हो सकता है ? इस सम्बन्धमें महाप्रभु चैतन्यदेवने सनातन गोस्वामीको जो उपदेश किया था वह बड़ा सुन्दर है। हमारे लिये वही एकमात्र अवलम्ब है—

नीच जाति जन्म भये भजनके अयोग्य नाहिं,
ऊँची जाति केवल नाहिं भजन अधिकारी है।
जो ही भजे सो ही बड़ो, भक्तिहीन, हीन-मन्द,
कृष्णभजन माँहि जातिपाँति ना विचारी है॥
कृष्ण-प्रेम दैनहारि नवविधा भक्ति श्रेष्ठ,
सकल भजन माँहिं यहै महा शक्तिधारी है।
सकल माँहिं श्रेष्ठ एक कृष्ण-नाम-कीर्तन, जो,
'दोष छाँड़ि लीन्हे' देवै, प्रेमधन भारी है॥

फिर वही आफत ! निर्दोष होकर नाम लेनेकी शर्त ! ठहरो, 'घबराओ मत ! व्याकुल होकर उसका नाम अवश्य लेते रहो।

बस, नामकी शक्तिसे अपने आप निरपराध बन जाओगे, कुछ आँसू तो अवश्य खर्च करने पड़ेंगे। अभिमान, दम्भ छोड़कर अपने अपराधोंके लिये व्याकुल होकर अनन्य चित्तसे जो नाम लेता है उसके सब अपराध क्षमाकर भगवान् उसे अपना लेते हैं। उनकी बड़ी दया है। यदि हम इस दयाको न लूट सकें तो हम-सा अभागा कौन होगा? महाप्रभुने कृष्णप्रेम पैदा करनेके लिये नामजपकी विधि बतलायी है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः॥

इसीसे हमें बुरा संग, बुरी चिन्ताएँ, स्त्रीसंगियोंका और धनलोभियोंका संग त्याग करनेको कहा गया है। असत्यको सत्य समझनेसे चित्तका मोह दूर नहीं होगा। इसीलिये धन, जीवन, यौवन और आयुको चपलाकी भाँति चञ्चल समझकर उस परम सत्यकी खोज करनी होगी। इसपर भी जबतक भोगोंकी कामना रहेगी तबतक हृदयमें सच्ची भगवद्भक्ति स्फुरित नहीं होगी। अतएव भोग-कामनाओंको जगानेवाले स्त्रीसंगियोंके संगका त्याग करनेकी आवश्यकता है। जो लोग असाधु हैं, यानी जिनका लोकव्यवहार अपवित्र है, जो भगवान्‌का भजन नहीं करते उनका सांसारिक पदार्थोंकी ओर झुकना अवश्यम्भावी है। ऐसे लोगोंका भी संग भक्ति चाहनेवालोंको सर्वथा त्याग करना होगा।

इन सब साधनोंके लिये वैराग्यकी बड़ी आवश्यकता है। वैराग्यहीन चित्तमें ज्ञान या भक्तिका उदय नहीं होता। लेकिन

वैराग्य यकायक हो कैसे ? जिन लोगोंको विचार नहीं है, जो प्रसन्नचित्तसे मुक्तहस्त होकर दान नहीं कर सकते, जो साधुसंगसे वंचित हैं और सन्तोषरूपी अमृतके पानसे परितृप्त नहीं हैं, उनके चित्तमें भगवच्चरणारविन्दलाभकी आशा-ज्योतिका प्रकाश होना सम्भव नहीं है। ऐसे लोग इस मायाके गहन वनसे क्योंकर निकल सकेंगे ? यही सोचकर साधु महापुरुषोंने यह आदेश दिया है कि 'भक्ति न हो, तो भी विनीत चित्तसे भगवान्‌का भजन करते रहो। किसी दिन चित्त अवश्य पिघलेगा। चित्तके द्रवित होनेपर संसारके उस पार पहुँचनेमें देर न लगेगी, इससे भजन मत छोड़ो। पर सावधान, अपना भजन दुनियाको दिखाते मत फिरना।'

इस सम्बन्धमें महाप्रभुने धनीसन्तान रघुनाथदासको जो उपदेश दिया है वह बड़ा ही आशाप्रद जान पड़ता है।

पागलपन मत करहु, जाहु अपने घर थिर मन।
भवसागरके पार यही क्रम पहुँचहिं सब जन॥
बनहुँ न लोग दिखाय कबहुँ मरकट वैरागी।
भोगहु विषय असंग यथोचित होइ अरागी॥
अन्तर निष्ठा करहु बाह्य लौकिक व्यवहारा।
सत्वर करिहैं कृष्ण तोर भवतें उद्धारा॥

'श्रीकृष्ण अवश्य उद्धार करेंगे' इस बातका दृढ़ भरोसा रखकर भजन करते रहना चाहिये। जो श्रद्धाविश्वासयुक्त होकर असीम निर्भरताके साथ भगवदुपासनामें मन लगाता है वह इस अपार भवसागरका किनारा शीघ्र ही देख पाता है, इसमें रत्तीभर भी सन्देह नहीं है। भगवान्‌पर भरोसा करके भजन किस तरह

किया जाय, अब यही बात बतलायी जाती है। श्रवण और कीर्तन ये दो अङ्ग साधकके लिये सबसे पहले अवलम्बन करने योग्य हैं। 'कलौ केशवकीर्तनात्' इस नाम-संकीर्तनमें बुद्धिको स्थिर करनेके लिये पुनः-पुनः भगवान्‌के गुणानुवाद श्रवण करने चाहिये। सुनते-सुनते ही भगवान्‌के नाममें रुचि होगी और रुचिपूर्वक नाम लेते-लेते निश्चयात्मिका बुद्धिका प्रादुर्भाव होगा। भगवान्‌ने गीतामें यही कहा है—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥
(१०।९)

प्रेमसे भजन करते-करते ही साधक मच्चित्त होते हैं, इसीका नाम ध्यानावस्था है, इस अवस्थामें विक्षेप नहीं है। यह अवस्था जब भङ्ग हो जाती है तब वे भगवान्‌का गुणानुवाद गाने लगते हैं। भगवान्‌की बातोंको छोड़कर उनसे रहा नहीं जाता। वे केवल भगवत्-प्रसंग और हरि-कथाकी ही आलोचना करते हैं, उसीको समझते-समझाते रहते हैं। क्योंकि वह मद्गतप्राण है। विक्षिप्तावस्था खूब घन होने लगती है तब वह 'नामसङ्कीर्तन' रसमें मग्न हो जाते हैं। इस तरह वह क्रमशः आत्माराम होकर परमानन्दके अधिकारी बन जाते हैं।

भगवान्‌की बातें कहने और सुननेमें जब बड़ा आनन्द आने लगेगा तभी भजनको ठीक समझना चाहिये। आनन्द तो अवश्य आवेगा। पहले उसके आनेमें कुछ देर हो जाय तो हताश नहीं

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा ।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम् ॥
(श्रीमद्भा० १ । २ । १५—२२)

श्रवणकीर्तनसे कैसे नैष्ठिकी भक्ति और उसके द्वारा वैराग्य था ज्ञानका उदय होकर आत्मसाक्षात्कारसे मुक्ति हो जाती है—न श्लोकोंमें इसीकी व्याख्या की गयी है । मोक्षमें प्रधान विघ्न है कर्मोंकी ग्रन्थि' । परन्तु भगवत्कथा श्रवण करते-करते यदि रणागतिका भाव जाग उठता है और उसके द्वारा भगवान्‌का यान होनेसे कर्मबन्धन कटकर कैसे मुक्तिका अधिकार मिल जाता ै इसी प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि साधुसेवा और तीर्थाटनादिसे नुष्य सेवक बनता है । इस सेवाके भावसे ही क्रमशः वासुदेवकी थामें रुचि होती है । जी चाहता है सुनता ही रहूँ । इस कथा-चिसे ही हमारे हृदयके अकल्याणकारी विषय—कामक्रोधलोभादि-की उत्तेजना धीरे-धीरे शान्त हो जाती हैं । भगवान् कृपा करके वयं ही भक्तके सामर्थ्यसे बाहर कामक्रोधादिके बुरे वेगको मिटा देते हैं । 'ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः' इसके बाद निष्ठा और रुचि बढ़ती है । उत्तमश्लोक भगवान्‌में भक्तका अनन्य प्रेम हो जाता है । इसके बाद रज और तमोगुणसे उत्पन्न काम-लोभादि उसके चित्तपर आघात नहीं पहुँचा सकते । उस भजन-परायण भक्तकी सत्त्वगुणमें स्थिति हो जाती है और उसके हृदयमें ब्रह्मचिन्तनकी अप्रतिहत धारा बहने लगती है । इसी एकाग्र

अन्नमें भी रुचि होती है । इस रोगनाशके लिये 'भगवन्नाम' ही औषध है । भगवन्नाम स्मरण करते-करते जब भवरोग शान्त हो जाता है तभी नाममें वास्तविक रुचि होती है । अरुचिमें रोगीको मिश्री भी कड़वी लगती है परन्तु पित्तरोगकी दवा 'मिश्री' ही है । इसी प्रकार नाममें रुचि न हो तो नामरूपी औषधका ही प्रयोग करना चाहिये । नाम लेते-लेते नाममें रुचि हो जायगी । जिसकी नाममें रुचि होती है वही भाग्यवान् पुरुष है ।

श्रीमद्भागवतमें भक्तिके प्रादुर्भावका क्रम बड़ा ही सुन्दर बतलाया है । इस प्रसङ्गको स्मरण रखना बहुत ही उत्तम और आनन्ददायक होता है ।

यदनुध्यासिना युक्ताः कर्मग्रन्थिनिबन्धनम् ।
छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्यात्कथारतिम् ॥
शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ॥
शृण्वतां स्वकथां कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्तनः ।
हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत्सताम् ॥
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ॥
तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥
एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे॥
अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा।
वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम्॥
(श्रीमद्भा० १। २। १५–२२)

श्रवणकीर्तनसे कैसे नैष्ठिकी भक्ति और उसके द्वारा वैराग्य तथा ज्ञानका उदय होकर आत्मसाक्षात्कारसे मुक्ति हो जाती है—इन श्लोकोंमें इसीकी व्याख्या की गयी है। मोक्षमें प्रधान विघ्न है 'कर्मोंकी ग्रन्थि'। परन्तु भगवत्कथा श्रवण करते-करते यदि शरणागतिका भाव जाग उठता है और उसके द्वारा भगवान्का ध्यान होनेसे कर्मबन्धन कटकर कैसे मुक्तिका अधिकार मिल जाता है इसी प्रसङ्गमें यह कहा गया है कि साधुसेवा और तीर्थाटनादिसे मनुष्य सेवक बनता है। इस सेवाके भावसे ही क्रमशः वासुदेवकी कथामें रुचि होती है। जी चाहता है सुनता ही रहूँ। इस कथा-रुचिसे ही हमारे हृदयके अकल्याणकारी विषय—कामक्रोधलोभादि-की उत्तेजना धीरे-धीरे शान्त हो जाती है। भगवान् कृपा करके स्वयं ही भक्तके सामर्थ्यसे बाहर कामक्रोधादिके बुरे वेगको मिटा देते हैं। 'ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः' इसके बाद निष्ठा और रुचि बढ़ती है। उत्तमश्लोक भगवान्में भक्तका अनन्य प्रेम हो जाता है। इसके बाद रज और तमोगुणसे उत्पन्न काम-लोभादि उसके चित्तपर आघात नहीं पहुँचा सकते। उस भजन-परायण भक्तकी सत्त्वगुणमें स्थिति हो जाती है और उसके हृदयमें ब्रह्मचिन्तनकी अप्रतिहत धारा बहने लगती है। इसी एकाग्र

ध्यानसे भगवान्‌की कृपा यानी उनके आनन्दमय भाव-प्रेमका साक्षात् होता है। इस तरह भगवान्‌के प्रति भक्ति होनेसे ही उनसे योग या मिलन होता है। इस मिलनके फलसे भगवत्तत्त्व-विज्ञान और मुक्तसङ्ग-अवस्था प्राप्त होती है। ज्ञान-वैराग्य जाग उठते हैं, उस ज्ञानसे भगवान्‌के परम ऐश्वर्य और माधुर्यकी अनुभूति होती है। बाह्य सांसारिक विषयोंकी भावना मिट जाती है। यही परवैराग्य है। इस अवस्थामें स्त्री-पुत्रमें आसक्तिका नाश हो जाता है। धनधान्यादिकी स्पृहा ध्वंस हो जाती है। इसीका नाम 'हृदय-ग्रन्थि-भेद' है। इसके साथ ही सब प्रकारके संशय मिट जाते हैं। भक्त अटल विश्वास और अविचल ज्ञानमें प्रतिष्ठित हो जाता है। उसके जन्म-जन्मान्तर-सञ्चित प्रारब्ध कर्म जल जाते हैं। इसीलिये भक्ति और उसके कारणस्वरूप श्रवण-कीर्तनके प्रति भक्तोंका इतना अनुराग देखनेमें आता है। यही आत्मप्रसादप्राप्तिका परम उपाय है।

भक्तोंके चरणकमलोंमें प्रणामकर इन शब्दोंके साथ मैं यह लेख समाप्त करता हूँ। इस भक्तिकी धारा भारतवर्षमें कैसे क्रम-विकासको प्राप्त होकर आनन्द-रस-सिन्धुकी ओर जोरसे बही है, हो सका तो कभी इस विषयमें कुछ कहनेकी वासना है। यदि भगवद्भक्त अपनी कृपासे मुझमें शक्तिसञ्चार कर देंगे तो मैं कुछ लिख सकूँगा। नहीं तो पङ्गुद्वारा पर्वत-लङ्घनके सदृश मेरे लिये तो यह सदा ही असम्भव है!

अमृतलाभका सुगम उपाय

इस मृत्युके जगत्‌में अमृतको पानेका एक ही उपाय है। जो केवल उसीकी ओर देखता है दूसरी ओर ताकता ही नहीं, वही मृत्युके हाथसे छुटकारा पा सकता है। एक दिन मर गये यह दूसरी बात है, परन्तु प्रतिदिन ही अपनेको मृत्युकी भोजन-सामग्री बनाते रहना एक बड़े संकटकी अवस्था है। इस संसारमें ऐसी कौन-सी वस्तु है जो स्थिर होकर रहती है ? सभी तो दौड़ रहे हैं चटपट मृत्युके गम्भीर मुखमें जाकर पड़नेके लिये। मृत्युको रोक सके ऐसी कोई भी शक्ति हमारे पास नहीं है। केवल मात्र एक ही उपाय है जिससे हम मृत्युको जीतकर मृत्युञ्जय बन सकते हैं। वह है दृढ़ निर्भरताके साथ उसको—भगवान्‌को पकड़ रखना; ठीक उसी तरह, जैसे मुनि मार्कण्डेयने शिवको पकड़ा था। जो ऐसा

नहीं कर सकता उसे मृत्युके भयसे काँपना ही पड़ेगा। देवता भी इससे नहीं बचते। यदि कहा जाय कि इतनी सुविधा रहने और दूसरे किसी उपायके न होनेपर भी मनुष्य उसको क्यों नहीं पकड़ता? यही तो रोग है। ऋषियोंने शास्त्रोंमें नाना प्रकारसे इसीकी चिकित्साके लिये तो उपदेश किया है। यह रोग मनुष्यके अपने किये हुए कर्मोंका ही फल है। इसी कारण तो हम उसकी ओरसे आँख मूँदे, उसे अस्वीकार किये बैठे हैं। जीवोंमें अविद्याबीज-का मूलकारण यही तो है। इस अविद्याबीजके प्रभावसे ही जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखादि द्वन्द्वभावोंका अनुभव होता है। इनका जितना अधिक अनुभव होता है, उतना ही हमारा मन उससे हटा हुआ समझना चाहिये। ये भाव सख़्त पत्थरकी तरह इतने दृढ़ हो गये हैं कि इनके बिना रहा नहीं जाता, इसीलिये तो जन्म-मृत्यु, सुख-दुःखादिकी नाना प्रकारकी विभीषिका देख-देखकर हम काँप उठते हैं। परन्तु देखो! इनसे बचनेका कितना सहज उपाय है। एक बार मनको 'उस'के सम्मुख कर दो। फिर देखना, ये द्वन्द्वभाव कैसे घटते चले जा रहे हैं। जैसे संसारकी बातें सोचते-सोचते बड़े भारी संसारी हो गये हो, इसी प्रकार उसकी बातें सोचते-सोचते ठीक वैसे ही हो जाओगे। फिर उसका घोर रूप देखनेको नहीं मिलेगा। उसके निर्मल प्रसन्न रूपसे त्रिभुवन भर जायगा। संसारके शोक-दुःखसे उद्धार होनेका यही परम रहस्य है। जरा चेष्टाके साथ उद्योग करनेसे ही मनुष्य इस बातको समझ सकता है। 'उस'को छोड़कर जगत्‌को पकड़े रहनेमें मनुष्यको कष्ट होगा ही।' भगवान्‌ने स्वयं ही अर्जुनसे कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥
(गीता ५ । २२)

इसकी एकमात्र औषध है, इन समस्त जागतिक पदार्थोंकी असारताका विचार करना और बारंबार उन्हींको (परमात्माको) ढूँढ़ते रहना । ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ही वे मिल जाते हैं । वे हमारे कला-कौशलसे नहीं मिलते । वे तो दया करके भक्तको अपना अभय रूप दिखाया करते हैं । शरीरके धर्म हमारे लिये इतने विस्तृत हो गये हैं कि उन्हींकी बातें सोचनेमें हमारे सब दिन चले जाते हैं, और कुछ सोचनेका अवसर ही नहीं मिलता । हमलोग सदा ही संसार और शरीरके लिये उद्विग्न रहते हैं । इस बातको भूल जाते हैं कि शरीर रहेगा तबतक उसके सुख-दुःख भी रहेंगे । शारीरिक सुख-दुःख सभी प्रारब्धाधीन हैं । यदि बीमार होकर बिछौनेपर पड़े हैं तो भी चिन्ताकी कौन-सी बात है ? जो अवश्य होनेवाली बात हो उसके लिये इतनी उद्विग्नता क्यों ? दुःख या सुख दोनोंमेंसे जो होना होगा सो एक तो होगा ही । यही जगत्‌का खेल है । कभी इस तरफ, कभी उस तरफ, बिना विश्राम यह नृत्य तो हो ही रहा है । इसका कितना हिसाब रक्खोगे ? सुख-दुःख दोनों ही कुछ नहीं हैं । न असली बात इधर है, न उधर । जिस मध्यबिन्दु या केन्द्रसे इधर-उधर दोनों ही निकल रहे हैं, उसी केन्द्रमें आकर चुपचाप बैठ जाओ । वहाँ किसी प्रकारकी गड़बड़ नहीं है, कोई बखेड़ा नहीं है । वही परमधाम है । सुख-दुःखसे अतीत प्राणाराम प्रियतम—प्राण-सखाका वह निमेषवर्जित सुनिमेष क्षेत्र है । वही वैकुण्ठधाम है । वहाँ संसारके मात्रास्पर्शका कोई सम्बन्ध नहीं है । वह सब तरहके प्रकाश और अप्रकाशके अतीत परम धाम है । उस अविकृत धाममें

पहुँचनेपर इस जगत्को भूल जाना पड़ता है। वही नित्यधाम है, वही सब जगह है और सब कहीं भी नहीं है। थोड़ी-सी चेष्टा करनेसे ही उस नित्यधामका पता लग जाता है, सम्भवतः उसका स्पर्श भी हो सकता है। मन विषयोंको पृथक्-पृथक्‌रूपसे अनुभव कर रहा है, इसीलिये उनका ठीक अनुभव नहीं कर सकता। जहाँतक दूसरी वस्तु मनमें रहती है, वहाँतक उस वस्तुका स्मरण नहीं होता। इसीलिये जब अन्य सब विषयोंका स्पर्श और अनुभव रुक जाता है, तभी उनके प्रकाशका अनुभव होता है, तभी उनका स्पर्श होता है। मनुष्य-जीवन धारण करके, जो यत्न करके, इस लक्ष्यतक पहुँच गया, उसीका मनुष्यशरीर धारण करना सार्थक है। अधिक जल्दी करनेकी जरूरत नहीं है। बन नहीं पड़ता इसलिये हताश होनेकी भी आवश्यकता नहीं है। निश्चय रक्खो कि दर्शन होंगे ही, आज हों या कल! हम अपने लिये जितनी चिन्ता करते हैं, उससे कहीं अधिक हमारे लिये 'वे' चिन्ता करते है।

अतएव अधीरता दिखानेकी कोई आवश्यकता नहीं; केवल लगे रहो, श्रद्धायुक्त चित्तसे उनके शुभागमनकी प्रतीक्षा करते रहो। हमारे पुकारनेमें कई बार भूलें हो सकती हैं परन्तु हमपर दया करनेमें उनकी भूल कभी नहीं हो सकती। केवल बैठे रहो उनके नामका आश्रय लेकर। इस बातको सदा याद रखते हुए जगत्के समस्त कर्म, समस्त विचार उनको अर्पण करते रहो—देन-लेनका हिसाब चुकता कर दो। निश्चय समझो, सुख-दुःख जो कभी आते हैं सब उन्हींका प्रसाद है; अतएव निर्भयता और आनन्दके साथ उनको, अपनेको और जगत्को अच्छी तरह पहचानकर जगत्में विचरण करो और मुखसे बोलो! 'जय गोविन्द! जय हरि गोविन्द!'

वैराग्य

वैराग्य जितना कहनेमें सहज है उतना वास्तवमें सहज नहीं है। असली वैराग्यका उदय होना कठिन है। अवश्य ही संसारकी ज्वाला-यन्त्रणाओंसे घबराकर कभी-कभी घरसे निकल भागनेकी इच्छा होती है परन्तु वह श्मशान-वैराग्य ही होता है। बहुत समयतक नहीं टिकता। कभी-कभी पत्नीके वाक्य-प्रहारोंसे भी चित्तमें वैराग्य उत्पन्न होता है परन्तु वह भी असली नहीं। यह सब होनेपर भी वैराग्यके बिना काम नहीं चल सकता। जबतक वैराग्य नहीं होता तबतक अध्यात्म-पथमें तो ताला ही लगा रहता है। अध्यात्ममार्गमें वैराग्यकी बड़ी ही आवश्यकता है। गेरुआ कपड़ा पहनने, जटा बढ़ाने या माथा मुड़ाकर नाचते हुए घूमनेसे ही वैराग्य नहीं होता। वैराग्य बड़ा

कठिन है। कठिनताके कारण ही तो उसका स्थान इतना ऊँचा है। वैराग्य शब्दकी व्युत्पत्ति ही देखिये—'विरागस्य भावः वैराग्यम्'। विराग कहते हैं राग या आसक्तिके अभावको। परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी विषयमें राग होना चित्तके विक्षेपका कारण है। *विक्षिप्त चित्तमें शान्ति नहीं होती और 'अशान्तस्य कुतः सुखम्?'* अशान्तको सुख कहाँ है? सारांश यह कि वैराग्यहीन पुरुषको शान्ति-सुखकी प्राप्ति नहीं होती और शान्तिहीन व्यक्ति ब्रह्मानन्दकी प्राप्तिका अधिकारी नहीं होता। इसलिये भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा कि—

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति॥

(गीता २। ६४)

'जो विधेयात्मा (मनको वशमें कर रखनेवाला) पुरुष राग-द्वेषरहित होकर अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका उपभोग करता है वह शान्तिको प्राप्त होता है।'

जिसमें वैराग्यकी प्रबलता होती है उसकी मुक्तिमें विषयभोग कोई बाधा नहीं दे सकते। दृष्टान्तके लिये राजा जनक और महर्षि वसिष्ठ आदिके नाम लिये जा सकते हैं।

*चारों ओरसे विषयोंका प्रलोभन, इन्द्रियोंकी अत्यन्त विषय-*लोलुपता और मनकी प्रबल विक्षेपशक्ति ये सभी वैराग्यके प्रतिकूल हैं। तथापि वैराग्य तो होना ही चाहिये। क्योंकि वैराग्यके बिना चित्तमें सुख और आनन्द नहीं हो सकता। अधिक क्या, चित्तका कोई आश्रय ही नहीं रहता।

कुछ लोग कहते हैं कि 'जो मुक्ति वैराग्यके साधनसे होती है, वह हमें नहीं चाहिये ।' इसका क्या अर्थ है ? अवश्य ही यह एक विचारणीय विषय है । यह कपट-वैराग्यपर सच्चे कर्मवीरका एक प्रहार है । परन्तु मुक्ति नहीं चाहिये, ऐसा कहना तो सत्यको छिपाना है । दुःखसे मुक्ति, अभावसे मुक्ति, ऋणसे मुक्ति, अज्ञानसे मुक्ति, सन्देहसे मुक्ति, कपटतासे मुक्ति, द्वेषसे मुक्ति और नाना प्रकारके बन्धनोंसे मुक्ति, सभी तो 'मुक्ति' चाहते हैं, सभीकी तो यह भावना है कि मुक्ति मिलनेसे ही हमारे प्राण बचेंगे । यह कोई नहीं कह सकता कि मैं मुक्ति नहीं चाहता । जब मुक्ति चाहते हैं तो उसके लिये वैराग्य अवश्य ही होना चाहिये । मुक्ति हो, पर वैराग्य नहीं, यह बात तो कल्पनामें भी नहीं आती । किसी भी प्रकारको मुक्तिके लिये त्याग वैराग्यकी आवश्यकता है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि आजकल हमारे देशमें जटा-चिमटा-धारियोंके उत्पातसे 'वैराग्य' शब्द लोगोंकी दृष्टिमें कुछ दूषित-सा हो चला है । परन्तु वास्तवमें उनका तो वह वैराग्य नहीं है, वह है 'वैराग्यका व्यापार' । वैराग्यका यह अर्थ नहीं है कि हाथपाँव न हिलाकर चुपचाप बैठ रहो और अपनेको दूसरेके गले मँढ़कर खूब घी-शक्कर उड़ाओ !* वैराग्य बड़ा ही पवित्र और सुन्दर है ! जिनको वास्तविक

---

* असली वैराग्यवान् पुरुष भी कभी-कभी बेकार-से मालूम होते हैं परन्तु इस श्रेणीके पुरुषोंको समझनेमें हम बड़ी भूल कर जाते हैं । वास्तवमें वे ही लोग सर्वोच्च श्रेणीके साधक हैं । उनका हृदय अगाध समुद्रके सदृश गम्भीर होता है । उनका कर्मत्याग हमलोगोंकी तरह 'कायक्लेशभयात्' नहीं होता । फल पकनेपर जैसे आप ही टूट पड़ता है, वैसे ही उनका कर्मबन्धन टूट जाता है ।

वैराग्यकी प्राप्ति होती है, उनका जीवन धन्य है। दूसरेके लिये अपनेको भुला देना, विश्वात्माके लिये अपने सम्पूर्ण अभिमानको विसर्जन कर देना, वैराग्यको छोड़कर अन्य किसी भी साधनसे नहीं

वे निस अनोखे राज्यमें विचरते हैं उसमें पहुँचनेपर सभीको 'जडभरत' बन जाना पड़ता है। बहुत जन्मोंतक कठोर तपस्या करनेपर भगवत्कृपासे इस अवस्थाका अधिकार मिलता है। हम कामविमूढ़चित्त मनुष्य इस रहस्यको कैसे समझ सकते हैं? अनेक प्रकार चेष्टा करनेपर चित्तकी शुद्धि होती है, तब निष्कामभावसे कर्म करनेकी शक्ति आती है। निष्काम कर्म करनेवालोंका कर्म ही उपासना कहलाता है। (work is worship) उनके कर्मोंमें कामनाकी गन्ध नहीं रहती, उनकी समस्त कर्मचेष्टा केवल भगवदर्थ ही होती है। इन निष्काम कर्म करनेवालोंसे भी परे उन महात्माओंका स्थान है जो निकम्मे-से प्रतीत हुआ करते हैं। उन लोगोंका एकमात्र कर्म होता है 'उपासना' (worship is work) दूसरे कर्मके लिये चेष्टा भी नहीं होती। कर्मका जो कारण होता है वह उनमें नहीं रहता। अतएव कर्मत्यागका उनको कोई प्रत्यवाय नहीं होता। वे भगवद्भाव या स्वरूपमें सर्वदा ही तन्मय रहते हैं (इसीका नाम असली उपासना है)। ऐसे महात्माओंसे जगत्का जितना कल्याण होता है उतना हमलोगों जैसे लाखों सकाम कर्मी और हजारों निष्काम कर्मियोंसे भी नहीं होता। ऐसे महात्माओंका अब भी जगत्में अस्तित्व है। इसीलिये पृथिवी हम-लोगोंके इतने अत्याचार और पापको सहकर भी अबतक रसातलमें जानेसे बची हुई है। यह बात कभी नहीं भूलनी चाहिये। हमलोगोंमें अधिकांश तो तमोगुणकी प्रबलतासे आलस्य, निद्रा या वृथा कलहमें ही समय खो देते हैं। कुछ लोग रजोगुणकी अधिकतासे देशसेवा, जातिसेवा, लोकोपकार, शहर-सफाई करने या रोगियोंकी सेवा करनेका आग्रह दिखाते हैं। बाहरी प्रशंसा प्राप्त करनेकी उत्तेजना ही अधिकांशमें इस आग्रहका कारण होती है। यह सत्त्वगुणका फल नहीं होता। जिसकी जड़में कामना छिपी हुई है वह कर्म नितान्त सकाम और हेय ही है, अवश्य ही तामसी पुरुषोंकी जड़ताकी अपेक्षा यह काम भी बहुत ही ऊँचा है।

हो सकता। प्रेम इसीलिये इतना मधुर है कि वह वैराग्यमें सना हुआ है। वैरागी 'निःस्पृहः सर्वकामेभ्यः' समस्त कामनाओंसे निस्पृह होता है। वह किसीके भी सुखके पथमें बाधक होकर नहीं बैठता। वह सबके लिये मार्ग छोड़ देता है। वह किसीसे कुछ भी नहीं चाहता क्योंकि वह विनियतचित्त है। वह सबके साथ अपने प्राणोंसे बढ़कर प्रेम करता है, क्योंकि जगत्‌में उसके लिये कोई पराया नहीं है। वह धन और यशकी प्रत्याशा नहीं करता क्योंकि वह निष्काम है। उसका हृदय किसी भी अवस्थामें विकल नहीं होता क्योंकि उसने अपना चित्त प्रभुको अर्पण कर दिया है—वह भगवान्‌का सेवक बन गया है। वैराग्यहीन प्रेम तो प्रेम नहीं है, वह है 'महामोह'। इसीलिये तो प्रेमिक वैष्णवोंको लोग वैरागी कहा करते थे। दुर्भाग्यसे आजकल वैरागीका अर्थ बिल्कुल पलट गया है। अतएव यह नहीं कहा जा सकता कि हमें वैराग्य नहीं चाहिये। असली वैराग्य तो अवश्य ही चाहिये।

वैराग्य हमें क्यों चाहिये? इस विषयपर आगे चलकर कुछ विस्तारसे कहा जायगा। पहले वैराग्यका स्वरूप क्या है यही बतलानेकी चेष्टा की जाती है। जो प्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें प्रसन्न नहीं होते और अप्रियकी प्राप्तिमें दुखित नहीं होते, इष्टके नाशमें जिनको शोक नहीं होता, इष्टकी प्राप्तिके लिये लोभीकी तरह जो हर्षविह्वल और अधिक पानेके लिये व्याकुल नहीं होते, जिनका शत्रु-मित्रमें समभाव है, जो मानापमानको समान समझते हैं, शीतोष्णादि सुखदुःखोंमें जिनको विकार नहीं होता, जो स्तुति-निन्दासे विचलित नहीं होते, जो बड़े चतुर स्थिरबुद्धि, सदा

सन्तुष्ट, सर्वभूतोंमें अद्वेष्टा, मैत्र, करुण, निरहङ्कार, क्षमाशील और सभी विषयोंमें अनपेक्ष और उदासीन रहते हैं वे ही वैराग्यवान् हैं। इन्हींको गीतामें भक्तके नामसे बतलाया है। इन सब लक्षणोंमें कुछमें तो चित्तवृत्तिको कल्याणमय भावोंमें लगानेकी बात कही गयी है, और कुछमें उसे असत्-कर्म या असत्-चिन्तनसे हटानेकी। इसीसे भगवत्प्रेमकी प्राप्ति होती है। अभ्यास करते-करते जब यह सब बातें सहज और स्वाभाविक वृत्तिरूपमें परिणत हो जाती हैं, बलात्कारसे इनको चित्तमें घुसानेकी चेष्टा नहीं होती, तब यह सब भक्तिके लक्षण कहलाने लगते हैं।

महर्षि पतञ्जलिने पर और अपर वैराग्यके दो सूत्रोंमें इस एक ही विषयका प्रतिपादन किया है। असली वैराग्य होनेसे ही हमें यथार्थ सुखका पता लगता है। हमलोग जिसे सुख कहते हैं वह यथार्थ सुख नहीं है। जगत्के सभी सुख क्षणभंगुर और दुःखदायक हैं, अतएव उनसे चित्तको हटाना ही पड़ेगा। ऐसा किये बिना असली सुख हमें कभी नहीं मिल सकता।

इतना होते हुए भी हम इस क्षणिक सुखकी मायाको नहीं छोड़ सकते! इस जरा-से सुखके लिये संसारमें कितनी लूट-मार मच रही है, यह सब जानते हैं।

इसीलिये तो कहा जाता है कि वैराग्यकी बड़ी आवश्यकता है। यदि अभी वैराग्यका उदय न हुआ हो तो विचारके द्वारा इन क्षणिक सुखोंकी आड़में छिपे हुए दुःखके भारको बाहर निकालकर देखना चाहिये। दोष सामने आ जानेपर उसपरसे आस्था

आप ही हट जायगी। जबतक विषय-सुखोंपर आस्था बनी हुई है तबतक ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति नहीं हो सकती। बारंबार दुःख ही मिलता रहता है। 'भूमैव सुखं नाल्पे सुखमस्ति' सुख भूमामें ही है अल्पमें नहीं है। अतएव असली सुखकी प्राप्तिके लिये इन क्षणिक सुखोंमें वैराग्य होना ही चाहिये।

अग्निके पास जाकर बैठिये, अपने शरीरमें गर्मी मालूम होगी। शरीर तो और समय भी रहता है तथा अग्निमें भी गर्मी रहती ही है, परन्तु सब समय तो अग्निसे आपके शरीरको क्लेश नहीं होता। जब शरीर अग्निके पास आता है तभी उसमें क्लेशका अनुभव होता है। इससे यह सिद्ध हो गया कि अग्निके साथ शरीरका कोई सम्बन्ध है। जब शरीर अग्निके समीप आता है तभी अग्नि उस शरीरके अन्दर अपने तापका सञ्चार कर देती है और शरीर भी अग्निके तापसे तप्त हुए बिना नहीं रह सकता। यह सब तो होता है पर बीचहीमें यह जलन क्यों होती है? इन्द्रियोंके साथ विषयोंका संयोग-वियोग तो चला ही करता है, परन्तु हम उसके लिये सुख-दुःखका अनुभवकर सुखी-दुखी क्यों होते हैं? यही तो असली प्रश्न है। अग्निके साथ शरीरका जन्मजन्मान्तरका संयोग भले ही क्यों न हो, स्त्री-पुत्रादिका विच्छेद सदा ही क्यों न होता हो यदि हमें प्रकृतिपुरुषका विवेक या आत्मा-अनात्माका यथार्थ ज्ञान हो तो इन सब बातोंसे हमारा कुछ भी नहीं बिगड़ता। हमारा यह 'अहं ममेति भाव' मैं-मेरापन ही सब चौपट कर रहा है। मनका यही संस्कार सबसे बड़ा बुरा संस्कार है। यही भवरोगकी जड़ है। चिकित्सा इसीकी होनी चाहिये।

यहाँपर आत्मा-अनात्माके सम्बन्धमें कुछ कहा जाता है, उसे जरा मन लगाकर पढ़ना चाहिये। हमारे सभी कामोंमें प्रत्येक चिन्तनमें 'मैं'का पुछल्ला लगा ही रहता है। मैं देखता हूँ, मैं करता हूँ, मैं सुनता हूँ, मैं सोचता हूँ, सबमें ही 'मैं'। श्रीगीता और अन्यान्य अध्यात्मशास्त्रोंमें कहा गया है कि यही सबसे बड़ी भूल है। मैं करता हूँ, मैं कहता हूँ इत्यादि विचार ही भूलसे भरे हुए हैं! वास्तवमें 'मैं' न कुछ करता है, न सोचता है और न बोलता ही है। ये काम हैं प्रकृतिके, हम भूलसे कह रहे हैं 'मेरे'। (प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः) प्रकृति*ही देह और इन्द्रियोंके आकारमें परिणत होकर सब प्रकारके कर्म कर रही है। इसमें आत्माका कर्तृत्व तो उसके देहाभिमानके कारण ही प्रतीत होता है। स्वयं उसमें कोई कर्तृत्व नहीं है। बुद्धिके भीतरसे हम आत्माको देख पाते हैं। बुद्धि मानो दर्पण है, परन्तु

---

* प्रकृतिमें चौबीस तत्त्व हैं—महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥ (गीता १३। ५) पाँच महाभूत (आकाशतन्मात्र, वायुतन्मात्र, अग्नितन्मात्र, जलतन्मात्र और पृथिवीतन्मात्र), अहङ्कार (रजोगुण और तमोगुणकी जागृतिसे अहङ्कारकी उत्पत्ति होती है, पञ्च-महाभूत इसी अहङ्कारसे उत्पन्न होते हैं), बुद्धि (सृष्टिकी आदिमें सत्त्वगुण बढ़नेसे ज्ञानात्मक महत्तत्त्व या बुद्धिकी उत्पत्ति होती है), अव्यक्त (मूल प्रकृति त्रिगुणमयी माया—सत्त्व, रज और तमोगुणकी साम्यावस्था), इन्द्रियाणि (दस इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा पाँच कर्मेन्द्रियाँ—वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ), एक (मन) इन्द्रियगोचर (तन्मात्र व्यक्त होकर स्थूलाकारसे इन्द्रियगोचर होते हैं, पाँच तन्मात्राओंके विकार—स्थूल आकाश, स्थूल वायु, स्थूल अग्नि, स्थूल जल और स्थूल पृथिवी या शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) यही चौबीस पदार्थोंका समूह क्षेत्र कहलाता है

दर्पणपर जहाँतक मैल जमा रहता है वहाँतक उसमें प्रतिबिम्ब साफ नहीं दीखता। इसी प्रकार गुणयुक्त मलिन बुद्धिमें आत्मा भी मलिन दीखता है। आत्मा वास्तवमें निर्विकार और साक्षी-स्वरूप है। आत्मामें जो विकार दीख पड़ता है वह विषयेन्द्रियके संयोगसे होनेवाला बुद्धिका विकार है। प्रकृतिसे उत्पन्न हुए तीनों गुण ही सुख-दुःख और मोहको उत्पन्न करते हैं। यह प्रकृतिका स्वतःसिद्ध व्यापार है। स्फटिक निर्मल तथा सफेद होनेपर भी जवा-पुष्पके संयोगसे वह लाल दीखने लगता है। इसी प्रकार बुद्धिमें जो सुख-दुःखके मैल होते हैं, वे बुद्धिके सान्निध्यवश आत्मामें अध्यस्त या आरोपित हो जाते हैं। इच्छा, सुख-दुःख, चेतना, धृति आदि सब प्रकृतिके धर्म हैं, आत्माके नहीं!

इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥

(गीता १३। ६)

अतएव जो कुछ भी कार्य हो रहा है सो सभी प्रकृतिका है। सुख-दुःखादि, मनोवृत्ति सभी क्षेत्रके धर्म हैं, आत्माके नहीं हैं। इसीलिये भगवान्ने कहा है—

नैव किञ्चित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्॥

(गीता ५। ८)

'तत्त्ववेत्ता योगी समझता है कि मैं कुछ भी नहीं करता' इसका कारण यही है कि आत्माके साथ योगयुक्त होनेपर उसमें प्रकृतिका अध्यास नहीं रहता। तब उसे इस बातका पता लग

जाता है कि आत्मा वास्तवमें कुछ भी नहीं करता। करना-कराना आदि सम्पूर्ण व्यापार प्रकृतिके हैं। प्रकृतिके कर्मोंका अहंकार आत्मामें क्यों होने लगा? आत्मज्ञानी इस बातको जानते हैं, इसीसे उनको कर्म करनेपर भी अहंकार नहीं होता।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्॥
अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पञ्चमम्॥
शरीरवाङ्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥
(गीता १८। १३-१५)

शारीरिक, मानसिक और वाचिक जो कुछ भी न्याय्य (धर्मानुमोदित) और अन्याय्य (धर्मविरुद्ध) कर्म मनुष्य करता है उसमें ये पाँच हेतु रहते हैं। अधिष्ठान (स्थूल शरीर), कर्ता (अहङ्कार), अनेक प्रकारके करण (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि), विविध चेष्टाएँ (पाँचों प्राण—प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान), और दैव* अर्थात् अधिष्ठात्री देवता—श्रोत्रके अधिष्ठात्री देवता दिशाएँ, त्वक्के वायु, चक्षुके सूर्य, जिह्वाके वरुण और घ्राणके अश्विनीकुमार, वाक्यके अग्नि, हाथके इन्द्र, पैरके उपेन्द्र, वायुके यम और उपस्थके प्रजापति, मनके

---

* 'दैव' शब्दसे पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मोंके संस्कार भी माने जाते हैं।
—सम्पादक

चन्द्रमा, बुद्धिके ब्रह्मा, अहङ्कारके शङ्कर और चित्तके विष्णु, ये सब देवगण ही ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कारको अपने-अपने विषयोंमें लगाते हैं। इन देवताओंकी प्रेरणासे ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको भोगती हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रियादिके कर्म सभी प्रकृतिके हैं, आत्माके नहीं हैं।

'कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते'—कार्य (शरीर), करण (सुखदुःखसाधनरूप इन्द्रियाँ) के सम्बन्धमें कर्तापन है प्रकृतिका, अतएव 'मैं' कर्ता नहीं है। इतनेपर भी, आत्मामें कर्तापन क्यों दीखता है? 'पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्'—पुरुषके प्रकृतिस्थ होने अर्थात् प्रकृतिके परिणाम या कार्य देहमें तादात्म्यभावसे निवास करनेके कारण प्रकृतिके गुण सुख-दुःखादिको वह भोग रहा है, ऐसी प्रतीति होती है। पुरुषको भोग प्रतीत होता है आत्मा और अनात्माकी पृथक्ताका ज्ञान न होनेके कारण अध्यास उत्पन्न होनेसे। एक पदार्थको दूसरे पदार्थमें आरोपित कर देनेको अध्यास कहते हैं। जैसे कोई कहे कि 'मैं स्थूल हूँ' यह स्थूलत्व धर्म देहका है आत्माका नहीं है, परन्तु मैं स्थूल हूँ यों कहकर देहका धर्म आत्मामें आरोपित कर दिया जाता है।

इस प्रकार विवेकपूर्वक आत्माको अनात्मासे अलग करके देखनेकी चेष्टाको ही वैराग्यका साधन कहते हैं। 'मैं' का स्वरूप ढूँढ़ते-ढूँढ़ते जब असली जगहपर मनुष्य जा पहुँचता है तभी भूमानुसन्धान (आत्माकी खोज) आरम्भ होता है। वेदने 'नेति

'नेति' कहकर यह बतला दिया है कि न यह 'मैं' है और न वह 'मैं' है। तब 'मैं' क्या है? भगवान्‌ने गीतामें इसका उत्तर दिया है।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
(१३।३१)

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः ॥
(१३।२२)

सर्वतःपाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥
(१३।१३)

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥
(१३।१४)

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च ।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥
(१३।१५)

अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम् ।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥
(१३।१६)

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥
(१३।१७)

अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥
(१३।१२)

ब्रह्म अनादि है, परम है, निरतिशय है, वह सत्—प्रमाणका विषय भी नहीं है और असत्–निषेधका भी विषय नहीं है परन्तु अघटनघटनापटीयसी शक्तिके द्वारा इस सम्पूर्ण चराचर जगत्में वह अवस्थित है—सर्वमय है। सोना जैसे कुण्डलके बाहर-भीतर सब जगह है इसी प्रकार ब्रह्म भी चराचर भूतप्राणियोंके अन्तर और बाहर स्थित है।

श्रुतियोंमें 'नेति नेति' क्यों कहा है ? एक मनुष्य बाघ देखनेको वनमें जा बैठा। उसे मालूम था कि बाघ वनमें रहता है परन्तु वह बाघको पहचानता नहीं था। वनमें केवल एक बाघ ही तो नहीं है, और भी अनेक जीव हैं। वह मनुष्य एक-एक जीवको देखता हुआ लक्षणोंसे मिलाकर कहता था कि यह भी बाघ नहीं है, यह भी बाघ नहीं है। यों करते-करते जब सबके सब प्राणी बाहर निकल गये तब यह सिद्ध हो गया कि इनमेंसे कोई भी बाघ नहीं है। अब जो बाकी रह गया है वही बाघ है। इसके बाद जब बाघ बाहर निकला तब उसका अपना एक स्वरूप भी प्रकट हो गया। यद्यपि यह स्वरूप उसने पहले देखा नहीं था, परन्तु अब उसके देखते ही मनमें पक्का विश्वास हो गया कि वास्तवमें यही बाघ है। इसीका नाम है 'प्रत्यय'। प्रत्यय करने-की वस्तुमें भी उसकी एक अपनी स्वाभाविकी शक्ति रहती है; वह प्रमाण-निरपेक्ष होकर भी अपनेको आप ही प्रकट करती है। वह स्वयं ही अपना प्रमाण है। जिस समय यह निश्चय हो जाता है कि ये सब वस्तुएँ आत्मा नहीं हैं, बस, उसी समय वह आत्मा—

ब्रह्म प्रकट हो जाता है । उस समय यह बात किसीके न समझाने-पर भी समझमें आ जाती है । यही 'नेति नेति' कहकर उसे ढूँढ़ना है और इसी भावका नाम है 'वैराग्य' । नेति नेतिके विचार-से जब यह पता लग जाता है कि इन सब वस्तुओंमें कोई भी परमात्मा नहीं है तब स्वयं ही यह भाव होता है—फिर इन सबको लेकर हम क्या करें ? चिरकालसे—जन्मजन्मान्तरसे जिसको ढूँढ़ रहे हैं, उस प्राणाराम—प्रियतम पदार्थकी प्राप्तिको छोड़कर इन कंकड़-पत्थरोंके लिये जी ललचानेसे क्या लाभ है । इस प्रकार सब ओरसे मनको अपने प्रियतमकी ओर लगा देना ही वैराग्य है । जबतक विषयोंकी तृष्णा रहती है, विषयोंमें स्वादका बोध होता है, तबतक यही समझना चाहिये कि अभी परमात्माको प्राप्त करनेकी प्रबल इच्छाका प्रादुर्भाव नहीं हुआ । 'मुझे विषय और भगवान् दोनों ही अच्छे लगते हैं' यों कहनेवालोंको मिथ्यावादी पाखण्डी समझना चाहिये । ऐसे लोगोंकी बातें भी सुनना उचित नहीं । अवश्य ही उन लोगोंकी बात दूसरी है, जिन्होंने समस्त इन्द्रिय-भोग्य विषयोंको भगवान्‌के यथार्थ प्रसादरूपसे ग्रहण करने-की शक्ति प्राप्त कर ली है । मैं परमात्माको चाहता हूँ, इसका अर्थ ही यह होता है कि मैं संसारके सुखसे सुखी नहीं हूँ, तृप्त नहीं हूँ, उससे और भी अधिक आनन्दकी मुझे चाह है । भगवान्‌में वह ऐकान्तिक आनन्द पूर्ण मात्रामें है । इसीलिये मुझे भगवान्‌की आवश्यकता है । इतनी तृप्ति, इतना आराम तथा इतनी शान्ति भगवान्‌के अतिरिक्त और कहीं भी नहीं मिलती । इसी हेतुसे मैं उनका आश्रय प्राप्त करनेके लिये लालायित हूँ । इसका अर्थ यह

नहीं है कि स्त्री, पुत्र, धन, ऐश्वर्य, विद्या, बुद्धि आदिमें सुख ही नहीं है, सुख सभीमें है परन्तु वह सुख निखालिस नहीं है। उस सुखके साथ दुःखकी बड़ी भारी मिलावट है। वह सुख वास्तवमें दुःखसे मिला हुआ ही है। इसीलिये इन सब सुखोंको छोड़कर मनुष्यजीवनका एकमात्र परम लोभनीय लक्ष्य उस यथार्थ, सत्य और अविमिश्र सुखकी खोज करना है। यही कर्तव्य भी है। बस, इस अकृत्रिम (असली) वस्तुको प्राप्त करनेके लिये सम्पूर्ण कृत्रिम (नकली) वस्तुओंको हटा देनेका नाम ही वैराग्य है। अब इसके बाद आता है—

परवैराग्य

महर्षि पतञ्जलिजीने इसका लक्षण बतलाते हुए कहा है—

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।

(योगदर्शन १। १६)

'पुरुषख्यातेः' अर्थात् आत्मसाक्षात्कार हो जानेके कारण 'गुणवैतृष्ण्यम्' दृश्यमात्रमें जो वितृष्णा हो जाती है उसे 'पर' अर्थात् श्रेष्ठ वैराग्य कहते हैं।

इस परवैराग्यके प्राप्त होनेसे साधकको अपनी प्राप्तव्य वस्तु मिल जाती है। इसीसे उसके हृदयमें अन्य किसी वस्तुके पानेकी जरा-सी भी आशा नहीं रह जाती। उसके हृदयदेशसे अविद्याकी ग्रन्थि सदाके लिये टूट जाती है। इस वैराग्यको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् पुनः पतनकी आशङ्का नहीं रहती। इसीको लक्ष्य करके श्रीभगवान्‌ने कहा है—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

उसके अविद्यादि सम्पूर्ण क्लेश अशेषरूपमें मिट जाते हैं, इसीसे उसकी ऐसी अवस्था होती है। यही मुक्ति है, इस मुक्ति और परवैराग्यमें कोई भी अन्तर नहीं है।

अब एक बार श्रीगीताके भावको फिर समझना चाहिये। भक्त बननेके लिये कन्धोंपर जो भार उठाना पड़ता है वह साधारण नहीं है। हाथ-पैर सिकोड़कर चुपचाप सो रहनेकी सुविधा तो उसमें है ही नहीं।

> यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
> आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते॥
> (गीता ३।१७)

'जिसकी आत्मामें रति है, जो आत्मतृप्त है और आत्मामें ही संतुष्ट है उसके लिये कोई कर्तव्य (शेष) नहीं है।'

ज्ञानीके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है, इस बातको सुनकर लोग बिना ही समझे-बूझे कहीं कर्म छोड़कर ज्ञानी बननेके लिये तैयार न हो जायँ, इसीलिये भगवान्‌ने पहलेसे सावधान कर दिया है कि—

> न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
> न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति॥
> (गीता ३।४)

'न तो कर्मोंके न करनेसे नैष्कर्म्य प्राप्त होता है और न कर्मोंके त्यागसे ही सिद्धि मिलती है।'

चित्तकी शुद्धि हुए बिना ज्ञान नहीं होता। चित्त-शुद्धिके लिये अपने-अपने आश्रमोचित कर्म करने चाहिये। 'अकर्मकृत'

बनकर कोई रह नहीं सकता, क्योंकि प्रकृति जबर्दस्ती उसे कर्ममें लगा देती है; अतएव कर्मेन्द्रियके निरोधसे ही कर्मत्याग नहीं होता। मन तो काम करता ही रहता है। इससे जो ज्ञानेन्द्रियोंको ईश्वराभिमुखी करके कर्मेन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य कर्म करता है वही फलासक्तिरहित पुरुष श्रेष्ठ है। अतएव 'नियतं कुरु कर्म त्वम्' तू नियत कर्मोंको कर, और—

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः॥
(गीता ३। १९)

'अनासक्त भावसे निरन्तर कर्तव्य-कर्मका भलीभाँति आचरण कर। अनासक्त भावसे कर्म करनेवाला पुरुष परमात्माको प्राप्त होता है।'

इन बातोंके रहस्यको जान लेनेसे ही सब बातोंकी मीमांसा हो जायगी। पहले 'आत्मरति' 'आत्मतृप्त' और 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः' इन तीनोंका उद्देश्य समझ लेनेपर 'तस्मादसक्तः सततम्' का मर्म समझनेमें सुभीता होगा। 'आत्मरति' अर्थात् जिसकी रति विषयोंमें नहीं परन्तु केवल 'आत्मा' में है। आनन्दप्राप्तिकी इच्छासे ही किसी पदार्थमें हमारी आसक्ति होती है। वस्तुमें आसक्त होना इन्द्रियोंका स्वभाव है। स्वभाव छूटता नहीं, तब क्या करना चाहिये? चित्तवृत्तिके मुखको उलट देना चाहिये। विषयके साथ जैसे ही इन्द्रियका संयोग हो वैसे ही इन्द्रियोंके साथ उस विषयी

(आत्मा) का सम्बन्ध जोड़ देना उचित है। महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्।

(योगदर्शन १।३)

अर्थात् चित्तवृत्तिके निरोधकालमें द्रष्टा (आत्मा) की स्वरूपमें स्थिति हो जाती है, इसे ही योग कहते हैं।

इन्द्रियके साथ विषयका संयोग होना, चित्तका इन्द्रियके द्वारा उसके विषयको ग्रहण करना है और इस ग्रहण करनेका अर्थ है—चित्तका विषयाकारभावको प्राप्त हो जाना। इसीसे जब किसी एक विषयका चिन्तन होता है ठीक उसी समय दूसरेका नहीं हो सकता। इन्द्रियके साथ विषयीका संयोग भी ठीक इसी तरह होता है। चित्त उस विषयी (आत्मा) के भावको प्राप्तकर तदाकार बन जाता है और वह उस आत्माके अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तुका चिन्तन नहीं कर सकता। अतएव द्रष्टाके स्वरूपमें स्थितिरूप योग सिद्ध हो जाता है। परन्तु इस स्थितिको प्राप्त करना केवल मनकी बात नहीं है। यदि यह इतना सहज होता तो साधनके कण्टकाकीर्ण पथपर कोई भी चलना नहीं चाहता।

चित्तकी पाँच वृत्तियाँ हैं। क्षिप्तम्, मूढम्, विक्षिप्तम्, एकाग्रम्, निरुद्धम् इति चित्तभूमयः। (योगभाष्य) अत्यन्त चञ्चलतावश चित्तका क्षण-क्षणमें एक विषयसे दूसरे विषयमें जाना जिस वृत्तिसे होता है उसे 'क्षिप्त' कहते हैं। आलस्य, तन्द्रा, मोह आदि वृत्तिको

'मूढ' कहते हैं। कभी चञ्चलता और कभी स्थिरता जिस वृत्तिसे होती है वह 'विक्षिप्त' कहलाती है। एक ही विषयमें वृत्तिके प्रवाहको 'एकाग्र' कहते हैं (ध्येय पदार्थके स्वरूपका ज्ञान इसी समय होता है) और समस्त वृत्तियोंके निरोधको 'निरुद्ध' कहते हैं।

'विक्षिप्त' अवस्थामें समय-समयपर जो चित्तकी स्थिरता होती है उससे सत्त्वगुण बढ़ता है। सात्त्विकताका चित्तमें जितना ही अधिक विकास होता है आत्माके अतिरिक्त अन्य पदार्थोंमें उतनी ही उसकी उदासीनता बढ़ती है और अन्यान्य वस्तुओंमें उदासीनता-का भाव जितना बढ़ता है उतनी ही आत्मदृष्टिमें उसकी अधिक आसक्ति होती है। यों करते-करते चित्त जब वृत्तियोंसे रहित हो जाता है तब 'चित्त' नामक किसी पदार्थका पता ही नहीं लगता। इस स्थितिमें संस्कारोंको ग्रहण करनेकी थैली नष्ट हो जाती है। इससे फिर किसी भी विषयके संस्कार वहाँ ठहर नहीं सकते।

अब पहलेके विषयपर आइये! आत्मरतिका रहस्य समझा गया, अब आत्मतृप्ति रहा। आत्मरति होते-होते ही आत्मतृप्ति होती है। यही द्रष्टाके स्वरूपमें अवस्थान है। इसके होनेपर ही—

यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

—का भाव होता है, इसीलिये आत्माको छोड़कर उसे बाहरके किसी भी पदार्थकी आवश्यकता नहीं होती। पक्षी जिन वृक्षोंपर बैठते हैं, यदि वे सब काट दिये जायँ तो वे सब आप ही आकाशमें उड़ जायँगे। बस, यहाँ भी ठीक इसी तरह होता है। जब किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रहती तब इस मन-पंछीके बैठनेके

लिये कोई स्थान भी नहीं रहता—विषयके अभावसे यह विषयाकार नहीं बन सकता। फिर उस 'आकाशकल्पम्' आत्मामें अर्थात् अपने आपमें स्थित होनेके सिवा इसके लिये और कोई उपाय नहीं रह जाता। अतएव यह उसीमें स्थिर हो जाता है। इसीको कहते हैं 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः'।

इस अवस्थाको प्राप्त पुरुषोंके लिये हमारी-आपकी भाँति, कोई कर्तव्य नहीं रहता। जब कर्तव्य ही शेष हो जाता है तब 'कार्यं कर्म समाचर' की दुहाई क्यों दी जाती है? इसका कारण पहले ही बतलाया जा चुका है। प्रकृतिका काम कभी बन्द नहीं होता परन्तु आत्मानात्म-विवेक हो जानेके कारण फिर उसमें यह भ्रम नहीं होता कि यह 'मेरा कार्य है' या 'मैं करता हूँ'। एक कारण और भी है, वह है लोकसंग्रह। आपका तो कर्तव्य पूरा हो गया, अतः आपको तो किसीसे कुछ भी प्रयोजन नहीं रहा परन्तु दूसरे लोगोंका तो प्रयोजन अभी शेष है, उनकी प्रवृत्ति तो नहीं मिटी, ऐसी अवस्थामें उनकी सहायता किये बिना कैसे काम चलेगा। यदि यह कहा जाय कि दूसरोंके लिये हम क्यों बेगार सहें? ऐसा कहना उचित नहीं। कारण, आप अकेले कुछ भी नहीं हैं। सबको साथ लेनेपर ही आपकी पूर्णता है।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः॥
(गीता ५।२५)

जिनके पाप क्षीण हो गये हैं, जिनका संशय मिट गया है,

जो संयतचित्त और सर्वभूतोंके हितमें रत हैं, ऐसे ऋषिगण ही ब्रह्मनिर्वाण या मोक्षको प्राप्त होते हैं। इसीलिये सर्वभूतोंमें 'आत्माकी' अपनी उपलब्धि करना ही सम्पूर्ण धर्मोंका सार और ज्ञानकी चरम सीमा बतलाया गया है। मेरी बुद्धिकी जडता जाती रही, मेरी बेड़ियाँ टूट गयीं परन्तु तब हाहाकार करते हुए अपने अन्यान्य साथियोंको छोड़कर मैं अकेला कहाँ भाग जाऊँ? एकके पास बहुत-सा अन्न है और दूसरा भूखकी यन्त्रणासे कराहता है ऐसे समय उस क्षुधापीड़ितको अन्न दिये बिना किसी ज्ञानवान्की भोजनमें रुचि होती है? भगवान्ने एक भक्तको अकेले ही स्वर्गमें खींचना चाहा, तब उसने कहा—

'प्रभो! आपने मुझे स्नेह-प्रेम क्यों दिया था और उस स्नेहके बन्धनसे मुझे पापियोंके साथ क्यों बाँधा था? नाथ! आज मैं उस बन्धनको नहीं तोड़ सकता। उनको छोड़कर मैं अकेला स्वर्ग नहीं चाहता। एक पापीको छोड़कर भी नहीं!' 'अरे, पापी बन्धुओ! तुम तैयार हुए या नहीं?' 'भगवन्! सुनिये, वे अभीतक तैयार नहीं हो सके हैं, इसीलिये उन्हें छोड़कर मैं आज कैसे आऊँ? यदि आप मेरा हाथ पकड़कर खींचते हैं तो खींचिये, हाथ अलग होकर चला जायगा, मेरा हृदय और शरीर तो इन पापियोंके पास ही पड़ा रहेगा ×××× अरे, पापी भाइयो! क्या अब भी जानेकी इच्छा नहीं हुई? नहीं प्रभो! अभी उनकी इच्छा नहीं हुई, तब मैं भी नहीं चलूँगा।'

भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादने भी कहा था—

नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एकः ।

'इन दीन असुरबालकोंको छोड़कर मैं अकेला मुक्ति नहीं चाहता ।'

इसीलिये जीवन्मुक्त पुरुष अपना कुछ भी न रहनेपर भी कर्म करते हैं । एक बात और है । ऐसे पुरुषोंका 'स्व' केवल साढ़े तीन हाथमें ही सीमाबद्ध नहीं रहता—उनका वह 'स्व' विस्तार पाकर सम्पूर्ण विश्वमें फैल जाता है । जो पहले केवल अपने शरीर और स्वजनोंमें ही सीमाबद्ध था, वह विश्वव्यापी हो जाता है ।

वैराग्यका असली अर्थ यही है—'अपनेको छोड़कर सबको ग्रहण करना ।' पहले जहाँ अपने लिये काम करके हम सन्तुष्ट रहते थे, वहाँ अब समस्त विश्वके लिये परिश्रम करना पड़ेगा । न तो केवल गुदड़ी ओढ़कर तंबूरा बजाते फिरनेसे ही काम चलेगा और न जरा-सी आँखें मूँदकर ध्यानका साज सजनेसे ही । अस्तु, इस विवेचनसे वैराग्यका मर्म समझमें आ गया होगा । अब—'वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते । गाण्डीवं स्रंसते हस्तात्' कहकर युद्धक्षेत्रसे भागनेकी आवश्यकता नहीं ।

मुक्ति पानेके लिये वैराग्यकी और वैराग्यके लिये कठोर साधनकी बड़ी आवश्यकता है । परन्तु डरने और घबरानेकी कोई बात नहीं । एक बड़े भरोसेकी बात सुनिये—

न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति ॥

'हे तात ! कोई भी कल्याण—शुभकर्म करनेवाला दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता ।'

इस बातके लिये भी डरना नहीं चाहिये कि मन इन भोग—ऐश्वर्यके प्रत्यक्ष सुन्दर सुखोंको छोड़कर उस काल्पनिक सुखकी ओर क्यों जाना चाहेगा ? चाहेगा, अवश्य चाहेगा ! पर चाहेगा धीरे-धीरे ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥

मन दुर्निग्रह और चञ्चल तो है ही परन्तु यह अभ्यास और वैराग्यसे वशमें हो सकता है ।

यही बात महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।

(योगदर्शन १ । १२)

योगदर्शनके भाष्यकार कहते हैं—

चित्तं नाम नदी उभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च । या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा । संसारप्राग्भारा अविवेकविषयनिम्ना पापवहा । तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।

दोनों ओर बहनेवाली चित्त नामक एक नदी है । वह कल्याणकी ओर भी बहती है एवं पापकी ओर भी । जो प्रवाह कैवल्यके अभिमुख है, विवेक-वैराग्यकी ओर जिसकी गति है, उसे कल्याणवहा कहते हैं । और जो प्रवाह संसारके अभिमुख है, अज्ञानकी ओर ही जिसकी गति है, उसे पापवहा कहते हैं ।

वैराग्यके द्वारा विषयकी ओर जानेवाला प्रवाह रुकता है और विवेकके अनुशीलनसे विवेकपथका स्रोत खुल जाता है। जब विवेकदर्शन करते-करते ऐसा हो जाता है तब एक आत्माके अतिरिक्त अनात्म-पदार्थमें किसी प्रकार भी आस्था नहीं रह सकती। थालीभर सोना मिल जानेपर धूलकी मुट्ठीके लिये कोई व्याकुल नहीं होता, अतएव स्वाभाविक ही विषयरसके ग्रहण करनेमें मनकी अनिच्छा हो जाती है। देहकी आसक्ति चली जाती है। इस लोक और परलोकके फलभोगोंमें वैराग्य हो जाता है, सब प्रकारके भोगोंसे मन हट जाता है। देहपिञ्जरमें आबद्ध पक्षी स्वतन्त्र होकर आकाशमें उड़ना सीख लेता है, इसलिये उसके अपने और परायेकी धारणा नष्ट हो जाती है। उस समय समस्त विश्व उसे अपना दीखता है इसीलिये उसके समीप शत्रु-मित्र और ऊँच-नीचका कोई भेद नहीं रह जाता। एक प्रज्ञा, एक आत्मा, एक महाचैतन्य बुद्धिके साक्षीरूपसे उसके निकट प्रकाशित हो जाता है। जगत् और जगत्‌का सारा व्यापार उसकी दृष्टिमें इन्द्रजालके समान कल्पित प्रतीत होने लगता है। इस अवस्थामें वह फिर किस वस्तुके लिये इच्छा रख सकता है? इसीलिये उसे परम वैराग्यकी प्राप्ति होती है, जिसे स्वस्वरूपमें अवस्थान कहते हैं। जिनको यह अवस्था प्राप्त हुई है वे ही असली वैराग्यवान् होकर धन्य और कृतकृत्य हुए हैं।

कल्याणकामियोंके चित्तको वैराग्य ही पराभिमुखी (ईश्वरार्पित) बनाता है। पराभिमुखी चित्तके द्वारा ही 'परम निवृत्ति' होती है। यह 'परम निवृत्ति' ही 'पर वैराग्य' है। भगवत्कृपासे इस पर वैराग्यकी हम सबको प्राप्ति हो।

साधनपथका अवलम्बन

दूरकी लम्बी यात्रामें जैसे मार्गमें काम आनेवाली वस्तुओंका संग्रह करना पड़ता है, इसी तरह विघ्न-कण्टकसे भरे हुए साधनके इस सुदीर्घ दुर्गम गहन मार्गको लाँघकर जानेके लिये भी हमें राह-खर्च आदिकी बड़ी आवश्यकता है। साधनपथका एक प्रधान सहारा है 'सत्संग'। अच्छा साथी नहीं मिलनेसे जैसे राह चलना सुखकर नहीं होता, इसी प्रकार साधनपथमें भी साथीके अभावसे पद-पदपर कष्ट उठाना पड़ता है; और बीच-बीचमें जब हृदय-पर निराशा छा जाती है तब कोई उत्साह दिलानेवाला न होनेसे आगे बढ़ना बहुत ही कठिन हो जाता है। इस मार्गमें सद्गुरु, ज्ञानी और संत भक्तगण ही प्रधान साथी हैं। इनके अभावमें श्रद्धासे

किया हुआ शास्त्र-अभ्यास और सद्ग्रन्थोंका पाठ भी कुछ-कुछ साथी-का काम देता है। इस मार्गका प्रधान पाथेय, जिसके बिना काम चल ही नहीं सकता और जिसके अभावमें इस मार्गमें चलना एक विडम्बनामात्र होता है, उसका सबसे पहले संग्रह करना चाहिये। वह पाथेय है 'वैराग्य'। यही साधनपथका प्रधान अवलम्बन है। एक भगवान्‌की ही हमको सबसे अधिक आवश्यकता है, सबको छोड़कर इस प्रकारकी भावना हो जाना ही वैराग्य है। मान नहीं चाहिये, प्रतिष्ठा नहीं चाहिये, पद-गौरव नहीं चाहिये, धन-सम्पत्ति नहीं चाहिये, विद्या नहीं चाहिये, पुत्र नहीं चाहिये, स्त्री नहीं चाहिये, कुछ भी नहीं चाहिये, मुझे चाहिये एक मेरा श्यामसुन्दर! मैं चाहता हूँ केवल उसीसे प्रेम करना, उसीकी भक्ति करना और उसीको सबसे बड़ा समझना।

> न धनं न जनं न सुन्दरीं
> कवितां वा जगदीश कामये।
> मम जन्मनि जन्मनीश्वरे
> भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि॥
> (शिक्षाष्टक)

इसी भावका नाम है वैराग्य! इस वैराग्यके बिना परमात्माको कोई नहीं पा सकता। इसके बिना किसीको भी उनके चरणकमलोंकी मधुर गन्धका पता नहीं लग सकता, कोई भी श्रीकृष्णका अनुपम सौन्दर्य नहीं देख सकता। गोपरमणियोंने कुल, भय, लज्जा और मान छोड़कर उसे चाहा था। दूसरे लोग जिन सब वस्तुओंकी कामना साग्रह किया करते हैं,

उन्हीं सब वस्तुओंका गोपियोंने सर्वथा तिरस्कार कर दिया था। इस प्रकार सबको छोड़कर केवल श्रीकृष्णको चाहना ही तो परम वैराग्य है। इस चाहमें कामना नहीं है, इससे संसारका बन्धन नहीं होता।

न हि मय्यर्पितधियां कामः कामाय कल्पते।

मुझे अर्पण की हुई बुद्धिका काम काम नहीं है। वैष्णवोंके वैराग्यका मूल मन्त्र यही है।

अनन्यममता विष्णौ ममता प्रेमसङ्गता।
भक्तिरित्युच्यते भीष्मप्रह्लादोद्धवनारदैः॥

इसीलिये वैष्णवगण अपनेको वैरागी कहा करते हैं। संन्यासी कहा करते हैं—

सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
न यस्य स्वः पर इति वित्तेष्वात्मनि वा भिदा।
सर्वभूतसमः शान्तः स वै भागवतोत्तमः॥
(श्रीमद्भा० ११। २। ४५, ५२)

'जो अपनेमें भगवान्‌की भावना रखकर सब प्राणियोंमें अपनेको और अपने भगवत्स्वरूप आत्मामें सब प्राणियोंको देखता है वही उत्तम भागवत (भक्त) है। जिसके हृदयमें धन और देहके लिये अपने-परायेका भेदभाव न हो ऐसा सब प्राणियोंको एक दृष्टिसे देखनेवाला शान्तपुरुष ही श्रेष्ठ भागवत (भक्त) है।'

परन्तु इतना सब जान-बूझकर भी, शास्त्रोंको पढ़कर भी

तो लोग धन-जन-मान-प्रतिष्ठा और पुत्र-स्त्रीकी ही कामना करते हैं, इसका कारण क्या है ? कारण है अज्ञान । अहं-ज्ञान ही असली अज्ञान हैं। शरीरमें 'मैं' बुद्धि ही जीवका भयङ्कर भ्रम है । यह भ्रम ही उसका सर्वनाश करता है। इसीको कहते हैं 'भवरोग' । 'मैं' यदि न रहे तो इन सबकी चाह किसे हो और क्यों हो ? अतएव इस मिथ्या 'मैं' को भूल जाना ही वैराग्यका सर्वप्रधान लक्ष्य है। इस मिथ्या 'मैं' को कैसे भूला जा सकता है ? इसपर विचार करना है। यह भूला जा सकता है सदसत् वस्तुके विचारसे—'किमौषधं तस्य विचार एव ।' भवरोगकी एकमात्र औषध है 'विचार' । विषय और विषयीका, 'मैं' और 'मेरे' का तथा प्रकृति और पुरुषके सम्बन्धका सम्यक् ज्ञान हो जानेपर कोई बाधा नहीं होती । कहीं विषयेन्द्रिय-के संयोगसे मोह न आ जाय इसलिये विचारकी धूनी सदा जगाये रखनी चाहिये । भ्रान्तिसे छुटकारा पाकर मुक्त होनेका यही एक-मात्र मार्ग है । घरमें जबतक दीपक जलता है तबतक कौन वस्तु कहाँ है इस बातका पता लगाना कठिन नहीं होता । इसी प्रकार विचारके दीपकसे—कौन-सी वस्तु क्या है ? कहाँ है ? उसकी क्या आवश्यकता है ? और उससे क्या सम्बन्ध है ? इन बातोंका निर्णय करना सहज हो जाता है। वस्तुके गुण और उसकी प्रयोजनीयता-का जहाँतक निश्चय नहीं होता वहाँतक उस वस्तुसे हमारा क्या प्रयोजन है और क्या सम्बन्ध है, इस बातका निर्णय होना असम्भव है । क्योंकि अज्ञानसे ही अवस्तुमें वस्तुका भ्रम होता है और इसीसे सत्यके निर्णयमें बड़ी बाधा आती है ।

एक बात और है । जिस वस्तुकी हम आवश्यकता नहीं

समझते, जिसको पानेके लिये हमारे मनमें कुछ भी आग्रह नहीं होता, वह वस्तु हमारे मनमें कभी स्थान नहीं पा सकती। हम सहजहीमें उसे भूल जाते हैं। परन्तु जिस वस्तुको हम आवश्यक समझते हैं उसके लिये हमारे मनमें सदा ही लोभ रहता है। हम उसे किसी तरह भी छोड़ना नहीं चाहते। वस्तुओंके प्रति जो इन्द्रियोंका इतना अनुराग है इसका कारण इन्द्रियोंका यह प्रयोजन-साधक सम्बन्ध ही है। इसीलिये हम स्त्री-पुत्र-परिवार-धन-कीर्ति आदिकी इतनी इच्छा करते हैं और इनके न मिलने या बिछुड़ जानेपर अपनेको परम अभागी मानते हैं। परन्तु अधिकांश समय तो हम अवस्तुको ही वस्तु मानकर उसपर आस्था कर लेते हैं। हीरा समझकर सामान्य काँचके टुकड़ेको बड़ी सम्हालके साथ पेटीमें रखकर फूले फिरते हैं। हमारे जीवनका वास्तवमें यही परम दुर्भाग्य है। यदि हम असली वस्तुकी या बड़े मूल्यवान् पदार्थकी सम्हाल करें तो कोई दुःखकी बात नहीं परन्तु हमारी तो अवस्तुके प्रति अकारण आसक्ति हो रही है और सत्य वस्तुके प्रति उससे भी बढ़कर उदासीनता है। इसीने तो हमें असलमें दीन और दुर्बल बना रक्खा है। हमारे इस मोह—इस भ्रमका प्रतिकार होना ही चाहिये। ऊपर कहा जा चुका है कि भ्रमकी दुर्गमता और अस्पष्टता-को हटानेके लिये विचाररूपी दीपककी आवश्यकता है। हम आजकल जिन वस्तुओंके लिये अत्यन्त ललचा रहे हैं यदि उनका अवस्तु होना प्रमाणित हो जाय तो बुद्धि फिर उनकी ओर देखना भी नहीं चाहेगी। परन्तु जहाँतक विचारद्वारा भ्रमका नाश नहीं हो जाता वहाँतक अवस्तुओंकी ओर ताकना कभी बन्द नहीं होता। जिन

सब वस्तुओंके लिये हमारा बड़े जोरका आग्रह है उनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है। हमलोग साधारणतः स्त्री, सन्तान, धन, कीर्ति और शरीरके स्वास्थ्य आदि वस्तुओंको ही प्रधानतासे चाहते हैं। अब विचार करके देखना है कि क्या वे पदार्थ वास्तवमें ही हमारे लिये लोभकी वस्तु हैं ? बाहरकी तरफसे देखनेपर तो इनसे बढ़कर प्राप्त करनेकी चीज जगत्में और कोई नहीं दीखती। परन्तु वैराग्यदृष्टिसे देखनेपर इनका दूसरा ही रूप दीख पड़ता है।

पहले शरीरपर विचार कीजिये। शरीर रक्त, मूत्र, पूय, कफ, मेद आदिसे भरा हुआ है। जरा-सा स्वास्थ्य बिगड़ते ही शरीरसे नाना प्रकारकी घृणित दुर्गन्धि निकलने लगती है। क्या यही शरीरका सौन्दर्य है ? मान भी लें कि शरीर सुन्दर है परन्तु वह सुन्दरता कबतक रहती है ? जरा (बुढ़ापे) का तीव्र कटाक्ष होते ही सारा मोहन रूप घड़ीभरमें जीर्ण और मलिन हो जाता है। बाल पक जाते हैं, दाँत गिर पड़ते हैं, मांसपेशियाँ ढीली पड़ जाती हैं, दीखना कम हो जाता है, कानोंसे सुनायी नहीं देता, हाथ-पैरोंकी शक्ति जाती रहती है। यह अवस्था मानो हमारे जवानीके रूप और बलके गर्वकी दिल्लगी उड़ाती है। इसके सिवा शरीरमें कितने ही दुःखजनक रोग रहते हैं। इसकी क्षणभंगुरताकी बातका विचार करनेपर तो इसके लिये अनावश्यक आग्रह बढ़नेकी सम्भावना बहुत ही कम रह जाती है।

घर अच्छा लगेगा इसीलिये लोग घर नहीं बनाया करते। घरमें लोग रहेंगे, इसलिये घरका प्रयोजन है। यदि हम मोहसे घरमें

रहनेवालोंकी तो कुछ भी परवा न करें और केवल घरको ही सजाते रहें तो लोगोंका हमें पागल समझना क्या बिल्कुल अनुचित होगा? घरमें मनुष्य रहते हैं, इसलिये घर साफ-सुथरा रखना चाहिये, यह ठीक है परन्तु घरकी सम्हालमें घरमें रहनेवालोंके प्रति अवहेलना की जाय तो वह कार्य बुद्धिमानीका नहीं होता। शरीर-की यही दशा है। हम शरीरको तो सजाते हैं पर शरीरके अन्दर रहनेवाले सत्पदार्थको भूल जाते हैं। इसके सिवा, हम शरीरके लिये कितनी ही चेष्टा करें, कितने ही आरामसे इसे रखनेका उपाय करें परन्तु यह सदा कभी नहीं रहेगा। नाश होगा ही, आज हो या सौ वर्षके बाद। इस बातका भी कोई निश्चय नहीं है कि यह जबतक रहेगा तबतक स्वस्थ ही रहेगा। शरीरसे प्रारब्धकर्मके भोग होते हैं, न मालूम कब कौन-सा प्रारब्ध भोगना पड़े? अतएव इसपर विश्वास करके अन्तमें दुःख पानेसे क्या लाभ है? अभी एक आदमी सबल और स्वस्थ शरीरसे निःशंक घूम रहा है। कौन कह सकता है कि एक घड़ीके बाद ही उसे लकवा नहीं मार जायगा? या उसपर बिजली नहीं गिर पड़ेगी, अथवा वह गिर-पड़कर या किसी घातकके आघातसे छिन्न-विछिन्न नहीं हो जायगा? आँखोंसे खूब दीखता है, कानोंसे अच्छा सुनता है, परन्तु कौन कह सकता है कि इन्द्रियोंकी यह शक्तियाँ अकस्मात् लोप नहीं हो जायँगी? जो इतना अस्थिर है, इतना नाशवान् है उसके प्रति आस्था करना और उसीके लिये जीवनकी सारी शक्ति और चेष्टाका व्यय करना कभी बुद्धिमानीका कार्य नहीं कहा जा सकता।

इसपर इस शरीरके कई खयाल होते हैं और मनके द्वारा

बढ़ाये हुए वे खयाल इस शरीरको कभी ठीक नहीं रहने देते। इसे नाना प्रकारके रोगोंका घर बना देते हैं। इसलिये शरीरको ऐसा जानकर बुद्धिमान् और कल्याणकामी पुरुषोंको इसपर कभी विश्वास नहीं करना चाहिये।

दूसरा विषय है 'स्त्री'। स्त्रीके भोगोंमें आसक्त चित्तकी अत्यन्त दुर्गति हम नित्य देखते हैं। अवश्य ही जन्मजन्मान्तरके संस्कार और अभ्यासके कारण हम इसको तुच्छ कहकर एक बार ही भुला नहीं सकते। बड़े-बड़े पण्डित, विद्वान् और साधन-सम्पन्न पुरुष भी गिर जाते हैं। इसकी शक्ति बड़ी प्रबल है परन्तु चेष्टा करनेपर धर्मविरुद्ध भोगादिसे हम अपनी वृत्तियोंको रोक ही नहीं सकते ऐसी कोई बात नहीं है। शरीरकी बात पहले कही जा चुकी है परन्तु इस शरीरकी भोगेच्छा तो उससे भी अधिक बीभत्स और दुःखोंसे भरी हुई है। जो इसमें अत्यन्त आसक्त होते हैं उनका कालादिके द्वारा जीर्ण शरीर और भी जीर्ण हो जाता है और वह अनेक रोगोंके खेलनेका मैदान बन जाता है। सौन्दर्य, यौवन और भोगकी शक्ति सभी क्रम-क्रमसे चले जाते हैं। रह जाती है केवल भोगकी आसक्ति, जो बुढ़ापेमें भी मनमें सुख-शान्ति नहीं आने देती। जो इतने अनर्थकी जड़ है उसके प्रति अनास्था करना क्या बुद्धिमानी नहीं है? भोग्य वस्तुको भोगकर वास्तवमें हम ही भोगे जाते हैं और जीर्ण होते हैं। शरीरका भोग तो सामान्य-सा होता है। शरीरके कन्धेपर चढ़कर मन अलबत्ता कुछ भोग करता है परन्तु शरीरकी बड़ी भारी हानि होती है। उपभोगमात्र केवल मनका

ही वेग है। यह वेग पहाड़ी नदीके प्रवाहके समान अकस्मात् बड़े जोरसे आता है। बस, मन इसके वेगमें बह न जाय, मनके लिये इतनी-सी शिक्षाका हो जाना ही मनुष्यत्वलाभका उपाय है।

जरा धीरता और स्थिरताके साथ वेग सह लेनेमें कोई कष्ट नहीं है। परन्तु इसका वेग नहीं सह सकनेपर कितना अनावश्यक अनर्थ हो जाता है, उसकी कल्पनासे ही हृदय काँप उठता है। इसकी परिणाम-विरसता और क्षणभंगुरताके खयालसे भी इसका लोभ किसीको नहीं करना चाहिये। कितना-सा सुख है? कितने-से समयके लिये तृप्ति है? हिसाब लगानेपर हानि और दुःख ही अधिक रहते हैं। इन सब बातोंपर विचारकर स्त्री-भोगसे विरत होना बुद्धिमानी है। कामासक्तका शरीर और मन सभी कुछ बलहीन हो जाता है। अध्यात्मद्वारपर तो ताला ही लग जाता है। भगवान्‌के अस्तित्व और अपनी शक्तिको वह जान नहीं सकता। जितनी हानि इससे होती है उतनी हमारे किसी महान् शत्रुसे भी नहीं हो सकती!

तीसरा विषय है सन्तान। अवश्य ही सन्तानकी आवश्यकता है और सन्तानके प्रति ममता भी रखनी चाहिये। परन्तु जो ममता मोह उत्पन्न करती है, सदसद्विचारबुद्धिको ध्वंस करती है, वैसी आसक्ति या ममता नहीं होनी चाहिये।

यथासाध्य और यथाकर्तव्य सन्तानकी देखभाल रखनी चाहिये। परन्तु उससे कोई आशा नहीं रखनी चाहिये। 'सन्तान ऐसी ही बनावेंगे' ऐसा दृढ़तासे नहीं कहा जा सकता। परन्तु

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सन्तानको चरित्रवान् बनानेकी चेष्टा करना माता-पिताका कर्तव्य और धर्म है। और इसके लिये तैयारी भी पहलेसे ही करनी चाहिये। सन्तानको हम जैसी बनाना चाहते हैं उसके जन्मके पूर्व ही हमें उसकी चेष्टा करनी चाहिये। सन्तानमें हम जिन गुणोंका विकास देखना चाहते हैं, वे गुण अभ्यास और चेष्टासे हमारेमें पहले ही आ जाने चाहिये। नहीं तो हम उन्हें देंगे क्या? वे पावेंगे कहाँसे? माता-पिताकी प्रवृत्ति और चरित्र निर्मल या पवित्र नहीं होंगे तो अच्छी सन्तान-का होना असम्भव है। सेवक जैसे मालिककी आज्ञा माननेको तैयार रहता है उसी प्रकार हमें सन्तानका पालन भी भगवान्का आदेश मानकर करना चाहिये। इसमें अपना आराम नहीं ढूँढ़ना चाहिये और न विरक्ति ही दिखलानी चाहिये। नौकर मालिकके धन-रत्नकी सँभाल और रक्षा करनेके लिये बाध्य है परन्तु वह फलका अधिकारी नहीं है। इसी प्रकार हम भी सन्तानका पालन करनेके लिये बाध्य हैं। परन्तु सन्तानकी उन्नति-अवनति या जन्म-मृत्युमें हमें विचलित नहीं होना चाहिये। जो जानेकी वस्तु है उसे जाने देना ही होगा। अवश्य ही ऐसे समय मोह होता है परन्तु उस मोहमें कहीं परलोक न बिगड़ जाय और इसलिये भी सन्तानपर अधिक आसक्त नहीं होना चाहिये। प्रथम तो इनके विच्छेदका दुःख अनिवार्य है और दूसरे सन्तानका चरित्रहीन होना भी कोई बड़ी बात नहीं है।

धन और कीर्ति भी नदीके स्रोतकी तरह चञ्चल है। आज जिसको अतुल भोगसम्पत्तिमें बढ़ते हुए देखा जाता है कल उसी-

की ऐसी दुर्दशा होती है कि उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। अवस्थाके परिवर्तनसे स्वर्गसे नरकमें पड़नेकी तरह मनुष्य-को कितना नीचा बनना पड़ता है इस बातको प्रत्यक्ष देखनेपर भी सहसा विश्वास नहीं होता। आज हमारा बहुत ही सम्मान हो रहा है, हमारे ऐश्वर्यसे लोगोंकी आँखें चौंध जाती हैं। वही हम कुछ दिनों बाद राहके भिखारी होकर भीख माँगते फिरते हैं। एक मुट्ठी अन्न भी कठिनतासे मिलता है। हमारी पहलेकी सम्पत्तिकी बात किसीसे कहनेपर वह पागल समझकर हँसता है और जानने-वाले लोग हमें अभागा और श्रीहीन कहकर गालियाँ देते हैं। एक दिन जो धनके लोभसे हमारा सम्मान करते थे वही आज उससे भी अधिक अपमान करते हैं। यही तो है धनकी मर्यादा!

जो नित्य नहीं है, जो सनातन नहीं है, जो वास्तवमें स्वप्नमें मिली हुई वस्तुके समान ही मिथ्या है उसके लिये इतनी दौड़-धूप करनेसे क्या लाभ होगा? हमारा कोई एक प्रारब्ध है ही उसके कारण जो मिलना होता है सो मिलता है, जो भोग करने-को होता है उसका भोग होता है। परन्तु लोभीकी तरह इन सब वस्तुओंकी ओर चाहना तो नहीं करनी चाहिये। समझ तो लिया कि इनमें कोई नित्य नहीं है किसीसे भी हमें प्रकृत शान्ति नहीं मिल सकती, फिर इनके पीछे-पीछे मनको दौड़ाकर उसे थकाना कभी उचित नहीं है। जो कुछ होना हो सो हो। हमारा तो एक-मात्र कर्तव्य यही है कि मनको निश्चल भावसे परमात्माके चरण-कमलोंमें निवेदन कर दिया जाय। अपनेमें अपनी प्रतिष्ठा की जाय

और अहंकार छोड़कर श्रीभगवान्‌का श्रीमन्दिर समझकर समस्त जीवोंकी श्रद्धाके साथ यथासाध्य सेवा की जाय।

यह तो समझमें आ ही गया कि हमें और कुछ भी प्राप्त नहीं करना है जिसके लिये वृथा मनको कष्ट दिया जाय! हमारी वाञ्छित वस्तु और हमारा लोभनीय धन केवल भगवान् हैं। उन्हें पानेके लिये, उन्हें समझनेके लिये और उनमें प्रीति करनेके लिये अवश्य ही चेष्टा करनी पड़ेगी। अब दूसरी चिन्ता क्यों करनी चाहिये? व्यर्थके संकल्प-विकल्पोंसे मनको सताना और दुःखी करना उचित नहीं। भगवान्‌को छोड़कर और जो कुछ सोचना है सो सभी अनर्थ है, सभी विनाशकी ओर ले जानेवाला है; अमृतका अधिकारी करानेवाला कदापि नहीं। इसीलिये श्रुतिमें कहा है—

> यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्ष-
> मोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
> तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या
> वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः॥
>
> (मुण्डक० २। २। ५)

'जिसमें द्युलोक, अन्तरिक्ष, पृथ्वी और मन-प्राण सभी समर्पित हो गये हैं उस एक आत्माको ही तुम जानो, और वाक्योंको छोड़ दो, आत्मा ही अमृतकी प्राप्तिका सेतु है।'

> यः सर्वज्ञः सर्वविद्यस्यैष महिमा भुवि।
> दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः॥

मनोमयः प्राणशरीरनेता
प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय।
तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा
आनन्दरूपममृतं यद्विभाति॥
(मुण्डक० २।२।७)

'जो सर्वज्ञ और सर्वविद् है, जिसकी यह महिमा पृथ्वीमें विराज रही है, वही यह आत्मा उज्ज्वल ब्रह्मपुरके आकाशमें प्रतिष्ठित है। वही मन, प्राण और शरीरका नेता एवं देहमें प्रतिष्ठित है। आनन्द और अमृतरूप है। धीर पुरुष दिव्यज्ञानसे उसे हृदयमें देख पाते हैं।'

इस 'महतो महीयान्' आत्माके प्रति प्रेम हो जानेपर फिर किसी भी अवस्तुमें प्रेम नहीं रह सकता। विषयोंकी चाहना या चिन्ता मनमें रहती ही नहीं अतएव मन जिस तरहसे विचारवान् बने वही प्रयत्न करना चाहिये।

इस प्रकारका विचार-व्यवस्थित चित्त ही साधनके लिये उपयोगी होता है। ऐसे मनमें स्वाभाविक ही अन्य वस्तुपर आसक्ति नहीं रहती और अन्य वस्तुपर आसक्ति नहीं रहनेसे साधनके समय मन व्याकुलता और विक्षेपसे शून्य रहता है। इस अवस्थामें चित्तके स्थिर होनेमें देर नहीं होती। इस प्रकार विचारसे उत्पन्न हुए वैराग्यके द्वारा चित्त जबतक भर नहीं जाता तबतक साधनसे

विशेष लाभ नहीं होता। जितना परिश्रम किया जाता है, चित्त वैराग्ययुक्त न होनेसे उसका अधिकांश व्यर्थ ही चला जाता है।

विचार एक बार करनेसे ही काम नहीं चलेगा। पुनः पुनः विचार करना चाहिये। विचारका शस्त्र लेकर प्रतिदिन मनके साथ लड़ना होगा। साथ-साथ साधन भी चलाना होगा। यों करते-करते धीरे-धीरे चित्त वशमें होगा। जब विषय स्पष्टरूपसे हेय प्रतीत होने लगेंगे तब चित्त उन विषयोंसे आप ही हट जायगा और उसकी समस्त शक्ति तथा समस्त ममता जाकर लग जायगी एकमात्र श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें। बस, यही मुक्तिका पूर्व लक्षण है। मन और ममता ही बन्धनके कारण हैं। मन और ममताकी गति यदि परमात्माके पादपद्मोंकी ओर हो जाय तो वह ममता ही—वह भगवदासक्ति ही मुक्तिरूपसे विकसित हो उठती है। इस तरह एक परमात्माके सिवा अन्य किसी भी पदार्थमें ममता या आसक्ति न रहनेका नाम ही वैराग्य है। विचारकी सहायतासे जबतक वैराग्य विकसित नहीं होता, तबतक साधनका परिश्रम प्रायः निष्फल होता है। इसीलिये साधनपथका प्रधान अवलम्बन है वैराग्य। इस वैराग्यसे ही ईश्वरमें प्रेम बढ़ता है। जब बादल दृष्टिशक्तिको रोक लेते हैं तब हमें सूर्यका प्रकाश नहीं दीखता। बादलोंके हट जानेपर ही सूर्यका प्रकाश देखनेमें आता है। इसी प्रकार अविद्यारूपी मेघोंसे आच्छन्न चित्तमें हमें परमात्माके दर्शन नहीं होते। विचारवायुसे जिस क्षण ये अविद्याघन हटा दिये जायँगे

उसी क्षण उस सर्वगत सर्वलोकचक्षु जगत्प्रसविताकी पूजनीय शक्तिका हम प्रत्यक्ष साक्षात्कार कर सकेंगे। विचारद्वारा विषयोंकी तुच्छता दृढ़ हो जानेपर चित्तका उनके प्रति आकर्षण नहीं रहता जिससे मनकी संकल्प-विकल्पात्मक तरंगे शान्त हो जाती हैं। इस प्रकारका निर्विषय मन ही श्रीभगवान्‌का सिंहासन या पीठस्थान है। इसी अवस्थामें भगवत्-स्मरणसे शरीर-मन क्षण-क्षणमें पुलकित और रोमाञ्चित होने लगते हैं। उस समय मनके लिये यही एक विषय रहता है, मनकी सारी टान एक जगह आकर मिल जाती है और उसीके फलस्वरूप हृदयग्रन्थि खुल जाती है। जो मन नाना स्थानों और नाना विषयोंमें फैला हुआ था, वही जब एकनिष्ठ और एकाग्र हो जाता है तब उसकी असीम शक्तिका विकास होता है। समस्त शक्ति केन्द्राभिमुखी हो जानेसे उसका बल अत्यन्त बढ़ जाता है। बस, इसी बलवान् और विषयासक्ति-शून्य निर्मल मनमें आत्माका प्रतिबिम्ब स्पष्ट प्रकाशित होता है। इसके बाद आत्मानुभूति और आत्मरतिका प्रवाह बहने लगता है, तीनों तापोंकी ज्वाला शान्त हो जाती है और जीवन-मुक्तिके परमानन्दसे साधक धन्य हो जाता है।

ज्ञानाग्नि

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥

(गीता ४ । ३७)

सभी जानते हैं कि अग्नि क्या करती है। फिर भी कुछ बता देता हूँ। काठ पाती है तो उसे जलाकर खाक कर डालती है, लोहा या किसी दूसरी धातुमें लगती है तो उसे गलाकर जलवत् कर देती है, सोना चाँदी आदि कीमती धातुओंमें कोई खाद मिली होती है तो अग्नि उसे निकालकर धातुको निर्मल और उज्ज्वल बना देती है; उसकी चमक बढ़ा देती है। कहीं घर-द्वारमें लग जाय तब

तो कहना ही क्या है ? भलीभाँति जलाकर उसके चारों ओर मनुष्यके शरीर और मनद्वारा रचित व्यवधानोंको नष्ट कर डालती है । ठीक नजर रक्खी जाय तो खाद्य-वस्तुओंको पकाकर भोजनके उपयोगी वना देती है । जलका लोटा आगपर चढ़ा दो, वह उसको पकाकर उसके अन्दर रहनेवाले बुरे कीटाणुओंका नाश कर उसे स्वास्थ्यके अनुकूल वना देती है । तुम्हारी देहपर यदि एक लाल अँगारा डाल दिया जाय तो तुम कैसे ही सहिष्णु क्यों न हो, तुरन्त उठकर नाचना शुरू कर दोगे । प्राचीन कालमें यही अग्निदेव एक दक्ष जजकी भाँति धर्माधर्म और सत्यासत्यका निर्णय करते थे । पता नहीं, हमारे सौभाग्य या दुर्भाग्यसे आजकल उन्होंने इस कामसे पेन्शन ले रक्खी है । जो कुछ भी हो, जिस अग्निमें इतने गुण हैं, वह देवता नहीं तो क्या है ! जो जडबुद्धि हैं, वे ही अग्निकी गणना जड पदार्थोंमें करते हैं ।

वड़े जोरसे चिल्लाहट मचती है 'अरे आग लग गयी ! सव कुछ खाक हो गया !! मुहल्ला, गाँव, देश सव भस्म हो गया, हाय मरे !' अग्निकी इस भीषण विकराल मूर्तिको देखकर लोग 'त्राहि त्राहि' पुकारने लगते हैं, किन्तु भाई ! यह आग लोगोंका सर्वस्व नाश करनेके समय भी उनका जितना उपकार करती है, उपकार करनेके लिये कमर कसकर आनेवाले मनुष्य उतना उपकार नहीं कर सकते । वायुके अन्दर रहनेवाले जो रोगके कीटाणु विविध भोग्य-पदार्थोंमें स्थान पानेके लिये चौवीसों घंटे घूमा करते हैं, घर जलानेके वहाने यह अग्नि उन सव डाकुओंको देश-निकाला दे देती है । मनुष्यका ऐसा मित्र और कौन होगा ? इसीलिये तो

आर्य-ऋषियोंने अग्निदेवको अपने यज्ञ-कर्मोंमें पुरोहितका पद दिया था ।

इस अग्निके अनेक रूप हैं और वे सभी सर्वत्र ही जलनेके कामभें लगे हुए हैं । पेटके अन्दर यही जठराग्नि है । यह प्रतिदिन खाये हुए चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय चतुर्विध आहारको पकाती है और उसका पकाया हुआ आहार ही मनुष्यके अन्दर कान्ति, शक्ति और बुद्धिके रूपमें परिणत होता है । यही मनुष्यजातिमें पुष्टि, नीरोगता और शान्ति फैलाकर मनुष्यको एक अपूर्व श्री प्रदान करती है । प्राणोंमें तनिक-सी अग्नि मन्द होते ही मनुष्यको वैद्योंके दरवाजे खटखटाने पड़ते हैं और जलवायु वदलनेके लिये देश-विदेश यात्राकी धूम मच जाती है । मनके अन्दर भी इसी अग्निका एकछत्र साम्राज्य है । उसमें कभी कामाग्नि, कभी चिन्ताग्नि और कभी क्रोधाग्निके रूपमें इसका उदय होता है । उस समय यह सारा विश्व भ्रमसे एक कुम्हारके चक्रके समान जान पड़ता है । ऐसी स्थितिमें शरीर और शरीरकी धातुएँ ही काठका काम देती हैं । वही जलकर खाक होती हैं ।

इसी अग्निकी एक और मूर्ति है एवं उसके समान पवित्र और हितकारी संसारमें और कुछ भी नहीं है । उसका नाम है 'ज्ञानाग्नि' ।

देहाभिमान, उसके कर्म और समस्त प्रवृत्तियाँ इस ज्ञानाग्निमें ईंधन बन जाते हैं । जैसे अग्निमें जितना ही ईंधन पड़ता है, वह उतनी ही जोरसे धधकती है और अन्तमें जैसे एक अपूर्व

ज्योति बनकर सब दिशाओंको प्रकाशित कर देती है वैसे ही तप और पुण्यके प्रभावसे जब यह ज्ञानाग्नि जल उठती है, तब समस्त कर्मराशि एकबारगी ही भस्म हो जाती है और चित्तपर अपूर्व ज्योतिका अधिकार हो जाता है। इसी ज्योतिकी सहायतासे हम शुक्ल या देवयान-मार्गको पहचान सकते हैं।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।

(गीता ८। २४)

अग्नि जबतक काठके अन्दर रहती है, तबतक उसे कोई देख नहीं सकता, वह अव्यक्त रहती है इसलिये केवल काठ ही दीखता है। परन्तु उसके प्रकट हो जानेपर फिर वह काठ—काठ नहीं रह जाता; वह भी अग्नि ही बन जाता है। इसी प्रकार यह ज्ञानाग्नि हमारे अन्दर गुप्तरूपसे निवास करती है, जब संत या गुरुकी कृपासे यह प्रकट हो जाती है, तब इस देहतकको ज्योतिर्मय बना देती है। शरीर भी फिर केवल ज्योतिरूप ही प्रतीत होता है। फिर जड कुछ रह ही नहीं जाता। जैसे अग्निमें जलकर जब काष्ठ भस्मावशेषरूपमें परिणत हो जाता है, तब केवल अग्निज्योतिका एक 'अरूप' तेज ही सर्वत्र छाया देखा जाता है, वैसे ही जब मनुष्यके अगणित कर्मकाष्ठ इस ज्ञानाग्निमें जलकर खाक हो जाते हैं, तब केवल ज्ञानाग्नि ही जलती रहती है। मनुष्यकी दुष्ट चिन्ताएँ संकल्प-विकल्प और अहंकार आदि समस्त कामशरीर इस प्रदीप्त ज्ञानाग्निकी लपटोंमें विलीन हो जाते हैं। यह अग्नि हमारे-तुम्हारे सबके अन्दर है। इसी ज्योतिका विकास करने-

के लिये गुरुरूपी चकमककी आवश्यकता है। इसीके लिये मनुष्य-की जीवनव्यापिनी साधना है। इस अग्निके प्रकट होते ही, सूर्योदयसे अन्धकारके विलीन हो जानेकी भाँति, समस्त अज्ञान, सभी जडता और कर्मके कुल बन्धन कहाँ समा जाते हैं, कुछ पता ही नहीं लगता। तब रह जाती है केवल अग्नि—सर्वमयी अग्नि। केवल प्रकाश, केवल ज्योति, केवल आलोक। तब केवल आनन्दसे समस्त दिशाएँ सर्वथा भर जाती हैं। आनन्द और आलोक—प्रकाशसे समस्त दृश्योंमें एक अपूर्व सौन्दर्यका विकास हो जाता है। उस समय यह प्रतीत होता है कि बस, एक ही अखण्ड चेतन त्रिभुवनमें छाया हुआ है।

जडता शरीरको भारी कर देती है। प्रत्यक्ष ही देखा जाता है कि आलसी मनुष्य उठना ही नहीं चाहता। ऐसे लोगोंको सभी काम भारी माळूम होते हैं। अग्निके समीप रहनेसे जडताका नाश होता है। जाड़ेके दिनोंमें जब सरदीके मारे सारा शरीर ठिठुरकर जडवत् हो जाता है, तब अग्निकी कृपासे ही हम जडत्वके कठिन बन्धनसे छूटा करते हैं। अग्नि शोकका हरण करती है। मोहरूपी कारणका कार्य ही तो शोक है। अग्नि प्रकाश-स्वरूप है, इसीलिये अग्निकी प्रकाशमयी सत्त्व-शक्तिके सामने मोहकी तामसिक शक्ति नहीं ठहर सकती। अग्निकी शोकनाशक-ताका पता शव-दाहके समय खूब लगता है। अग्निमें इतने गुण होनेके कारण ही प्राचीन कालमें ब्राह्मणोंने अग्निको जीवनका चिरसंगी बनाया था। वे अपने भीतर-बाहर सदा-सर्वदा ही इस

अग्निकी धूनी जगाये रखते थे। बाहरकी अग्नि तो हमारे सामने ही है, भीतरकी अग्नि है ज्ञान। वह भी लौकिक और अलौकिकके भेदसे दो प्रकारका है। जिससे इन्द्रियसाध्य वस्तुएँ जानी जाती हैं, वह लौकिक ज्ञान है और जिससे अतीन्द्रिय-वस्तुका ज्ञान होता है, वह अलौकिक है। इस अग्निकी उपासना करते-करते 'यो देव अग्नौ' अग्निदेव प्रकट हो जाते हैं। वह अग्निदेव ही हैं हमारे 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' आत्माकी खोज करनेवाले इसीका पता पाकर निश्चिन्त हो जाते हैं। इस परम तत्त्वको पाकर इसके सामने वे अन्यान्य लाभोंको कोई लाभ ही नहीं मानते। आत्मतत्त्वकी खोज करनेवाले साधक इसी परमज्ञानके लिये जीवन-भर ब्रह्मचर्यमें अचलप्रतिष्ठ होकर रहते हैं। इस ज्योतिका प्रत्यक्ष दर्शन करके अर्जुन भयभीत होकर विह्वल स्वरोंमें पुकार उठे थे—

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ता-
ल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः ।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं
भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥
(गीता ११।३०)

पहले-पहले मनुष्य रोग, शोक, अभाव और दुःखकी अग्निमें जला करता है, तो भी उस अग्निको सिरसे नीचे उतारना नहीं चाहता, वह इसी अग्निके प्रवाहमें तैरा करता है। इसके बाद गुरु-कृपासे जब वह स्थितिको समझकर यथायोग्य व्यवस्था करता

है, तब अग्निप्रदीप्त होनेके पहले धूएँकी भाँति साधनके पहले भागमें धूएँकी तरह चारों ओर अन्धकार-ही-अन्धकार देखता है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इस यात्रामें कुछ भी नहीं होगा। किन्तु यदि साधक धीरज नहीं छोड़ता तो धीरे-धीरे वह रसास्वाद पाने लगता है। तदनन्तर वह आप ही मजबूत हो जाता है। फिर उसके मनमें किसी भी कारणसे विषाद नहीं होता। इसके बाद वह इस विद्युत्-ज्वालामय प्रकाशके अन्दर कोटि-कोटि सूर्योंका प्रकाश और उसके अन्दर 'चन्द्रकोटिसुशीतलम्' को देखकर शान्त हो जाता है। उसका मनुष्य-जीवन धन्य होता है। जिसको इस परमज्योतिका पता नहीं लगता, उसे केवल अग्निकी जलती हुई लपटोंका ही अनुभव होता है। वह इसकी प्रकाश-शक्तिको, इसकी दिव्य-शक्तिको नहीं समझ पाता। आइये! हम सब इस प्रकाशमान शुभ्र ज्योतिर्मय पुरुषकी चरण-वन्दना करें।

आनन्द-स्वरूप

यह सम्पूर्ण संसार मुझे इतना मीठा क्यों लगता है ? संसारके यह सव पदार्थ, संसारके सभी प्राणी मेरे हृदयमें आनन्दका इतना उद्रेक क्यों कर रहे हैं ? किसलिये वीच-वीचमें इन सबको अपने हृदय-मन्दिरमें विराजित कर रखनेकी इच्छा होती है ? क्यों इनको देखते ही समय-समयपर ऐसा मालूम होता है कि ये सव मेरे अपने हैं, अत्यन्त आदरणीय हैं ! किसलिये इनकी चर्चा मेरे कानोंमें सुधा-सिञ्चन करती है ? क्यों इनके स्पर्शसे ही समस्त शरीर पुलकित हो उठता है ? वास्तवमें इस जगत्का कोई भी प्राणी, कोई भी वस्तु मेरे प्राणोंसे

दूर नहीं है—मुझसे अलग नहीं है। 'मैं' जो कुछ हूँ ये भी ठीक वही हैं। मैं जब विजातीय-भावसे मूढ़बुद्धि हो जाता हूँ, तभी गड़बड़ होती है। अन्यथा 'मैं' जब अपनेको सत्यरूपमें देखता हूँ, तब तो किसीको भी अपनेसे पृथक् नहीं देख पाता। तो फिर जो 'यह' 'वह', 'अपना' 'पराया' आदि भिन्न-भिन्न भाव देखे जाते हैं, वे क्या कुछ भी नहीं हैं? अवश्य ही इन सबको 'कुछ नहीं है' कहकर उड़ा देनेकी ताकत नहीं है, परन्तु यह सब वहीं तक 'कुछ' हैं जबतक हम इन्हें बाहरकी वस्तु समझते हैं,—आत्मासे पृथक् मानते हैं। जब 'आत्मदृष्टि' खो बैठते हैं तभी यह अनैक्य भाव स्पष्ट होता है। तभी देश-देशमें, नदी-नदीमें, पर्वत-पर्वतमें, ऊँचे-नीचेमें, स्त्री-पुरुषमें, और देह-देहीमें अन्तर मालूम होता है, और यह सबका अन्तर ही हमें गोरखधन्धेमें डाल देता है। परन्तु हम केवल हाड़-मांसके पिण्डमात्र नहीं हैं। हम तो चेतन हैं, और वह चेतन सब समय सर्वत्र अखण्डमण्डलाकारसे व्याप्त है। एक ही सूर्य कितनी दूर दीखता है परन्तु उसीके प्रकाशसे त्रैलोक्य प्रकाशित है। हममें कोई कहीं भी क्यों न रहे, सूर्य हम सभीके घरकी वस्तु है। उसकी रश्मियाँ हमारे घर और आँगनमें, शरीरमें और मनमें बिना विश्राम प्रवेश कर रही हैं, उन्हें कोई रोक नहीं सकता। इसके सिवा जो कुछ भी दृश्य पदार्थ देखे जाते हैं वे सभी सूर्यके प्रकाशमें देखे जाते हैं और उनका जो रूप प्रकाशित हो रहा है वह भी उस सूर्यका ही प्रकाशमात्र है। सूर्य भी उस सूर्यके ही प्रकाशसे दीखता है। सुतरां सभी सूर्य है। इसलिये हम कोई भी अलग नहीं हैं, सबके साथ एक अखण्ड-योगसे युक्त

है। प्रत्येक घड़ेमें जो अलग-अलग सूर्य दीखते हैं सो उसी एक सूर्यके प्रतिबिम्ब हैं। अनेक देखकर भ्रम होता है परन्तु वास्तवमें वे सभी अनन्त प्रतिबिम्ब हैं, उस एक ही सूर्यके! अँधेरेमें मुँह पहचाना नहीं जाता, अपने-परायेका निश्चय नहीं होता। अज्ञानान्धकारसे हमारी भी वही दशा हो गयी है। परन्तु आज इस विकसित हुए आत्माके प्रकाशसे किसीको पहचाननेमें कोई कष्ट नहीं होता। आज उस चेतनके प्रकाशसे जगत्‌के सारे पदार्थ आनन्द-रसमें मतवाले हुए डगमगा रहे हैं—मालूम होता है सबमें आनन्द भरा है। इसीलिये जिसकी ओर दृष्टि जाती है उसीमेंसे चिदानन्दमय आत्माका स्वरूप फट निकलता है। कैसा सुन्दर है! कैसा अनूप रूप है! जन्ममें जैसी सुन्दरता है, मृत्युमें भी वैसी ही सुन्दरता है। सुखकी हँसीमें उसका जैसा मनोहर सौन्दर्य है, दुःखकी तप्त अश्रुधारामें भी उसकी वही अनोखी रूप-माधुरी है। अतएव किसीको देखें या न देखें, पहचानें या न पहचानें, हैं हम सभी एक; सभी अन्तरात्माओंका मिलन क्षेत्र है एक अखण्ड अद्वितीय परमात्मा। जो तरंगें तटपर आघात कर रही हैं, वह क्या महासमुद्रसे पृथक् हैं? प्रत्यक् और परम वह एक ही वस्तु है। इसीसे प्रत्येक प्राणमें मिलनकी इतनी आकांक्षा है। सब प्राण उसी एक महा-प्राण-समुद्रके तरङ्गोच्छ्वास हैं। इसीसे हम सबके साथ समान भावसे सुख-दुःख और संयोग-वियोगका अनुभव किया करते हैं। इसीसे संकुचित 'अहं'-ज्ञान नष्ट होने लगता है। फिर सर्वत्र ही उसका स्पर्श पाकर शरीर रोमाञ्चित हो उठता है, प्राण पुलकित हो उठते हैं। हे मेरे श्यामसुन्दर! हे मेरे हृदय-

सखा ! हे जीवके सर्वस्व-धन ! आज यह क्या देख रहा हूँ ! आज यह करोड़ों विभिन्न वस्तुएँ करोड़ों नर-नारी सभी मानो एक ही प्रतीत हो रहे हैं ! इनमें कोई भी दूसरा नहीं है । कोई भी मेरी आत्मासे भिन्न नहीं है । तुमने अपने निरवयव अरूपके रूपसे यह तत्त्व कितनी सुन्दरतासे मुझे समझा दिया । कैसा सुन्दर है ! कितना मधुर है ! हम सभी उस अखण्ड अद्वितीय चेतनके साथ योगयुक्त होकर एक हो रहे हैं। इसीसे यह जगत् इतना सुन्दर है। इसीसे इस आकाश और समुद्रमें इतना आनन्द छा रहा है। इसीसे शैल-सलिल और अनल-अनिलमें उसके आनन्दका बाजार लग रहा है !

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो-
मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम् ।

प्राणोंके अन्दर मानो कोई गा रहा है—

कितने तुम अनुपम अति सुन्दर सकल विश्वमें हो सारे ।
तुम अनन्त अमृतमय मधुमय जगके जीवन-धन प्यारे ॥
तुम्हीं विश्वमय, सभी विश्व है एक तुम्हींसे सना हुआ ।
एक एक अणु अखिल विश्वका तुम्हरे अणुसे बना हुआ ॥

धन्य है तुमको और धन्य हूँ मैं ! धन्य तुम मेरे प्रभु, मेरे जीवननाथ; और धन्य हूँ मैं तुम्हारा सेवक, तुम्हारी कृपाका भिखारी ! धन्य हैं हम दोनों एक दूसरेके अभिन्न सखा !

कौन छिपे हो ?

तुम कौन हो जो मुझसे आड़में छिपे रहते हो ? यह सही कि तुम दीखते नहीं हो परन्तु हृदयमें तुम्हारा अनुभव तो खूब होता है । काया नहीं दीखती पर छायाको तो तुम नहीं छिपा सकते । ओ चतुर ! कौन हो तुम, क्यों मेरे साथ इस तरह खेल करते हो ? नील गगनमें अगणित नक्षत्र झलमला रहे हैं, बादलका जरा-सा टुकड़ा बीच-बीचमें चन्द्रमाके निर्मल प्रकाशको म्लान कर डालता है । चन्द्रोज्ज्वला यामिनी, जो अभी-अभी सुन्दरी युवतीके हास्य-सरस मुखकी भाँति शोभित हो रही थी, अकस्मात् अतर्कित क्षीण मेघमालाके उत्पन्न हो जानेसे उसकी वह हास्य-ज्योति एक अपूर्व गम्भीरताके रूपमें परिवर्तित हो गयी । इसी प्रकार तुम्हारा हँसीसे खिलता हुआ मुखकमल भी पल-पलमें अपूर्व गम्भीरतासे भर जाता

है । कभी देखता हूँ, बादलोंमें चन्द्रमा अपनेको छिपा लेता है, फिर जरा-सी देरमें ही न मालूम क्यों पुनः हँसता हुआ बाहर निकल आता है । मानो बादलोंके साथ वह आँखमिचौनी खेल रहा है । तुम भी कभी जीवके हृदयाकाशमें चन्द्ररेखा-सदृश अपूर्व ज्योतिरूपमें प्रकट होते हो, फिर कभी अमावस्याके घोर अन्धकारसे हृदयदेशको ढककर उसमें छिप जाते हो, और फिर चन्द्रमाकी भाँति पुनः धीरे-धीरे प्रकट हो जाते हो ।

अरुणोदयके साथ-साथ जब पूर्वाकाश सिन्दूर-रंगसे रँगकर लाल हो जाता है, तब समुद्रकी सुनील जलराशिकी लहराती हुई तरंगोंसे कैसी एक अपूर्व छवि प्रकट होती है—मानो हिलोरें खाते हुए समुद्रकी तरंगोंके आघातसे एक अभिनव शिशु समुद्रके वक्षः-स्थलपर नाच उठता है । उस समय जान पड़ता है मानो कोई उस छविसे खेल रहा है । इसके थोड़ी ही देर पहले देखा था कि नव-प्रभातके आगमनकी सूचना देनेके लिये चञ्चला बालिका उषा नाचती और हँसती हुई किसी अन्धकारके अदृश्य गृहसे बाहर निकल रही थी । उसकी उस हँसीसे कितने चम्पा-चमेली, मल्लिका-मालती, हरसिंगार खिल उठे । मौलश्रीके पुष्प तो आनन्दकी अधिकतासे डगमगाते हुए किसीको देखकर बाहर निकलनेके लिये झर पड़े । मृदुगन्धवह उनके देहसे सुगन्ध ग्रहणकर बालिका उषाके वस्त्रोंपर मलकर चला गया । दिगङ्गनाएँ कुसुम-सुवासको प्राप्तकर हँस उठीं । कोकिलाएँ किसीकी आहट पाकर पञ्चम स्वरसे कुञ्जवनमें गान करने लगीं । सारी प्रकृतिमें एक आनन्द-स्रोत बह उठा । यह आनन्द किसका है ? इतना प्रकाश किसका है ? किसे

देखकर सब इतने आनन्दमें भर गये ? मनचाहे खिलाड़ीको पाकर शिशु जिस प्रकार आनन्दसे मत्त हो जाता है, उसी प्रकार आज यह कौन सुकुमार नयनानन्द अखिलजनमनोहर शिशु प्रकट हो गया, जिसको पाकर फल-फूल, तरु-लता, आकाश और दिशाएँ सब हँस उठीं—समस्त जनसमुदायकी चेतना जग उठी ? इस बार पकड़े गये । अब यों छिप-छिपकर खेल-तमाशा नहीं कर सकोगे !!

अच्छा, तुम्हारा यह कैसा आनन्द है ? पर्देकी ओटसे तुम्हारा यह कैसा कौतुक है ? हमको कभी राजा बना देते हो और कभी भिखारीके कपड़े पहना देते हो । यह तुम्हारा कैसा आमोद-प्रमोद है ? मैं इतना क्षुद्र हूँ, तो भी मेरे साथ खेलनेमें, तमाशा करनेमें, क्या तुम्हारी मानमर्यादामें कोई कमी नहीं आती ? तब क्या तुम प्रौढ़ नहीं हो ? विज्ञ नहीं हो ? एक छोटे-से बच्चेके समान खेलते हो ? और क्या ? मैं कितने दिनोंसे देख रहा हूँ, इतना समय बीत गया तथापि तुम्हारा लड़कपन तो गया नहीं ! मैं देखते-देखते बड़ा हुआ, बूढ़ा हुआ और आज इस जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें बैठा हूँ—परन्तु तुम कौन हो जो नित्यकिशोर, अपूर्व सौन्दर्यशाली, सङ्गीतसुरभिसे परिपूर्ण, मेरे हृदय-कुञ्जमें बैठे-बैठे इतनी नित-नयी तानें छेड़ रहे हो ? वंशीके सुरमें कितनी तरंगें भरकर सबको अपने चरणकमलकी ओर खींचे रखते हो ? संसारके साथ हृदयका जो संयोग-सूत्र मजबूतीसे बँध गया था, तुम्हारे आकुल आह्वानके स्वर-से वह सूत्र टूट गया ! सभीको खेलमें बुला रहे हो ? तो फिर घरमें कौन रहेगा ? अच्छा, तुमको खेल इतना अच्छा लगता है ? कितने

दिनोंसे कितने खेल खेल रहे हो ? ओ ! इस अपने खेलको तुम क्या कभी बंद नहीं करोगे ?

अच्छा, यदि खेल तुम्हें इतना प्यारा है, तो फिर इतने छिप-छिपकर क्यों खेलते हो ? तुम्हारी पूरी सूरत तो कभी नहीं दिखायी पड़ती । कभी पीठ, कभी पीठपर लटकती हुई वेणी, कभी कमल-कुसुमकी रक्त आभाके समान कोमल और दृढ़ करतल, कभी स्थलकमलकी कान्तिके समान, बाल-रविकी अपूर्व लालिमाके सदृश दो छोटे-छोटे श्रीचरण, कभी शतसहस्रकोटि शशिधरके समान सुधा-सुन्दर श्रीमुख और कभी स्थिर विद्युत्की शोभाको अपहरण करनेवाली तुम्हारे नयनकोरकी हास्य-रेखा दिखायी पड़ती है ! कभी वंशीस्वर, सुन्दर सुधासे भरित, हृदयको उन्मत्त करनेवाले अपने कोमल कण्ठके नीरव सङ्गीतका प्रकाश कर, अपनी तनिक-सी झलक दिखाकर तुम किसी अदृश्य गृहमें छिप जाते हो ! नेत्र तुम्हें देखनेकी लालसासे ताकते-ताकते अन्धे हो गये, कान तुम्हारी मधुर वाणी सुननेकी आशामें स्तब्ध हो प्रतीक्षा करते-करते बहरे हो गये, अङ्ग तुम्हारे स्पर्शके लिये चिरकालसे क्रन्दन करते-करते विवश हो गये; मन तुम्हारी खोजमें चिन्ता करता-करता पागल हो गया ! हे चञ्चल, हे अनन्त, तो भी तुम नहीं मिले ! क्या तुम नहीं मिलोगे ? क्या यही तुम्हारा नियम है ? मैं अनन्त काल-तक अपने अश्रुजलसे वक्षःस्थलको परिप्लावित करता रहूँगा और तुम पर्देमें बैठे-बैठे बाँसुरी बजाते रहोगे ? क्या यही ठीक होगा ? सुनता हूँ तुम बहुत बड़े आदमी हो । क्या इसीलिये तुमको

असीम और अनन्त कहते हैं ? क्या यह ठीक है ? तो फिर तुम्हारा छोर पानेका क्या उपाय है ? यदि तुम इतने बड़े हो, मेरे मन-बुद्धिके अगोचर ही रहना चाहते हो, तो तुमने अपना रूप क्यों प्रकट किया था ? और क्यों मेरे मनमें अपने लिये इतनी व्याकुलता ही भर दी ?

मैंने समझा था कि तुम सूर्यकी अपेक्षा भी कितने गुने बड़े हो, न मालूम कितने सूर्य आकाशमें जड़े हुए तारोंके समान तुम्हारे अंदर टिमटिमाते हुए झलमला रहे हैं। तुम इतने बड़े हो ! और मैं ? जो पृथिवी सूर्यके सामने एक तुच्छ पदार्थ है—मैं उसी पृथिवी-के एक क्षुद्रतर प्रदेशके क्षुद्रतम अंशके एक कोनेमें छोटे-से-छोटा एक जीवमात्र हूँ ! तुम इतने बड़े होकर मेरी, इतने छोटेकी खबर क्यों रक्खोगे ? देशका एक बादशाह होता है, वह तो अपनी असंख्य प्रजामेंसे बहुत कमको जानता है और उनके व्यक्तिगत सुख-दुःखसे भी उसका कुछ आता-जाता नहीं है। मैं समझता था तुम भी ठीक उसी प्रकारके हो ! इससे इतना-सा एक आनन्द था कि मैं तुम्हारी नजरसे बाहर एक प्रकारसे मजेमें हूँ। तुम अपनी महिमामें विराजमान हो, तो मैं अपने क्षुद्रत्वको लेकर एक कोनेमें पड़ा हुआ हूँ।

परन्तु तुम्हारी यह कैसी अद्भुत लीला है ? मैं जो इतना क्षुद्र हूँ और ये बालूके कण कितने छोटे हैं, तुम इनमेंसे किसीको नहीं भूलते—सभीके साथ तुम्हारा पूर्ण परिचय है ! इन क्षुद्रोंके पास भी तुम अपनी पूर्णता लिये सदा विराजमान हो ! किसीको दीन मान-कर घृणा नहीं करते, क्षुद्र समझकर उपेक्षा नहीं करते; ऐसे क्षुद्रोंके साथ भी समानताका बर्ताव करते हो—इन्हें सखा कह-

कर पुकारते हो ! मैं सोचता था निश्वको लेकर तुम एक विराट् वस्तुके रूपमें पड़े हो, मेरे-जैसे अति क्षुद्र जीवको, पुकारनेपर तुम्हारा उत्तर क्यों मिलेगा ? हरि ! हरि ! हरि ! मैं छिपकर बगलसे निकल जाना चाहता हूँ, छोड़ना चाहता हूँ पर तुम नहीं छोड़ते ! तुम तो बिना ही पुकारे आकर खड़े हो गये ! यह कैसा तुम्हारा अद्भुत खेल है नाथ ? तुम्हारी यह कैसी व्यवस्था है ? मेरे भूलनेसे क्या होगा, तुम जो भूलने नहीं देते ! मैं तुम्हारी तरफ नहीं ताकता, इससे क्या हुआ ? तुम जो आँखोंकी दृष्टिको ही निकाले लेते हो ! अच्छा, मुझ इतने क्षुद्रके साथ यह तुम्हारा खेल कैसा ? मैंने सोचा था, तुम असीम, अनन्त, महान्, विराट् हो, तुम्हारे रोम-रोममें कितने ब्रह्माण्ड बुद्बुदके समान उठते हैं और पुनः विला जाते हैं; फिर मेरी खबर तुम रक्खो, ऐसी सम्भावना कहाँ ? मैं खूब निश्चिन्त था। पर अब यह क्या देखता हूँ ? मेरी सारी समझ ही उलटी हो गयी। तुम तो मेरी पूरी खबर रखते हो। मेरे मनकी ही क्या ? घरकी कोई भी खबर तुम्हारी जानकारीसे अलग नहीं है ! अच्छा, बताओ तो, इतनी खबर कैसे रखते हो ? कितने ब्रह्माण्ड हैं, कितने जीव हैं, तुम एक-एककी पूरी खबर रखते हो, एक दिन भी भूल नहीं होती, यह सब कैसे करते हो ? इस बातपर विचार करते ही बुद्धि चकरा जाती है ! अच्छा, इतने बड़े थे तो इतने छोटे कैसे हो गये ? अवश्य ही छोटे हो गये हो, नहीं तो मेरे साथ-साथ कैसे घूम-फिर सकते ? तुम जो सर्वव्यापी और एक अखण्ड हो, जरा-सेके अंदर और सबके अंदर भी वही तुम सर्वव्यापी—अखण्ड, सच्चिदानन्दघन अनन्त ज्ञाननिलय ज्ञानरूपमें हो, और पुनः प्रत्येक क्षुद्र अवयवके सामान्य अंशमें भी तुम वही

ज्ञानमय-प्रेममय हो । तुम्हारी यह कैसी लीला है ? बताओ तो, क्या यही तुम्हारी माया है ?

हृदयको कैसे समझाऊँ ? कैसे इस बातपर विश्वास करूँ कि तुम भी मुझको चाहते हो ? परन्तु यह जो प्रत्यक्ष देख रहा हूँ कि तुम मुझे एक घड़ीके लिये भी नहीं छोड़ते; मैं अपने प्रत्येक चिन्तनमें, प्रत्येक कर्ममें तुम्हारा अस्तित्व पाता हूँ—मेरे गोपनीय मनकी एकान्त कोठरीमें जो कुछ भी है, वह सभी तुम्हें ज्ञात है । तुम्हें किसी प्रकार भी धोखा नहीं दिया जा सकता !

हे मायावी, एक बार इस अपने पर्देको हटा लो, घूँघट खोल दो, तुम्हारी आवरणहीन मुखश्रीको मैं एक बार देख लूँ !

हे पागल, हे अनादि-अनन्त कालके शिशु, हे नित्य अविनाशी, नित्य आनन्दमय किशोर, हे मेरे पुरातन, सर्वप्राचीन सनातन पुरुषोत्तम ! क्या मेरी प्रार्थना सुनोगे ? कमल-रक्त-राग-रञ्जित तुम्हारे श्रीचरणकी जो छाया मैंने देखी है, उसे क्या एक बार और दिखलाओगे ? कहाँ हो मेरे नयनलुभावन, मनलुभावन ? कहाँ हो मेरी आँखोंके नित्य आलोक, मेरे प्राणोंके परम पुलक ? तुम्हारी वह भुवनमोहिनी हृदय-शीतलकारी मधुर मूर्ति कहाँ है ? अब कब-तक मुझसे अपने पूर्ण स्वरूपको छिपाये रक्खोगे ? एक बार आओ, अचानक आओ, उस अपनी अपूर्व मुनिमनलुभावनी माधुरीको लेकर, सुरासुरवन्दित अपूर्व शोभनश्रीको लेकर, एक बार मोहन-वेशमें मधुररूपमें मेरे हृदयदेशमें आकर खड़े तो हो जाओ ! तुम्हारे आवरणहीन परिपूर्ण अरूप रूपको निरखकर इस मनुष्य-जीवनको सार्थक करूँ !

समुद्रगर्जन

जानते हो समुद्र रात-दिन क्यों गरजता है? वैज्ञानिक विद्वान् इसका कुछ उत्तर अवश्य देंगे। परन्तु समुद्रके प्राणोंकी भीतरी बात बतलाना बहुत ही कठिन है। समुद्रके प्राणोंमें आठों पहर कितनी व्याकुलता लहरें मारती हैं, इसका पता तो उसकी चञ्चलता देखते ही लग जाता है। 'होगी व्याकुलता पर वह है तो जड।' एक तरहसे क्या हमलोग भी जड नहीं हैं? पर उसके अंदर भी वह चेतना तो है ही जो सारे विश्वमें व्याप्त है, तब उसमें व्याकुलता क्यों नहीं रह सकती? 'वह बोल नहीं सकता' क्या इसीसे उसमें व्याकुलता नहीं है? शायद वह अपनी भाषामें बोलता हो, जिसको हम नहीं समझते। कीट-पतंगोंकी भी तो भाषा है पर क्या वह सब हम समझते हैं? समझनेकी चेष्टा करनेपर शायद समझ सकते।

बहुत-से पाश्चात्य पण्डितोंने पशु, पक्षी, कीट, पतंगोंकी भाषा समझनेकी चेष्टा की है और यह नहीं कहा जा सकता कि उनको कुछ भी सफलता नहीं मिली। हमारे यहाँ भी तो तपस्वी ऋषि दूसरे जीवोंकी भाषा समझ सकते थे। शकुन-शास्त्र देशमें अब भी कुछ वर्तमान है। जिस भाषामें हम बोलते हैं उस भाषाको कितने मनुष्य समझते हैं? एक प्रान्तके मनुष्य दूसरे प्रान्तकी भाषा नहीं समझ सकते। पर एक ऐसी भाषा भी है जो सब जीवोंकी एक भाषा है। उसका नाम है 'पश्यन्ती वाणी'। ऋषिगण चित्तका संयम करनेपर इस अवस्थाको प्राप्त करते थे। उस देशकी भाषामें बाह्य शब्द नहीं है, परन्तु वहाँ कहना-सुनना मनमें चलता है। अवश्य ही पाश्चात्य पण्डितोंने पशु-पक्षियोंकी भाषा समझनेमें जो चेष्टा की, उसकी प्रणाली यह नहीं है, वह दूसरी है। उन लोगों-ने बाहरी शब्दोंकी सहायतासे ही मनका भाव समझनेकी चेष्टा की है, परन्तु उनकी यह प्रणाली असम्पूर्ण है। जो बोल सकते हैं, वे भी भाषामें मनके सारे भाव प्रकट नहीं कर सकते। भाषाकी वह पूर्णता अभी नहीं हो पायी है। कभी होगी या नहीं यह भी नहीं कहा जा सकता!

जो कुछ हो, मनुष्य है बड़ा अहंकारी जीव! इसीसे वह दूसरे किसी जगत्के ज्ञान, बुद्धि, भाव, भाषा आदिको स्वीकार नहीं करना चाहता। पर यह सब 'छातीके जोर' के सिवा और कुछ भी नहीं है। एक बाघ भी मनुष्यका गला पकड़कर उसका खून पीते हुए यह सोच सकता है कि मनुष्य अज्ञानी जीव है, ज्ञानी

तो हम हैं। तभी तो इनका गला पकड़कर खून पी रहे हैं। वास्तवमें जहाँ भाव है वहाँ भाषा भी है। यह बात समझ लेनी चाहिये। खैर, अब जरा समुद्रके प्राणोंकी बात समझनेकी चेष्टा कीजिये—

मैं एक दिन समुद्रके किनारे बैठा उसकी तरंगोंके खेल देख रहा था, उसका गर्जन सुन रहा था। बहुत दूरतक फैली हुई उसकी वह सुनील जलराशि और शुभ्र फेन-विमण्डित तरंग-मालाओंका उत्थान-पतन प्राणोंमें एक विलक्षण भावकी जागृति कर रहा था! समुद्रके उस सीमाहीन जलमें मेरी सीमाबद्ध इन्द्रियोंकी सारी शक्तियाँ डूबने लगीं। मेरे पास एक मनुष्य और बैठे थे, वह कहने लगे 'बाबा, आठों पहर यहाँ तो यही शों शों शब्द होता है, यहाँ भी कभी मन स्थिर हो सकता है?' मैंने यह शब्द सुनकर सोचा, अवश्य ही बाहरसे देखनेपर तो यही समझमें आता है परन्तु मैंने अनेक बार परीक्षा की है, समुद्रका गर्जन सुनकर एक बार चित्त अवश्य विक्षिप्त होता है परन्तु कुछ समयतक चुपचाप सुनते रहनेपर मनका कार्य स्वयमेव बंद होने लगता है। फिर मन किसी भी दूसरे शब्दकी ओर नहीं जाना चाहता। क्रमशः जब उस शब्दमें और भी सूक्ष्म एकतानता हो जाती है तब तो बाहरके शब्दोंकी तरफ मन बिल्कुल ही नहीं जाना चाहता। फिर देखा जाता है कि वह सूक्ष्म एकतानता हमारे प्राणोंमें और समुद्रमें क्रमशः जम रही है। इसके बाद थोड़ी ही देरमें हमारी

हृत्तन्त्रीके तार समुद्रके वीणा-तारोंके साथ एक साथ एकतानसे बज उठते हैं, केवल एक ही ध्वनि निकलती है। उस समय यह पहचानना कठिन हो जाता है कि कौन-सा स्वर किसका है!

फिर उसमें भी नीरवता छाने लगती है। सारे शब्द मानो एक महाशून्यमें मिलकर विलीन हो जाते हैं। समुद्रमें डुबकी लगानेपर भी ऊपरके शब्द कानोंतक नहीं पहुंचते। एक गम्भीर नीरवतामें समस्त चञ्चलता मानो सर्वथा शान्त हो जाती है। यहाँ सारे स्वर मिलकर एक अव्यक्तभावमें मिल जाते हैं और सारी भाषा और शब्दोंकी यहाँ समाप्ति हो जाती है। सबके 'सर्व' के साथ इस सुरको मिला देनेपर कोई झंझट नहीं रह जाती। जीवके साथ जीवके सुर जहाँ मिलते हैं, ठीक वहीं बजानेपर सबके अंदरसे एक-सा ही स्वर निकलता है। तब यह बात समझमें आती है कि हम सबके साथ अभिन्नभावसे एक हैं और एक ही जगहपर स्थित हैं। भगवान्‌के साथ भी इसी तरह सुर मिला देना चाहिये। यही तो उन्हें पानेका साधन है। उनके सुरके साथ जहाँ हमारे सुरका मिलान होता है उस जगहका पता लगाना हो तो हमें इस शब्द-मुखरित, वासना-विक्षोभित मन-समुद्रके अतल तलमें डुबकी लगानी चाहिये। बार-बार डुबकियाँ लगाते-लगाते क्रमशः एक अव्यक्त अवस्थाका तत्त्व हम समझ सकेंगे। उस अवस्थामें, इस जगत्‌के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध सभी एकाकार होकर एक साथ मिल जायँगे। एक गम्भीर एकतानतामें मनके सारे विक्षेप—सारी

चञ्चलताएँ मूर्छित हो जायँगी। उस समय हमारे और विश्वके हृदयके साथ भगवान्‌के एक अखण्ड संयोगकी उपलब्धि होगी। निर्वात दीपशिखाकी तरह मन एकाग्र, निश्चल और स्तब्ध हो जायगा। इसी अवस्थाको योगी 'द्वन्द्वातीत' अवस्था कहते हैं। उसी अवस्थामें यथार्थ ज्ञानी और भक्त 'मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा'—मोदनीयको पाकर प्रमुदित होते हैं। उस समय अन्तःकरणमें जो मनोहर एकतान संगीत-ध्वनि होती है उसे सुनते ही सारे बन्धन खुल जाते हैं। वह शब्द बड़ा ही मधुर, बड़ा ही प्राणोंको शीतल करनेवाला होता है। उदात्त-अनुदात्त स्वरोंमें, विश्व और मनुष्यके हृदयके साथ भगवान्‌का अनादि महिमान्वित एकतान सुर मिलकर सारे सुर एक साथ एकस्वरसे बज उठते हैं, तब केवल सुनायी पड़ता है—'ॐ ॐ ॐ!'

निश्चिन्त हो रहो

प्रभो ! अपने लिये 'मैं' जितना प्यारा हूँ, उससे कहीं अधिक तुम्हारे लिये 'मैं' प्यारा हूँ। फिर मैं अपने लिये इतनी चिन्ता क्यों करता हूँ? क्या तुमपर विश्वास नहीं है? क्या हृदयने तुमको भलीभाँति नहीं पहचाना? सचमुच मैं तुमपर निर्भर तो नहीं हूँ! पतिव्रता स्त्रीका सब कुछ चला जाय, एक पति बच रहे, तो वह सारे अभावको हँसती हुई सह लेती है क्योंकि उसके लिये पतिसे बढ़कर प्यारी-से-प्यारी चीज दूसरी कोई नहीं। जो व्यभिचारिणी स्त्री सबसे अपने हृदयकी जाँच कराती फिरती है, पर किसीको प्राण नहीं दे सकती, इसीसे वह कहींपर वैसा आश्रय भी नहीं पाती। उसका मन किसी भी जगह निश्चिन्त होकर नहीं ठहर सकता। इसी तरह हमारा मन भी अभी एकनिष्ठ नहीं हो सका है। वह अभीतक यह निश्चय नहीं कर सका है कि अपनेको कहाँ दिया जाय? हृदयके ग्राहक तो

बहुत हैं। यश, अर्थ, विद्या, स्त्री, पुत्र, संसार आदि सभी हृदय खरीदना चाहते हैं, परन्तु चाहते हैं प्रायः बिना ही मूल्य ! क्योंकि हृदयका उचित मूल्य इनमेंसे किसीके पास भी नहीं है। पूरे दाम देकर हृदय खरीदनेका सामर्थ्य किसीमें भी नहीं दीख पड़ता। दुःख तो इसी बातका है कि जो हृदयकी यथार्थ कीमत जानता है और पूरी कीमत दे सकता है, उसको यह हृदय पहचानकर अपना नहीं बना सका ! प्यार न करनेपर भी जो प्यार करता है, याद न करनेपर भी जो याद करता है, उस चिरकालके सखाको— जीवन-मरणके सहचर जीवनबन्धुको—रे अभागे मन ! तू किस सम्पत्तिके लोभसे, किसकी मायासे मुग्ध होकर भूल रहा है? धन चाहता है? रूप चाहता है? प्रतिष्ठा चाहता है? बतला तो सही, उसके समान धनी और कौन है? किसका इतना ऐश्वर्य है? सभी लोकोंमें तो उसका ऐश्वर्य छा रहा है। बता, इतना रूप और किसका है जो स्वर्गसे लेकर मृत्युलोकतक समाता नहीं। आकाश, चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र सभीमें उसके रूपका बाजार लग रहा है। पशु-पक्षी, कीट-पतंग और स्त्री-पुरुषोंके मुखों और नेत्रोंमें उसके कैसे अपूर्व रूपका विकास हो रहा है। न मालूम कबसे कितने लोग इस रूपको देखते चले आ रहे हैं। कितने प्रकारसे कितने लोगोंने इसे समझनेकी चेष्टा की, परन्तु किसीने इस रूपकी थाह नहीं पायी। किसीको यह रूप कभी पुराना नहीं लगा। कितने दिन बीत गये—ध्रुवने देखा, प्रह्लादने देखा, अम्बरीषने देखा, नारद आदि ऋषियोंने देखा, फिर व्रजकी गोपियोंने देखा, ग्वालबालकोंने देखा। अर्जुन, उद्धव, युधिष्ठिर,

विदुर, भीष्मने देखा, पर देखा वही एक रूप, वही असीम शोभा, वही नयनोंको हरने और हृदयको शीतल करनेवाली सुन्दरता। उसमें कभी कोई कमी नहीं हुई। जिसने देखा, वही पागल हो गया। उसके स्नेह-ममताके सभी बन्धन खुल गये। अर्थ, रूप, यौवन, यश आदि सबका मोह छूट गया!

उस प्राणारामको प्राण अर्पण कर देनेपर जैसा निश्चिन्त हुआ जाता है वैसा और किसीको अर्पण करनेपर नहीं, क्योंकि अन्य किसीमें इतनी सामर्थ्य ही नहीं है। उसके समान तुम्हारे दुःखसे दुखी होनेवाला और कोई नहीं है। छोटे बच्चेकी चिन्ता जितनी माताको रहती है उतनी दूसरे किसीको नहीं रहती क्योंकि माताके समान उसका आत्मीय दूसरा कोई नहीं है। इसी प्रकार उस हृदयसखा परमात्माके समान भी तुम्हारा परम आत्मीय दूसरा कोई नहीं हो सकता। इसीलिये वह तुमसे जितना प्यार करता है उतने प्यारकी आशा दूसरे किसीसे भी नहीं की जा सकती। सोचो, उसका तुमपर इतना अधिक प्रेम है कि तुम उसे स्वीकार नहीं करते, तो भी वह कभी नाराज नहीं होता या कभी रूठता नहीं! तुम्हारे व्यवहारको देखकर वह केवल सजल नयनोंसे तुम्हारी ओर ताकता रहता है! संसारमें कितने लोग कितना पाप करते हैं, कितना विरुद्धाचरण करते हैं, इसके लिये क्या वह उनको आश्रय नहीं देता? क्या उनके लिये वह सूर्यका प्रकाश, वायु या जलका प्रवाह बंद कर देता है? कभी नहीं! वह जानता है कि तुम्हारा यह भाव सामयिक है, सदाके लिये नहीं! उसके साथ जो तुम्हारा निगूढ़ सम्बन्ध है उसे तुम एक दिन अवश्य समझोगे।

वह किसी भी बातके लिये घबराता नहीं। तब तुम्हें भी क्यों घबराना चाहिये ? दुःख-दारिद्र्य, रोग, शोक, ताप सभी आवें, खूब आवें ! किसी तरह भी डरो मत ! यह सारी सौगात उसीके घरसे तो आती है। बड़े सम्मानसे सिर झुकाकर उसकी देनको ग्रहण करो। ऐसा दिन फिर कब मिलेगा ? उसके दिये हुए भारको उठानेका ऐसा अच्छा मौका और कब होगा ? इस तरह उसे जोरसे पकड़ने, जानने और समझनेका सुअवसर दूसरा नहीं हो सकता, अतएव उसका दिया हुआ भार सिर चढ़ानेमें कभी पीछे मत हटो, दुःख न करो। तुम्हारा ऐसा बन्धु दूसरा कौन होगा जिसके नाम लेनेसे, जिसकी बात सुननेसे, घरके सारे काम नहाना, धोना, खाना सब भूल जाते हैं। उसको हृदयमें पाकर क्या कभी दुःखको दुःख समझा जा सकता है ? वह तुमपर इतना प्रेम करता है, इस बातको जान लेनेके बाद दुःखकी बात याद करनेमें भी तुम्हें लज्जा मालूम होगी। इसीसे कहा जाता है कि लाभ या हानि, अर्थ या अनर्थ, हेय या उपादेय, जन्म या मृत्यु, विच्छेद या मिलन जो कुछ भी प्राप्त हो, सब कुछ उसका दिया हुआ समझकर निश्चिन्त हो रहो ! मैं उसका सेवक हूँ यह सोचकर उसके सम्पूर्ण आदेश पालन करनेके लिये तैयार रहो ! अरे ! ऐसा मित्र और कोई नहीं है ! इतना प्रेमपूर्ण और कोई नहीं है ! प्राण भी इतने अपने नहीं हैं। यह समझकर निर्भय चित्तसे निश्चिन्त होकर उसके विश्वमें विचरण करो !

जगत्स्वप्न

स्वप्नमें हम क्या-क्या देखते हैं, क्या-क्या सुनते हैं, क्या-क्या करते हैं, किन्तु यह सब बाह्य कुछ भी नहीं होता। मन ही अपने भीतर यह सारी सृष्टि करता है। मनकी यह एक अद्भुत शक्ति है। स्वप्नमें देखे हुए सारे दृश्य मनोमय होते हैं। बहिर्जगत्के साथ उनका केवल यही सम्बन्ध होता है कि बहुधा स्वप्नमें देखे गये पदार्थ बहिर्जगत्के प्रतिबिम्बमात्र होते हैं। परन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि सदा स्वप्न-जगत्में बहिर्व्यापारका ही प्रतिबिम्ब होता है। स्वप्नमें ऐसे दृश्य भी देखे

जाते हैं जिनकी पहले कल्पना भी नहीं होती। वे दृश्य केवल मिथ्या कल्पनारूप नहीं होते हैं, बल्कि यथार्थ सत्यकी भाँति ही ठीक होते हैं। वस्तुतः स्वप्नका रहस्य बड़ा ही दुर्गम है; उसे 'कुछ नहीं' कहकर उड़ा नहीं दिया जा सकता। स्वप्नमें हम कितने जीव, कितनी घटनाएँ, कितने स्थान देखते हैं; परन्तु निद्रा-भङ्ग होनेपर उनमेंसे कुछ भी नहीं रह जाता। मनके भीतर मन ही उनकी सृष्टि करता है और मनमें ही वे विलीन हो जाते हैं। जैसा यह स्वप्न-जगत् है ठीक वैसा ही यह वास्तविक जगत् भी है। यदि यह जाग्रत्-स्वप्न कभी टूट जाय तो देखनेमें आयेगा कि जगत् या जगत्की कोई भी वस्तु नहीं है, केवल 'तुम' ही हो। जबतक स्वप्न देखा जाता है तबतक स्वप्नमें देखे गये पदार्थ मिथ्या नहीं जान पड़ते, परन्तु जागते ही जान पड़ता है कि वे सब मिथ्या हैं। ऐसे ही सूक्ष्म देहमें जागनेपर यह स्थूल देह और भौतिक पदार्थसमूह स्वप्नदृष्ट वस्तुके समान अदृश्य हो जाते हैं, इसी प्रकार कारण देहमें भी जागरण होता है। वह विशुद्ध ज्ञानमय होता है। इसीसे यथार्थ जागरणका आभास मिलता है। यथार्थ जागरण होनेपर तो हम एक और ही तरहके मनुष्य हो जाते हैं। तब जान नहीं पड़ता कि हम इस जगत्के आदमी हैं। जगत्के लोग भी उसे फिर दूसरे ही नेत्रोंसे देखते हैं, वह भी इस जगत्को एक स्वतन्त्र मूर्तिमें देखता है। उस समय, देश-काल-ज्ञानकी कोई बाधा उसके सामने नहीं आती। समस्त जगत्में वह एक नवीन मनुष्य हो

जाता है और उसकी दृष्टिमें भी संसार मानो एक अभिनव आनन्द-निकेतन बन जाता है ।

स्वप्नमें प्राप्त पदार्थको जागनेपर नहीं पानेसे जिस प्रकार हमें दुःख नहीं होता, उसी प्रकार जिसका यथार्थ 'जागरण' हो गया है उसे फिर इस जगत्के मान, सम्पत्ति और ख्यातिके लिये कोई खेद नहीं होता । स्वप्नको देखते समय उसे कोई स्वप्न नहीं समझ सकता । इसी प्रकार जबतक मनुष्य प्रबुद्ध नहीं हो जाता तबतक इस जगत्को मिथ्यारूपमें विश्वास कर लेना अवश्यमेव कठिन है । स्वप्नमें कभी-कभी जान पड़ता है मानो हम स्वप्न देखते हैं, यह जिस प्रकार और भी दुर्निमित्तका कारण और महामोहका लक्षण है, उसी प्रकार अप्रबुद्ध (अज्ञान) दशामें आत्मज्ञानका भान (अपनेको ज्ञानी मान लेना) भी मोहाभिभूतके चिह्नके अतिरिक्त और कुछ नहीं है । स्वप्न टूट जानेपर जिस प्रकार स्वप्नदृष्ट वस्तु कुछ नहीं रहती, केवल स्वप्नद्रष्टा ही रह जाता है तथा द्रष्टामें ही स्वप्नदृष्ट समस्त पदार्थोंका अवसान हो जाता है, उसी प्रकार इस जगत्-स्वप्नके टूटनेपर एक परमात्माको छोड़कर और कुछ नहीं रह जाता । जिस प्रकार जाग्रत् होनेपर स्वप्नकी थोड़ी-सी स्मृति बनी रहती है उसी प्रकार ज्ञानीको यह जगत् एक स्मृतिमात्र जान पड़ता है, आगे चलकर, वह भी मिट जाता है ।

मिलन

कितने युग-युगान्तरसे, मुझसे मिलनेकी आशा लगाये मेरे द्वारपर प्रतिदिन आते हैं और सुबह-शाम चुपचाप बाहर बैठे मेरी बाट देखा करते हैं। कितने महीनोंसे, कितने वर्षोंसे, कितनी शीत और ग्रीष्म ऋतुओंसे, कितने शुक्ल-कृष्ण-पक्षोंसे, कितनी मधु-यामिनीसे और कितनी सरस वर्षाधारासिक्त घोर रात्रियोंसे वे आते हैं, उनके आनेमें कभी विराम नहीं है। वे रोज ही आते हैं, परन्तु रोज ही मेरा दरवाजा बंद पाकर आँसूभरी आँखोंसे लौट जाते हैं। फिर भी वे मुझे इसलिये नहीं पुकारते कि मुझे कहीं शरमाना न पड़े, संकुचित न होना पड़े। कितना गुप्त उनका प्रेम है; कितनी नीरव गम्भीर उनके प्रेमकी महिमा है। प्रतिदिन वापस लौट जाते हैं, परन्तु कभी नाराज नहीं होते। मैं इतनी उपेक्षा करता हूँ पर उन्हें कोई अभिमान नहीं है। अरे, इसीलिये तो लोग उन्हें पत्थर और काठ बतलाकर दिल्लगी उड़ाया करते हैं।

मेरे प्रेमकी प्राप्तिके लिये वे एक भिखारीकी भाँति प्रतिदिन ही किसी-न-किसी समय मेरे घरके दरवाजेपर आकर उत्कण्ठित हो व्याकुल नेत्रोंसे देखा करते हैं और अपने मन-ही-मन कहा करते हैं, 'प्यारे मित्र! आज भी तुम (मुझसे मिलनेके लिये)

समय नहीं निकाल सके, खैर, कल फिर आऊँगा। युग-युगान्तर, जन्म-जन्मान्तर जब इसी प्रकार बीत जाते हैं, मेरी घोर निद्रा नहीं टूटती, तब वे मेरे प्रभु, मेरे सदाके प्रेमी, मेरा देह-स्पर्श करके मुझे जगा देते हैं।

किन्तु यह उनका स्पर्श, प्रेमीका हाथ होनेपर भी, हमारे मर्म-स्थलपर आघात पहुँचा जाता है। उनकी इस जगानेकी चेष्टाको ही हमलोग समय-समयपर व्यथाके रूपमें—पीड़ाके रूपमें अनुभव करते हैं। मालूम होता है, व्यथा पाये बिना हम जागना ही नहीं जानते! इसीलिये उनके करुण करस्पर्शकी यह व्यवस्था है। रे निर्बोध चित्त! इसको व्यथा समझकर तू विह्वल न हो! यह जान रख कि, वे असीम करुणामय हमें पीड़ा पहुँचानेके लिये, दण्ड देनेके लिये, व्यथा देनेके लिये नहीं आते। उनकी यह चेष्टा होती है, हमसे मिलनेकी आशासे केवल हमें जगानेके लिये!

मैं जब अपने प्रति उनके इस असीम प्रेमकी बात सोचता हूँ, तभी उनके दोनों करुण-नेत्र-कमल मेरे हृदय-सरोवरमें खिल उठते हैं,—मैं वेदनाकी सारी बातें भूल जाता हूँ, तब अपनी सुधि भुलाकर मेरे प्राण गा उठते हैं—

जाग रहे तुम कौन सदा मम निभृत हृदयमें हे प्यारे!
कौन सधीर विरह-व्याकुल प्राणोंसे टेर रहे प्यारे!
विविध कार्य, नाना साजोंमें, फँसा जगतमें हूँ, प्यारे!
इसमें, मेरा संग चाहते, हो तुम कौन कहो प्यारे!

झूलन-पूर्णिमा

झूलन-पूर्णिमाका उत्सव समाप्त हो चुका। वृष्टिके अजस्र वारि-वर्षणमें नव नीरद श्यामसुन्दरकी यह हिंडोल-लीला मुग्ध जीवको मानो एक अज्ञात देशका समाचार सुना रही है। मेघाच्छन्न आकाश, निविड श्याम अरण्य, घन पत्राच्छादित सुनील वनस्पतिकी श्यामल शाखा और श्याम पत्रसमूहोंके अंदर भी आज उसी नित्य नवीन श्यामसुन्दरका झूलन-उत्सव हो रहा है। चन्द्रदेव भी मानो आज उस नव-नीरद श्याम-शोभासे मुग्ध होकर झूलन-उत्सवका अभिनय कर रहे हैं। वे कभी मेघोंके परदेमें अदृश्य हो जाते हैं, थोड़ी

ही देर बाद झलमल करते हुए हँसीकी ज्योत्स्नाको फैलाकर उसी समय फिर एक दूसरे अदृश्य गर्भमें छिप जाते हैं। ताल-तालपर पदक्षेप-की भाँति शब्दायमान वारिपतनके गम्भीर घोषके साथ आज भुवन-व्यापिनी श्यामायमान घनघोर घटाका कैसा प्रचण्ड नृत्य हो रहा है। समस्त आकाश कैसा घन मेघाच्छन्न है, कहीं एक भी नक्षत्रके दर्शन नहीं होते! क्या हमारा चित्ताकाश भी आज इसी तरह भगवत्प्रेमरूपी मेघसे आच्छन्न होगा जब कि किसी भी तरहके दूसरे क्षीण प्रकाश या विषयज्ञानकी क्षीण ज्योति इस आत्ममग्न संवित्‌को चमकित नहीं कर सकेगी! क्या ऐसा होगा?

श्यामसुन्दरके इस झूलन-उत्सवको देख-देखकर यह विचार होता है कि इस जनहीन अरण्यमें श्यामसुन्दरका यह झूलन-उत्सव किसलिये हो रहा है? सारी सखियाँ उन्हें झुला रही हैं और उनका मुखारविन्द आनन्द-ज्योतिसे भरा जाता है—उसीकी ओर ताक-ताककर मानो वे कृष्णप्रिया गोपाङ्गनाएँ आनन्द-मुग्ध होकर जगत्‌को भूली जा रही हैं। उनको बाह्य चैतन्य नहीं रहा, संसारकी किसी बातका भी स्मरण नहीं है, शिशु जैसे पूर्णचन्द्रकी स्निग्ध किरणमाला देखकर पुलकित हो उठता है और एकदृष्टिसे उसीकी ओर देखा करता है। इसी तरह आज प्राणवल्लभ प्रभु श्री-कृष्णकी चमकती हुई मुखप्रभासे हतज्ञान हुई गोपबालाएँ अन्य किसी ओर भी ध्यान नहीं दे सकतीं! वे मन-ही-मन कह रही हैं—'इन चरण-कमलोंमें इस तरहसे तुमने खींच लिया है प्रभो! कि अब किसी भी दूसरी ओर ताकनेकी इच्छा नहीं होती! अब न तो

हम और कुछ देखना-सुनना चाहती हैं और न देख-सुन पाती ही हैं—तुम्हारे इस प्रभात-कमलकी अम्लान सुषमासे पूर्ण मुख-कमलने जगत्‌की सारी बातें भुला दी हैं। 'इतररागविस्मारणम्, सुरतवर्द्धनं शोकनाशनम्' यह तुम्हारी आकर्षणी शक्ति इतनी प्रबल है कि जिसका वर्णन नहीं हो सकता, हम तो केवल यही समझ सकी हैं कि तुम्हारा कथामृत ही इस संतप्त जीवके लिये एकमात्र अमृतस्वरूप है। उसी भवकल्मषापहारी तुम्हारे वचनामृतने आज हमारे मनको सब पदार्थोंसे जबर्दस्ती निकालकर तुम्हारे चरण-कमलोंमें लगा दिया है। इसीसे अब इन चरणोंको छोड़कर कहीं भी जानेकी हमारी शक्ति नहीं रही।

ओ सुन्दर! ओ मनोहर! तुम कितने सुन्दर हो, किस तरहसे मन खींच लेते हो? ओ! तुम इतने अनूपरूप हो कि तुम्हारे सामने नजर चली जानेपर फिर कभी पलक ही नहीं पड़ती! इसी-से आज हम अपने आपको सम्हालकर नहीं रख सकतीं। विकसित कमल-गन्धसे मुग्ध मधुकरकी भाँति आज हमारी सभी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयोंको छोड़कर उन्मत्तवत् तुम्हारी ओर दौड़ रही हैं। क्या आकर्षण है? कैसी टान है? संसारके सैकड़ों बन्धन पटापट् टूटे जा रहे हैं। क्या यही तुम्हारे प्रेमकी टान है? क्या यही तुम्हारे नयनबाण हैं? क्या यही तुम्हारी मुरलीकी तान है अथवा क्या यही तुम्हारा आकर्षक 'कृष्ण' नाम है? जो इसे सुनता है, वही इस प्रचण्ड प्रवाहमें बह जानेके लिये पागल होकर कूद पड़ता है। तुम उसे एकदम अपने असीम नील जलधिरूप रूपराशिके समुद्रमें निमज्जितकर सदाके लिये डुबो देते हो। सब कुछ भुला

देते हो, उसके जगत्को केवल कृष्णमय या ब्रह्ममय बनाकर ही छोड़ते हो !

कब तुम्हारा वह गान सुननेको मिलेगा नाथ ? कब उस मुरलीको मधुर तानसे मुग्ध ब्रजबालाओंकी तरह व्याकुल होकर मैं वन-वनमें मन-ही-मन तुम्हारी गुण-गाथा गाता डोलूँगा ? कब अन्य किसी भी वस्तुकी स्मृति नहीं रहेगी ? कब तुम्हारे चिन्तनमें मत्त होकर समस्त चिन्ताओंसे छुटकारा पाऊँगा ? कब तुम्हारे बनाये हुए इन सुन्दर धरणी-वक्षविहारी तरुगुल्मलताओंसे भी व्याकुल होकर तुम्हारी ही गाथा पूछूँगा ? इसीसे तो परमज्ञानी उद्धव गोपियोंके प्रिय विरहके मर्मभेदी दारुण क्रन्दनसे चकित होकर कह उठे थे—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम् ।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् ॥
वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः ।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम् ॥
(श्रीमद्भा० १० । ४७ । ६१, ६३)

'इन गोपियोंको धन्य है जिन्होंने दुस्त्यज स्वजन और लौकिक धर्मका त्यागकर श्रुतियोंको भी जिसका मिलना कठिन है उस मुकुन्दपद-पदवीको प्राप्त कर लिया है । प्रभुसे मेरी प्रार्थना है कि अगले जन्ममें इन गोपियोंके चरणोंकी रज जिनपर पड़ती है,

उन वृन्दावनकी लता, ओषधि और झाड़ियोंमेंसे मैं कोई-न-कोई अवश्य होऊँ। जिन गोपियोंका हरि-गुण-गान त्रिभुवनको पवित्र करता है उन सब नन्दके व्रजकी स्त्रियोंके चरणरजको मैं बारंबार प्रणाम करता हूँ।'

प्रियके प्रति ऐसा अनुराग तो जीवमात्रमें ही है—परन्तु वह 'इतर राग' है 'कृष्णानुराग' नहीं। इसीसे हमारी समस्त चेष्टाएँ, सारे प्रयत्न व्यर्थ हुए चले जा रहे हैं पर हमें प्रियतमकी प्राप्ति नहीं होती। इस जगत्में सभी प्रियके अन्वेषणमें लगे हैं—सभी आनन्द-के भिखारी हैं। चन्द्रकिरणोंके छिटक जानेपर जैसे जगत्की प्रत्येक वस्तु अपूर्व शोभासे भर जाती है, इसी प्रकार आनन्दघन आत्म-चैतन्यके प्रतिबिम्बसे आज जगत्का सब कुछ मानो हँस रहा है, इसीसे मधुलोभ-मुग्धा पिपीलिकाओंकी भाँति आज समस्त नर-नारी उस पूर्णचन्द्रसदृश पूर्णानन्दमय परमात्माका स्पर्श करना चाहते हैं, पर कर नहीं पाते। केवल उनकी किरणरेखाओंसे प्रकाशित विषयोंकी ओर ही उन्मत्तकी तरह दौड़ रहे हैं। सोचते हैं इनसे ही हमारे प्राणोंकी पिपासा मिट जायगी! हाय रे मुग्ध जीव! हाय रे पथभ्रान्त पथिक! क्या कायाको छोड़कर छायाकी ओर दौड़नेसे कभी सुख स्पर्शका आनन्द मिल सकता है? जो परमदेव अखिल विश्वमें व्याप्त हो रहे हैं, समस्त देहोंमें जो अन्तर्यामीरूपसे विराजमान हैं, वही सच्चिदानन्दमय आत्मा हैं। वही सब जीवोंके अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं, वही सबके अत्यन्त प्रिय हैं, इसीसे उनका नाम है 'श्रीकृष्ण'!

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।

(श्रीमद्भा० १०। १४। ५५)

इन परमात्माका स्वरूप ही 'सच्चिदानन्द' है 'ब्रह्मानन्दरूपममृतम्' । इस आनन्दको जान लेनेपर फिर किसीका भी भय नहीं रह जाता—'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् बिभेति कदाचन' ।

> सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः
> कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
> ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा
> युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ॥
>
> (मुण्डक० ३ । २ । ५)

यह आनन्द ही ब्रह्म है और हम सब इस आनन्दको ही चाहते हैं । केवल विचारदोषसे विपर्यय-बुद्धि हो जानेके कारण हमें निरानन्दमें आनन्दका भ्रम हो गया है । विषयोंमें आनन्दका स्पर्श देखकर हम प्राणोंकी बाजी लगाकर उन्हींकी ओर दौड़ते हैं और विषय-विषस्वादनसे संतप्त होकर पुनः-पुनः इस जन्म-मृत्युका दुःखान्त नाटक खेलते फिरते हैं ।

जब विषयोंमें आनन्द नहीं है तो फिर वह आनन्द है कहाँ ? वह चितचोर श्यामसुन्दर कहाँ मिलता है ? कहाँ जानेसे, किसमें मन लगानेसे प्राणोंकी यह महत्त्वाकांक्षा पूरी होती है ? हम सभी उस त्रिभुवनमोहन समस्त प्राणियोंके परम प्रियतम, परम सुन्दर आनन्दघन श्रीकृष्णचन्द्रके चरण-भिखारी हैं । इसीसे विषयानन्दमें निरानन्द प्रकट होता है और उससे जीवकी तृप्ति नहीं होती । कोई भी विषयसुख जीवको सदाके लिये मुग्ध करके नहीं रख सकता । इसीसे समस्त जगत् क्रन्दन और हाहाकारकी ध्वनिसे

भर रहा है। सभीके प्राण व्याकुलतासे रो-रोकर यही चिल्ला रहे हैं—

'कहाँ है वह सुन्दर ? वह जगजनमनोहर, वह आनन्दरस-सिन्धु, हमारा जीवन-सर्वस्व रसराज परमात्मा ! प्यारे, कहाँ हो तुम ?'

सबमें आनन्द बिखेरकर, सभी वस्तुओंको श्याम शोभासे पूर्णकर, सारे जगत्को शोभन सुषमासे भरकर, कौन हो तुम, जो इस आनन्दोत्सवमें मग्न हो रहे हो ? परन्तु तुम हो कहाँ ? समस्त शोभाओंमें, सारे सौन्दर्यमें अपनेको बिखेरकर भी तुम कैसे छिपकर बैठे हो ? छिपे-छिपे कितने कौतुक कर रहे हो ? क्या यही तुम्हारा 'यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः' है ? क्या यही तुम्हारी रमणेच्छा है ? इसीलिये तो आज यह त्रिभुवन नाच उठा है। सूर्य-चन्द्र, ग्रह-नक्षत्र, नदी-समुद्र, वृक्ष-लता, मानव-मानवी और जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, संयोग-वियोग आदि सभी पदार्थ आज क्या ही सुन्दरतासे तालके इशारेपर नाच रहे हैं। वेदने कहा है—'रसो वै सः' परमात्मा आनन्दस्वरूप है। प्रेमकी भाषामें वह 'रसराज रसिकशेखर' है। उस आनन्दके लिये ही जब जीव व्याकुल है, तब उसकी वह आनन्दकी बलवती स्पृहा ही क्या परमात्माके स्वरूपानुसन्धानको प्रस्फुटित नहीं कर रही है ? हो चाहे वह स्पृहा विषयोंमें सनी हुई, परन्तु जिस आनन्दके अन्वेषणमें इस जीव-निर्झरिणीने उत्तुङ्ग शैलमालाका वक्ष विदीर्णकर उस महासिन्धु-का सन्धान पानेके लिये जीवनयात्रा आरम्भ की है, वह आज नहीं

कल, इस जन्ममें नहीं किसी आगामी जन्ममें, उस परमानन्दधाम रससिन्धुको प्राप्त किये बिना कभी रुक नहीं सकती। उसकी चेष्टाएँ, उसका अभिसार-उद्यम भले ही बारंबार निष्फल होता रहे, परन्तु एक दिन ऐसा अवश्य ही आवेगा, जिस दिन वह अपने जीवनके इस चरम लक्ष्यकी सन्निधिमें पहुँचकर अपनी जीवन-यात्रा पूरी करेगी। इससे पहले जीव भूमानुसन्धानसे कभी निवृत्त नहीं हो सकता। यद्यपि यह सम्भव है कि इन्द्रियोंकी भ्रान्त धारणा और जीवकी अविवेकताके कारण कई बार पैर फिसले, कई बार धोखा हो, गिरना-उठना पड़े, तथापि उस सत्यस्वरूपको, उस हृदयैकबन्धुको, उस मनोवाञ्छित प्रेमीको ढूँढ़े बिना इन्द्रियोंकी यह आनन्दस्पृहा कभी मिट नहीं सकती। इन्द्रियाँ अभी जिन पदार्थों-का रसास्वादन कर रही हैं, उनमें उस असली रसका स्वाद न मिलेगा तबतक किसी भी समय उनकी सुखस्पृहाका नशा नहीं उतर सकता। अतएव उस प्रियतमको खोजनेकी अदमनीय चेष्टा कभी रुक ही नहीं सकती। उस आनन्दके मिलनेपर ही, उस पूर्णको पहचाननेपर ही हम अभय हो सकेंगे!

हमारे प्राणोंकी इतनी आर्ति, इतनी पिपासा, इतनी व्याकुलता, अन्य कुछ भी नहीं है वह केवल उस परमानन्द-रससिन्धुकी मिलनाकांक्षाको ही प्रकट कर रही है।

यह आनन्द ही हमारा आश्रय है, यह आनन्द ही हमारा जीवन है, यह आनन्द ही हमारी जीवन-व्यापिनी क्षुधाके लिये श्रेष्ठ भोजन है। श्रुति कहती है—

आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति ।

(तै० उ० ३ । ६)

एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पदेषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः ।

(बृह० ४ । ३ । ३२)

इस आनन्दभोगके लिये ही संसारकी रचना हुई है । इसी आनन्दके हिलोरोंसे संसार नाच रहा है । जहाँ प्रियजनोंसे मिलन या एकता होती है वहाँ तो आनन्द प्रत्यक्ष ही है, परन्तु प्रियजनोंके विच्छेदमें हमलोग जो रोते हैं, वह भी एक प्रकारके आनन्दका ही सुर है । वहाँ भी हम एक रस भोगते हैं । अवश्य ही वह सुर सुननेवालोंको विहाग रागिनीसे ही मुग्ध करता है । इस आनन्दरसको भोगनेके लिये ही पिता-माता पुत्रस्नेहसे व्याकुल हैं, बन्धु प्रियबन्धुके लिये इतना आग्रहशील है, पति पत्नीके लिये, पत्नी पतिके लिये, भाई बहिनके लिये, बहिन भाईके लिये, गुरु शिष्यके लिये, शिष्य गुरुके लिये, नौकर मालिकके लिये और मालिक नौकरके लिये इतने व्याकुल हैं ! सभी इस प्रेमपूर्ण मधुर सम्बन्धसे ही उस रसरूप परमानन्दका भोग कर रहे हैं—'एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति' इस परमानन्द-रसाम्बुधिके एक कणको पाकर ही आज समस्त जगत् तृप्तिका अनुभव कर रहा है । यह आनन्द ही विश्वचराचरके समस्त भूत-समुदायका एकमात्र उपजीव्य है । यह आनन्द न होता तो यह जगत् एक पलभरके लिये भी जीवित नहीं रह सकता ।

सारा जगत् सुखकी इच्छा करता है परन्तु उस सुखका स्वरूप क्या है ? उस सुखभोगकी अवस्था कैसी है और उस सुखभोगके समय हमारी इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ किस अवस्थामें रहती हैं, इस बातको समझ लेनेसे ही सुखके स्वरूपका निर्णय हो जायगा ! हमारे सामने जब कोई विषय आता है तब इन्द्रिय और तन्मात्रा (चिन्तन-स्मरण) द्वारा लिप्त होकर अन्तःकरण सुख भोग करता है । यदि अन्तःकरण लिप्त न हो तो बाह्येन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय-के चाहे जितने लिप्त रहनेपर भी इसकी प्रतीति बिल्कुल नहीं होती । इस रसकी प्रतीतिका कारण क्या है ? यह देखा जाता है कि जगत्में जो मनुष्य जिस वस्तुकी या व्यक्तिकी अत्यन्त आकांक्षा करता है, वह उसीके चिन्तनमें एकाग्र हो जाता है । एकाग्र इस-लिये होता है कि उस समय समस्त इन्द्रियोंकी अलग-अलग वृत्तियाँ एक जगह सिमटकर जम जाती हैं । चिन्तन चाहे धनका हो, स्त्रीका हो, वैभवका हो या भगवान्का हो, परन्तु इन्द्रियोंके भिन्न-भिन्न वेग एक ही वेगमें जब मिल जाते हैं तभी सुखकी प्रतीति होती है । नाना प्रकारकी चिन्ताओंके लगे रहनेसे किसी एक विषयपर चित्त नहीं जमता इसीलिये जगत्में आनन्दके बदले इतना निरानन्द देखनेमें आता है । योगीके योगाभ्यास, ज्ञानीके तत्त्वविचार और भक्तकी भजन-क्रियासे यह चित्त एकमुखी होता है । चित्तके एकमुखी होनेकी जो पराकाष्ठा है उसीको भाव या समाधि कहते हैं । इस भाव या समाधिसे जो कुछ मिलता है, वही ज्ञानीका अद्वय ज्ञानतत्त्व, योगीका आत्मसाक्षात्कार और भक्तका भगवच्चरण-चुम्बन है ।

अभ्यास न होनेके कारण विना अवलम्बनके चित्त पहले-पहल स्थिर नहीं होता। आरम्भमें किसी-न-किसी अवलम्बनपर ही अभ्यास करना पड़ता है। इसीलिये कोई अपने मनोनुकूल मूर्तिपर, कोई ज्योतिपर, कोई किसी भावका अवलम्बन करके ही ध्यानका अभ्यास आरम्भ करते हैं। निरावलम्बनसे भी ध्यान होता है, परन्तु उसके लिये दीर्घकालीन अभ्यास और मन, वाणी, शरीरके विशेप निर्मल होनेकी आवश्यकता है। कुछ पाने, समझने या चखनेके तीव्र आवेगसे ही यह ध्यानरूपी क्रिया अच्छी तरह वनती है। इसीलिये जो मूर्ति अत्यन्त सुन्दर होती है अथवा जिसको हम वहुत प्यार करते हैं, उसका ध्यान करनेसे भी चित्त एकाग्र होकर स्थिर हो जाता है और उस स्थिर चित्तमें आनन्दका प्रवाह वहने लगता है। वह मूर्ति यदि सच्चिदानन्द भगवान्‌की या श्रीगुरुदेवकी हो तो और भी सुविधा होती है।

भक्तगण भगवान्‌की किसी विशेप मूर्तिका ध्यान करते-करते जव उसमें तन्मय हो जाते हैं तव उनके चित्तकी जो अवस्था होती है उसपर विचार करनेसे यह वात और भी स्पष्टरूपसे समझमें आ सकती है। जव साधक एकान्त मनसे भगवान्‌की मूर्तिका ध्यान करता है तव पहले तो 'यह भगवान्‌की मूर्ति है' और 'यह मैं उसका ध्यान करता हूँ'—इस तरह 'मैं' का वोध रहता है। इसके वाद चिन्तन जितना ही गम्भीर और अन्तर्मुखी होता है, मनकी वाहर भटकनेवाली शक्ति भी उतनी ही घट जाती है। तदनन्तर माळूम होता है कि मानो मन एकाग्रभावसे केवल उस मूर्तिमात्रको ही देख रहा

है। इसके बाद होते-होते 'वह देख रहा है,' इस बातको भी भूल जाता है, फिर मन नहीं रहता। उस समय कोई ध्याता नहीं रह जाता, केवल ध्येयमात्र रह जाता है। सिद्ध भक्त कबीरने गाया है—'हेरत हेरत हे सखी! हेरन गया हेराय।' ढूँढ़ते-ढूँढ़ते ढूँढ़नेवाला ही खो गया। इस तरह ध्यानमें अपनेको खो देने—सब कुछ भूल जानेका भाव ही आनन्दकी पराकाष्ठा है। इसीका नाम अनन्य शरण है। यही प्रीतमके साथ प्रेमिकका मिलनगृह है। ऐसी अवस्थामें भक्त उस अरूप चिन्मयसागरमें डूब जाते हैं। उनके हृदयके सुर उस अनादि परमानन्द सुरमें एक होकर मिल जाते हैं। इसी समय भक्त भगवद्रूप हो जाते हैं। उनका अपना अलग कुछ भी नहीं रह जाता। यह एकतानता जब भक्त और भगवान्‌को एक कर देती है तभी उस अखण्ड आनन्दका स्रोत बहने लगता है जिस आनन्दके केवल एक कणमात्र अंशको ही समस्त जीव विषयोंमें उपभोग करते हैं।

विषय-सुखभोगके समय भी चित्त एकाग्र और एकमुखी होता है। नहीं तो उसमें सुखकी प्रतीति ही नहीं हो सकती। जिस समय विषय-सुख मिलता है उस समय असलमें होता यह है कि एक सुखमय वस्तुके स्मरणसे अन्य सब प्रकारके चिन्तन चित्तसे हट जाते हैं, ऐसे चिन्तनविक्षेपशून्य थोड़े-से क्षणोंमें विद्युत्‌के क्षणिक आलोककी भाँति चित्तमें सुखस्वरूपका जो प्रतिबिम्ब चमकता है, बस, उसीसे आनन्दका बोध होता है। परन्तु चित्त विचारशील न होनेके कारण वह यह नहीं समझ पाता कि यह सुख वास्तवमें

कहाँसे आता है। इसीसे जीव भ्रान्त धारणाके वशमें हो सुखको छोड़कर विषयोंकी सेवा करने लगता है और फलस्वरूप अनन्त दुःखसागरमें निमग्न हो जाता है। विष्णुपुराणके वचन हैं—

यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान्मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः॥
(१।१७।६६)

जीव जितना ही विषय-सुखोंमें मन लगाता है उतना ही उसका हृदय दुःख-बाणोंसे बिंधा जाता है। गीतामें कहा है—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।

विषय नाशवान् और परिवर्तनशील हैं। अतः विषयोंके सेवनसे कोई भी अनन्त सुखका अधिकारी नहीं हो सकता। इसलिये विषयोंको छोड़कर जिसकी छायामात्र पड़ जानेसे ही दुःखरूप विषय सुखरूप प्रतीत होने लगते हैं—उस परमानन्दस्वरूपकी खोज करना ही सुखप्राप्तिका यथार्थ उपाय है। इस अल्प क्षणिक सांसारिक सुखको त्यागकर जो सज्जन जितने अंशमें उस नित्य भूमानन्द सुखके अनुसन्धानमें प्रवृत्त होते हैं, हमलोगोंमें वे उतने ही अधिक चतुर हैं—

जो भजते श्रीकृष्णको, वे ही चतुर सुजान।

अब यह बात समझमें आ गयी होगी कि धीर और विचारवान् पुरुषको इस दुःख-व्याधि-जरा-मृत्युपूर्ण सांसारिक सुखका लोभ कदापि नहीं होना चाहिये। यदि दुर्भाग्यवश कदाचित् विषय-

सुखका लोभ हमारे मनमें होता हो तो हमें ऐसे अभ्यासको किसी तरह भी तुरन्त छोड़ देना चाहिये, अन्यथा दुःखसागरसे तरनेका कोई उपाय ही नहीं है।

मनुष्य या जीवमात्र जब सुखकी आशासे ही विषयोंका सेवन करते हैं तब असली 'महासुख' क्या और कहाँ है, इस बातका पता लगाना मनुष्यमात्रका परम कर्तव्य है। हम जानते हैं कि अन्यान्य जीवोंकी भाँति मनुष्य भी प्रतिक्षण सुखकी चेष्टामें ही दौड़ रहा है। श्रुति भी कहती है—

यदा वै सुखं लभतेऽथ करोति नासुखं लब्ध्वा करोति सुखमेव लब्ध्वा करोति।

(छान्दोग्य० ७। २२। १)

'सुख-प्राप्तिकी इच्छासे ही जीव नाना प्रकारके कर्म करता है। दुःख-प्राप्तिके लिये नहीं' परन्तु हमारे कुसंस्कार और हमारा अज्ञान इतना बढ़ा हुआ है कि जिस सुखके हम इतने लोभी हैं, वह क्या और कहाँ है इस बातको न जानकर ही हम असली सुखको पैरों तले कुचलते हुए, जो सुख नहीं है, जो केवल निरानन्द है उसीको सिर चढ़ा रहे हैं! जिस बाघसे बड़ा भय है, उसीको बुलाकर हम घरमें घुसेड़ रहे हैं!

अनेक दृश्यों और वासनाओंसे असली सुख ढक जाता है। इस दृश्यको दिव्य दृष्टिसे देखकर ही ऋषियोंने उस परम सुखकी खोजके लिये सम्पूर्ण चिन्ता और वासनाओंको संयतकर, विषयके मोहपाशको जोरसे तोड़कर, अपनी समस्त इन्द्रियशक्ति और बुद्धि-

शक्तिको उस एककी ओर लगा दिया था। तन्मयता और गंभीर एकाग्रताके अवलम्बनसे उन्होंने उस परम सत्यको उस परमामृत आनन्द-रस-सिन्धुको दिव्य नेत्रोंसे देखकर जगत्को यह बतला दिया था कि वह 'सुख' विषयोंमें नहीं है, वह तो तुम्हारे अन्तरात्मामें ही स्थित है। वह आत्मा ही परमानन्दस्वरूप और समस्त आनन्दका धाम है और उस आत्मामें ही जीवकी शाश्वती शान्ति निहित है। बाहर खोजनेपर उसका पता नहीं लग सकता।

मनसैवानुद्रष्टव्यं नेह नानास्ति किञ्चन।
मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति॥

(बृह० ४।४।१९)

उस असीम एक अद्वितीयको मनके द्वारा ही देखना होगा। परन्तु उसमें बहुत्व या नानात्व नहीं है इसलिये यदि मन उसे देखना चाहता है तो पहले उसको भी बहुस्पृहा और बहुवासनाओं-से रहित करना पड़ेगा। तब उसे उस परम एक 'एक अखण्ड राजराजेन्द्रराज' का पता लग सकेगा। नहीं तो जो केवल नानात्व या बहुत्व ही देखते हैं, वे एक मृत्युसे दूसरी मृत्युमें ही जाते हैं।

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं
गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं
मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति॥

(कठोपनिषद् २। १२)

जो दुर्दर्श है यानी जिसको सहजमें देखा नहीं जाता, जो

गूढ़ है अर्थात् जो हृदयगुफामें छिपा हुआ है; बुद्धिके अंदर स्थित उस पुराणपुरुषको अध्यात्मयोग (भक्तिज्ञानयोग) के द्वारा जानकर ज्ञानी पुरुष सुखदुःख, हर्षशोकसे छूट जाते हैं।

वह हृदय-गुहामें अवस्थित पुराणपुरुष ही अक्षरब्रह्म है—

तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः।
तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥

(मुण्डकोपनिषद् २।२।२)

उस आत्माको —उस परम सत्यको इस स्थूल दृष्टिसे कोई भी नहीं देख सकता—

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्॥

(कठोपनिषद् ६।१०)

तब उसे देखनेका उपाय क्या है ?

लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत् परमं पदम्॥

(मैत्र्युपनिषद् ६।३४)

मनको लय-विक्षेपसे रहितकर यानी गाढ़ तमसाच्छन्न निद्रा और आलस्यको त्यागकर तथा विविध विषयोंकी आकांक्षासे चित्तमें जो तरंगें उठती हैं, उस तरङ्गरूप विक्षेपसे रहितकर मनको स्थिर और निश्चल करना पड़ेगा। चिन्ता-तरङ्ग-शून्य होनेसे ही मन भलीभाँति शान्त और निर्मल होता है। प्रशान्त और निर्मल भावका नाम ही 'अमनीभाव' है। इस अमनीभावसे ही ब्रह्मके परमपदकी उपलब्धि होती है।

मानसे विलीने तु यत्सुखं चात्मसाक्षिकम् ।
तद्ब्रह्म चामृतं शुक्रं सा गतिर्लोक एव सः ॥
(मैत्र्युपनिषद् ६ । २४)

मनके विलीन हो जानेपर सुखस्वरूप आत्मा या द्रष्टाका प्रकाश होता है । वही ब्रह्म और अमृतस्वरूप है, वही शुभ्र और निर्मल यानी परम पवित्ररूप तथा वही सबकी गति और सबका चरम लक्ष्य—आश्रय स्थान है ।

जगत्में हम जो भोग्यपदार्थोंके लिये इतना लोभ करते हैं, सो केवल रसास्वादनके लिये ही करते हैं । यह आनन्द न होता तो हम बच ही नहीं सकते । हम यह भी जानते हैं कि शरीरमें आत्मा है तभीतक हम जीवित रहते हैं । आत्माके न रहनेपर नहीं रह सकते । इससे यह सिद्ध होता है कि शरीरका असली प्राण आत्मा ही है । ऊपर यह कहा जा चुका है कि आनन्द ही हमारा जीवन है, इसलिये यह समझना चाहिये कि आनन्द ही आत्मा है। शरीरके लिये शरीरको कोई नहीं चाहता, इसमें आत्मा है इसीलिये सबकी शरीरपर इतनी आसक्ति है ।

इस आत्माके साधारणतः दो भाव हमारे दृष्टिगोचर होते हैं, एक सत्ताभाव यानी अस्तित्व—होनेपनका भाव और दूसरा आनन्द या प्रकाश । यह आनन्द ही समस्त पदार्थोंमें मोहिनीशक्ति है । अतएव इस आनन्दको हम 'मोहन' भी कह सकते हैं । इसीलिये सच्चिदानन्दविग्रह श्रीकृष्ण हम सबके 'मोहन' हैं । परन्तु उनको केवल मोहनरूपसे ही नहीं जानना चाहिये । वे 'मदन-मोहन' हैं यह भी जान लेना चाहिये ।

इस प्रकार जानने-समझनेका काम पूरा होते ही जीवनका लक्ष्य या उसकी गति ठीक हो जाती है। फिर इस संसारके लिये ही संसारका बखेड़ा नहीं करना पड़ता, फिर तो इस संसारमें आनन्दका खेल हुआ करता है। उस समय हम देखते हैं कि कोई किसी भी भावसे या कोई-सा भी स्वाँग सजकर क्यों न रहे, सबका एकमात्र कर्तव्य उस रसराजको लेकर केवल रसका खेल करते रहना ही होता है। उस समय कर्तव्य कार्य या धर्म समझकर कोई कार्य नहीं होता; फिर तो सभी उस आनन्दके खेलमें निमग्न रहते हैं। परन्तु, यह सारा होता है, उस एकके लिये, उसको ही केन्द्र बनाकर। इसीलिये देहेन्द्रिययुक्त गोपियाँ इस संसार-अरण्यमें एकमात्र परमात्मा श्रीकृष्णको लेकर ही अपनी संसारयात्रा चलाती थीं। इसीसे उन्होंने सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि द्वन्द्वभावोंके हिंडोलेमें केवल एक श्रीकृष्णके अतिरिक्त अन्य और किसीको भी नहीं देखा। इस तरहसे देखना सीख लेनेपर जगत्के समस्त आनन्द ब्रह्मानन्द हो जाते हैं। फिर मनमोहन केवल मनको मोहित करके ही चुप नहीं रह जाते। वे हमारी विषयरसास्वादनकी वासनाको भी ब्रह्मानन्दकी ओर लगा देते हैं, यही उनका 'मदनमोहन' रूप है। पर यह दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि इस 'मदनमोहन' को देखनेके लिये पहले राधिका या उपासिका बनना पड़ता है। उपासना बिना संसारका मोह दूर नहीं होता। इसीसे कहा गया है—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः।

सूर्यको न देखकर सूर्यसे ही सैकड़ों तरफ बिखरी हुई किरणोंसे प्रकाशित वस्तुओंको देखनेकी भाँति, यह जीव परमात्माको न देख उसके बदले अनन्त विषयराशिको देख-देखकर मुग्ध होता है। इसीसे कहा जाता है कि विषयोंमें भी वंशी अवश्य उन्हींकी बजती है। परन्तु उसमें जीव 'पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्' इसीसे उस सुमधुर शब्दसे केवल हमारी इन्द्रियाँ ही मथित होती हैं पर माया-आवरणके उस पार जो उस स्निग्ध समुज्ज्वल-सजलजलद-कान्त-श्यामसुन्दरके मधुर अधरोंसे निकला हुआ वंशीरव ध्वनित हो रहा है, उसे हम नहीं सुन पाते। एक बार उस मधुर ध्वनिको सुनते ही हमारे प्राण इस तरहसे स्पन्दित हो उठते हैं कि फिर उसके द्वारा चित्तसे संसारके समस्त बन्धन ढीले पड़ जाते हैं। परमात्माके संगलाभके लिये चित्त आतुर हो उठता है। संसारके अगणित बन्धनोंके ढीले पड़ते ही यह उन सबसे छूटकर दौड़ना चाहता है। मानो किसी अमल धवल शुभ्र ज्योतिमें मन-प्राणके वेग प्रवाहको डुबो देनेकी इच्छा होती है। प्रेममयकी यह त्रितापहारी मुरली-ध्वनि एक बार भी जिसके कानोंमें प्रवेश कर जाती है फिर उसका हमलोगोंकी तरह संसारमें रहना असम्भव हो जाता है।

मोहनकी उस मुरली-ध्वनिने, है—
जिसका मन मोह लिया।
जीवन प्राण हो उठे व्याकुल,
जिसने अपना दिया हिया॥
मधुर वंशरीध्वनिको सुनकर,
पागलिनी मैं बनी अहा!

कैसे गृहमें रहूँ आज मैं—
कैसे सहूँ विपत्ति महा॥

फिर उसकी सारी व्याकुलता, जन्मजन्मान्तरकी समस्त इच्छाएँ एक लक्ष्यकी ओर जग उठती हैं। वहाँ जल्दी दौड़ जानेके लिये उसके समस्त मन-प्राण घबरा उठते हैं, और जैसे बाँधके टूट जानेपर जलप्लावनका प्रवाह बड़े वेगसे बहकर सम्पूर्ण प्रान्तके गाँवोंको बहा ले जाता है इसी तरह विषय-तृष्णाका बाँध टूट जानेपर प्राणोंमें भगवत्प्रेमके जिस प्रबल उन्मत्त वेगका सञ्चार होता है, वह सारे बन्धनोंको जोरसे तोड़ डालता है। प्रणयीके अभिसारमें दौड़नेवाली प्रणयिनीकी भाँति, उसे रोकनेके लिये किसी भी सांसारिक प्रलोभनकी शक्ति काम नहीं देती। उस समय वह होता है अनन्तका यात्री,—अनन्त आनन्दसिन्धु-संगमका प्रयासी। तब वह जगत्के समस्त विघ्न-बाधाओंके मस्तकपर जोरसे लात मारकर उच्च स्वरसे पुकार उठता है—

घर तजौं बन तजौं 'नागर' नगर तजौं,
वंशीवट-तट तजौं काहू पै न लजिहौं।
देह तजौं गेह तजौं नेह कहो कैसे तजौं,
आज काज राज बीच ऐसे साज सजिहौं॥
बावरो भयो है लोक बावरी कहत मोको,
बावरी कहेतें मैं काहू ना बरजिहौं।
कहैया सुनैया तजौं, बाप और भैया तजौं,
दैया! तजौं मैया पै कन्हैया नाहिं तजिहौं॥

फिर उसकी कैसी अवस्था होती है इस सम्बन्धमें भागवतमें कहा है—

एवंव्रतः स्वप्रियनामकीर्त्या
जातानुरागो द्रुतचित्त उच्चैः।
हसत्यथो रोदिति रौति गाय-
त्युन्मादवन्नृत्यति लोकबाह्यः॥
(श्रीमद्भा० ११।२।४०)

उसे जगत्के खान-पान, वस्त्र-अलङ्कार, मान-प्रतिष्ठा आदि किसी भी वस्तुकी आवश्यकता नहीं रह जाती, कोई वस्तु अच्छी भी नहीं लगती। वह उस प्रेमिककी अपूर्व माधुरीका स्मरणकर गलदश्रुलोचनसे रोकर व्याकुल हो जाता है। अपने उस प्राणाराम अपूर्व सुन्दर कान्तको वह कितने ही नामोंसे पुकारता और उसे कितनी ही सोहागकी बातें कहना चाहता है, तब वह बन्धनमुक्त विवश प्राणोंसे गा उठता है—

सखी! मोहिं 'स्याम' सुनायो कौन?
मधुरो अमित अमीतें मीठो जीवन-जड़ सुख-भौन॥
कर्णरन्ध्रतें अन्तर पहुँच्यो परस्यो मर्मस्थान।
रोम रोम छाई मादकता व्याकुल कीन्हें प्रान॥
नाम मिलत ऐसी बौरानी आप मिले कहा होय।
सखी स्यामके दरसनमें हौं दऊँ अपनपौ खोय॥

उस समय उस भक्तके जाति-पाँति, कुल आदिका गर्व सर्वथा गलित हो जाता है, उसके प्राण तद्गत होकर सर्वथा उस प्रेममयके चिन्तनके लिये ही अकुलाते रहते हैं। कृष्ण-विलासिनी प्रेमोन्मादिनी इस चित्त-गोपिकाके अन्तरसे उस समय एक यही पुकार उठती है—

प्रिय! तव रूपे रूपिनी तव गर्वे अभिमान।
तव आनन्दे सुखमयी तव प्राने सप्रान॥

तब उस व्याकुल चित्तमें केवल एक यही इच्छा जाग्रत् रहती है—

> नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
> नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।
> किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
> र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥
>
> (श्रीसार्वभौमभट्टाचार्यस्य)

उसी श्रीकृष्णप्रेममत्त, ब्रह्मानन्दरसनिमग्न, पूर्णज्ञानसमारूढ़ चित्तका एक चित्र इस झूलनयात्रामें दिखलाया गया है। इसमें अपनेको सुखी बनाने या अपनी इन्द्रियोंके तृप्त करनेकी किञ्चित् भी इच्छा नहीं है। इच्छा है केवल उस प्रेममयको तृप्त करनेकी। जिस बातमें उसे सुख हो उसीमें हमें अपार सुख है। प्रेममय जब सुखमें मग्न हो जाता है तब हमें अपना स्मरण नहीं रहता, केवल उसीका स्मरण रहता है। इसीसे आज कृष्णप्राणा गोपियोंके आनन्दकी सीमा नहीं है। श्रीकृष्ण आनन्दके झूले झूल रहे हैं। जिसकी सत्तासे, जिसके आनन्दसे आज जगत्‌में हजारों पैदा होते और नाश होते हैं—हजारों खिलते और कुम्हलाते हैं, आते हैं और जाते हैं। इस आने-जाने, जन्म-मृत्यु या सृष्टि-प्रलयके नित्य चञ्चल प्रवाहमें उसका यह अपूर्व झूलन-आनन्द हो रहा है। इसीसे भक्त गोपियाँ संशय छोड़कर अनिमेष नयनोंसे उसकी ओर ताक रही हैं और उसे झुला रही हैं। वामसे दक्षिणकी ओर, सृष्टिसे लयकी ओर और लयसे फिर सृष्टिकी ओर इस तरह बारंबार आना-जाना लगे रहनेपर भी बीचमें आकर वह एक बार ठहरता है, यह ठहरना ही असली वस्तु है। यह स्थिरत्व ही श्रीकृष्णका प्राण है।

इस स्थिरत्वके अवलम्बनसे ही अनन्त आनन्दक्रीड़ाका सम्यक् प्रकारसे प्रसार होता है। जैसे वह अपने झूलनानन्दमें नहीं थकता, वैसे ही गोपियाँ भी उसे झुलानेमें कभी आलस्य नहीं करतीं। बस, दे झूला, दे झूला! इसी आनन्दकी उन्मत्ततासे आज भक्त और भगवान् दोनोंके हृदय भर रहे हैं। सुतरां कोई किसीसे कुछ प्रश्न नहीं करता।

स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा।

यह आनन्दका अनुसन्धान नहीं है, यह है आनन्दकी प्राप्ति। यह है आनन्दके प्रवाहमें सन्तरण, जो रसस्वरूप है उस रसराज आनन्दसिन्धुको प्राप्तकर आज प्राणोंकी समस्त पिपासा शान्त हो गयी है। प्रवृत्तिका उपराम हो गया है, आनन्दके प्रशान्त विराम-महासागरमें आज प्रकृतिके समस्त विक्षेप—समस्त चञ्चलताएँ समा गयी हैं। इसीलिये आज इन्द्रियाँ अपनी-अपनी प्रकृतिके अनुकूल विषयोंके अन्वेषणमें तत्पर नहीं हैं। वे आज ब्रह्मानन्द-रस-सागरमें अपनेको खो चुकी हैं। उनकी वह उत्तेजना, उनका वह विषयोंके प्रति प्रबल आकर्षण और प्रेम आज मानो श्रीकृष्णमें समाकर सर्वथा शान्त हो गया है। अपने निजस्वरूपको देखकर अब प्रतिबिम्बके प्रति उनका तनिक भी आकर्षण नहीं रहा है। जिस आत्माके प्रति जीवका स्वाभाविक ही प्रबल आकर्षण है, उस आत्माको आज वह प्रत्यक्ष देख रहा है। इसीलिये भक्त जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख और रोग-शोकके हाहाकारपूर्ण अनन्त विक्षेपोंमें भी स्थिर और विगतभय रहते हैं। क्योंकि वे न तो और कुछ देख पाते हैं, न सुन पाते हैं और न वे किसी दूसरेका स्पर्श पाते हैं। वे तो सर्वत्र ही अपने प्रियतमका मधुर मुखकमल देख-देखकर निर्व्याकुल रहते हैं। इसीसे आज इस गतिशील चित्तकी विविध चेष्टाएँ विषयोंकी ओर

नहीं दौड़ती । इसीसे चित्तकी समस्त वृत्तियाँ मुग्ध विमूढ़वत् होकर आनन्दघन सच्चिदानन्द-सागरमें डूबती-डूबती तलमें पहुँच गयी हैं । शायद इस चित्तका उत्थान नहीं होगा, यह नहीं जागेगा । आज प्राण, इन्द्रिय, देह और मनकी समस्त कामनाएँ उस अकाम आनन्दतरङ्गमें तैर रही हैं यही भक्तके साथ भक्तके जीवननाथका मधुर मिलन है । इस मिलनसे भगवान्‌की शोभा और महिमा और भी बढ़ जाती है । यदि भक्त—प्रेमिक न होते, यदि उनके प्राणोंमें इतनी चाह न होती तो उस अपार आनन्दका सम्भोग कौन करता? अतएव भक्तके लिये जैसे भगवान्‌की आवश्यकता है, वैसे ही भगवान्‌के लिये भी भक्तका प्रयोजन है । इस जगत्‌के खेलका भी यही उद्देश्य है । इसीसे यह जगत् उससे पृथक् होकर भी एक है, और अभिन्न होकर ही भिन्नरूपसे प्रतीत हो रहा है । इसीलिये यह कहा जाता है—

राधासङ्गे यदा भाति तदा मदनमोहनः ।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः ॥

हम न भक्त हैं, न प्रेमी हैं, न ज्ञानी हैं, न योगी हैं, फिर इस रससिन्धुके रसकी कैसे उपलब्धि करें ? फिर भी कहा जाता है कि इस महारासरसके नायक रसिकशेखर आनन्दघन परमात्मा श्रीकृष्ण हमारे आत्मा और सखा हैं इसीसे एक बार अपने घरकी बात कहकर उसकी आलोचना करना चाहते हैं । एक बार उनके भक्तोंकी वाणीमें वाणी मिलाकर कहिये—

जयतां सुरतौ पङ्गोर्मम मन्दमतेर्गती ।
मत्सर्वस्वं हृदम्भोजे राधामदनमोहनौ ॥
श्रीमान् रासरसारम्भी वंशीवटतटस्थितः ।
कर्षन् वेणुस्वनैर्गोपीर्गोपीनाथः श्रियेऽस्तु नः ॥

भिखारियोंकी बातचीत

“मैं भिखारी दरवाजेपर खड़ा हूँ। तुम कौन अंदर हो? इस पीड़ित, दुखी, अनाथ भिखारीको एक मुट्ठी भीख दे जाओ! मुझे आये बहुत देर हो गयी, बड़ी देरसे बाट देख रहा हूँ। अब और खड़ा नहीं रहा जाता। कौन हो, दया करके तनिक-सी भीख दे जाओ! सूर्यनारायण अस्ताचलको जाने लगे, सन्ध्या हो आयी। पृथ्वी घने अन्धकारसे ढकी जाने लगी। क्या अब भी तुम्हारे आनेका समय नहीं हुआ? दिनभर सूर्यका प्रचण्ड ताप सहता हुआ मैं कितनी दूरसे चलकर तुम्हारे दरवाजे-पर आया। बड़ी आशा करके आया था, कि तुम बिना कुछ दिये कभी नहीं लौटाओगे! मेरे दुर्दैवसे यह कैसा विपरीत फल हुआ!

कहाँ हैं वह दान करनेवाले दाता ? यहाँ तो कुछ भिखारियोंको छोड़कर और कोई भी नहीं दीखता ! कहाँ हो, तुम प्रभु राजाधिराज ! एक बार इस दीन दरिद्रकी ओर दृष्टिपात तो करो ! जानता हूँ कि मैं दरिद्र हूँ, इसीलिये तो तुम्हारे द्वारपर खड़ा हूँ । हाय ! क्या तुम भी मुझे दरिद्र समझकर उपेक्षा करते हो ? एक शब्द मुँहसे बोलकर भी क्या दरिद्रका मान नहीं रक्खोगे ? क्या यही तुम्हारी आर्त्त-त्राण-परायणता है ? क्या यही तुम्हारी शरणागत-वत्सलता है ? लोग तुम्हें दीनानाथ कहते हैं, इस दीनने भी इसीलिये तुम्हारे दरवाजेतक आनेका साहस किया था । ऐसा जानता तो शायद मैं न आता । मैं धन-ऐश्वर्य माँगने नहीं आया । मुझे मान-प्रतिष्ठा भी नहीं चाहिये, मैं तो केवल तुम्हारे चरण-रजका भिखारी हूँ ! मुझमें न भक्ति है, न प्रेम है, न ज्ञान है । कोई भी आश्रय नहीं है । जिसके कोई सहारा नहीं होता, उसके तुम होते हो । यह सुनकर ही तुम्हारे दरवाजे आया था, पर तुमने भी इस अभागेकी ओर दया-दृष्टि नहीं की—तुमने भी मेरी वेदनाको नहीं समझा ! अब यहाँ खड़े रहनेसे क्या होगा ? लो चलता हूँ ।'

'अरे ! यह दीन दुर्बल कौन है ? कौन है तू कंगाल भिखारी ? भाई, क्रोध करके न जा । मेरी बात सुन, जरा ठहर ! इस प्रकार आँसू पोंछता हुआ क्यों निराश-मनसे लौटा जा रहा है ? भीख नहीं मिली इसी अभिमानसे रो रहा है ? भाई ! तू तो भिखारी है, भिखारीको क्या कभी अभिमान शोभा देता है ? किसपर अभिमान करता है ? अभिमान करके कहाँ जायगा ? इस

राजाके राज्यको छोड़कर तो कहीं स्थान ही नहीं है, जहाँ चला जायगा ? माँगेगा भी किससे ? तुझे कौन भीख देगा ? उनके सिवा दूसरा दाता तो और कोई भी नहीं है। हम भी भिखारी हैं, भीखके लिये ही बैठे हैं। तू तो भाई! अभी आज आया है, इतनी ही देरमें अधीर हो गया और अभिमान करके लौटने लगा। जानता है, हम कबसे यहाँ पड़े हैं ? एक दो दिन नहीं, एक दो महीने या वर्ष नहीं। हमें यहाँ खड़े पूरे दो युग बीत गये, परन्तु हमारे लिये अभी दरवाजा नहीं खुला! इससे यह मत समझना कि, अंदर कोई नहीं हैं, अन्दर राजराजेश्वर ही हैं। यद्यपि हमलोगोंको अभी अंदर जानेका अधिकार नहीं मिला, परन्तु हमने अबतक बहुतोंको भीतर जाते देखा है! हमलोगोंके जानेका समय अभी नहीं हुआ; जबतक समय नहीं होता, तबतक दरवाजेपर खड़े रहना ही होगा। द्वारपर खड़े रहनेके सिवा और उपाय ही क्या है ? इसीलिये खड़े हैं। एक दिन समय अवश्य आवेगा। इसी आशापर छाती टिकाये बैठे हैं। कुछ लोगोंको अंदर जाते देख लिया है, इसीसे आशा नहीं छूटती! हमलोगोंमें और भी बहुत-से पहलेके आये हुए हैं, उनमेंसे किसी-किसीने उस राजाधिराजके शरीरके आभूषण देखे हैं, किसीको उनके मस्तकका किरीट देखनेको मिला है। किसी-किसीको उनका कण्ठस्वर सुनायी दिया है और किसी-किसी भाग्यवान्‌ने उनके चरणकमलोंकी ज्योतिके दर्शन किये हैं। वे सब लोग इसीमें मस्त हो रहे हैं। इस नशेमें वे अब यहाँसे हट ही नहीं सकते। परन्तु अबतक उनको भी अंदर जानेकी अनुमति नहीं मिली! कब मिलेगी, इस बातको भी कोई

कह नहीं सकता। पर एक दिन मिलेगी अवश्य, ऐसा सभी कहते हैं। भाई! यदि तू आ गया है, यदि बड़े भाग्यसे भुवनेश्वरके महलके दरवाजेपर आकर पड़ गया है, तब लौटकर क्या करेगा? खाली हाथ अपना-सा मुँह लिये लौट जानेमें कोई लाभ नहीं है। बहुत देर हो रही है! धीरज छूटनेकी आशंका है! इस चिन्तासे क्या होगा? उनके न मिलनेपर भी दिन तो छोटे नहीं हो जायँगे। दीर्घकाल कटेगा कैसे? यहाँ तो आशा भी है, दूसरी जगह किस आशाको लिये भटकेगा? तेरी इच्छाको कोई पूर्ण नहीं कर सकता! भटक-भटकाकर भग्न हृदयसे खाली हाथों थके-हारे फिर इसी दरवाजेपर लौट आना पड़ेगा! तब फिर व्यर्थ परिश्रम कर क्यों हैरान होता है? कर्म कर्ताकी इच्छापर है। दान दाताकी दयापर निर्भर है। हम और क्या कर सकते हैं! इस दरवाजेपर खड़े राह देखनेके सिवा और उपाय ही क्या है! इस द्वारपर खड़े रहकर बाट देखना ही हमारा पुरुषार्थ है। बस, हमारे पुरुषार्थकी इतनी-सी ही सीमा है! उनके दर्शन पाना तो उनकी इच्छापर निर्भर करता है! घरमें प्रवेश तो उन्हींकी इच्छासे होगा, वह इच्छा माननी ही पड़ेगी—'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।'

> बिना तुम्हारी कृपा नाथ! क्या कोई तुम्हें देख पाता?
> तुम यदि नहीं बुलाते तो यह चित्त कहाँ तुममें जाता?

माँ यदि मारेगी तो मार खानी ही पड़ेगी। उस मारको छोड़कर और कहाँ जायँगे? माँकी गोदके अतिरिक्त और कहीं भी गति नहीं है। माँ बकती है या डाँटती है, इसलिये कितनी देर

उससे रूठकर रह सकेंगे ? माँ मारती है, परन्तु माँके समान हमारे दुःखमें दुखी भी और कौन होता है ? यदि कोई उससे अधिक प्यार करनेवाला दीखता तो उसके पास जाते। परन्तु अबतक उससे अधिक प्यार या उतनी दया करनेवाला जगत्में कोई नहीं हुआ ! इसीलिये भाई ! हमलोग इस दरवाजेपर पड़े हैं; बहुत दिन बीत गये, परन्तु हम ऊबकर या आशा छोड़कर नहीं जा सकते। आहा ! तू तो बहुत ही अधीर हो रहा है ! अधैर्य तो समयको बहुत लंबा कर देता है। नहीं तो उनके मिलनेका समय अभी बीत नहीं गया है। जबसे उनकी बाट देखते हैं, उससे दस गुना समय भी यदि बाट देखते और बीत जाय, तब भी हमलोगोंको तो यहीं पड़े रहना है। हम अब कहीं नहीं जा सकते ! जायँ भी कहाँ ? जानेसे तो मिलनेका समय, घटनेके बदले बढ़ेगा ही !

रोता क्यों है ? क्या इन बातोंको बनावटी या दिल बहलाने-वाली ही समझता है ? क्या यह समझता है कि 'वह' नहीं मिल सकते ? भाई ! ऐसा नहीं है, वे मिलेंगे, अवश्य मिलेंगे ! किसीसे भी पूछ ले, सभी यही कहेंगे। सभी सत्य कहेंगे, यहाँ कोई भी धोखा नहीं देता !

तेरी तरह कितने लोग रो रहे हैं ? रो ! खूब रो !! रोनेसे हम नहीं रोकते, परन्तु धैर्य छोड़कर उनपर अविश्वास न कर। बस चित्तको उनके सामने किये रख, चित्तका द्वार खुला रहने दे। यदि दया करके वे आवें तो कहीं तेरा चित्त-द्वार बंद देखकर उन्हें लौट जाना न पड़े। कष्ट अधीरतामें है, राह देखनेमें कोई

कष्ट नहीं है। एक दिन आवेंगे—एक दिन अवश्य मिलेंगे। दस वर्ष आगे मिलें या पीछे, इससे क्या होता है? यही परम सौभाग्य है कि हमें वे मिलेंगे। इसके क्या मानी हैं कि वह आज ही मिल जायँ? आज यदि वह आ ही गये तो उन्हें हम बैठावेंगे कहाँ? प्रेमीके आदरणीय धन, भक्तके हृदयसर्वस्व उनके चरणयुगलोंके लिये स्थान कहाँ है? हम उनसे बात कैसे करेंगे? उस भाषा और उस संकेतको कैसे समझेंगे! हम तो अभी कुछ भी नहीं कर सके, सभी काम तो अभी बाकी पड़ा है। उनकी अभ्यर्थनाके लिये कुछ भी तो आयोजन नहीं कर सके। क्या यह बात कभी याद नहीं आती? क्या यह समझता है कि इतनी सजावट, इतनी सफाई और इतनी सामग्रियोंका आयोजन हम कर नहीं सकेंगे? यों कहनेसे काम नहीं चलेगा। उनके स्वागतकी तैयारी करनी ही होगी। क्या यह समझता है, इसमें बड़ा कष्ट होगा? हो भले ही! यह भी जानता है कि तू चाहता किनको है, किनका आह्वान करता है, कौन तेरे घरपर पधारेंगे? वह सम्राटोंके सम्राट् हैं, त्रिलोकीके सम्राट्से भी बहुत बड़े हैं, गुरुओंके गुरु और पितामहोंके भी पितामह हैं; वही जनिता हैं, वही विधाता हैं! उनके स्वागतके लिये सभी कष्टोंको मस्तकपर चढ़ा लेना होगा। यह समझता है कि हृदय विदीर्ण हो जायगा, शरीरके टुकड़े-टुकड़े हो जायँगे और शोणितकुम्भ फूट जायगा? हो न जाय ऐसा! इसमें क्या हानि है? यह सब वस्तुएँ हैं किसके लिये? इस शरीरका मचान बाँधकर हम बैठे क्यों हैं? उन्हींके लिये तो सब कुछ है! यदि उनके लिये इसको तोड़ फेंकनेकी आवश्यकता

होगी तो उसी दम तोड़ डालेंगे ! पतिसे आदर न मिलनेपर भी पतिव्रताको अपने मनमें पतिके चरण-कमलोंके सिवा और किसी वस्तुको स्थान नहीं देना चाहिये, नहीं तो सतीधर्म नष्ट हो जाता है। उनकी दी हुई वस्तुओंसे कष्ट होता हो तो भी बड़े सम्मानके साथ उन वस्तुओंको सिरपर चढ़ा लेना चाहिये। मन आपत्ति करता है ? इससे तो काम नहीं चलेगा। इस व्रतका यही मन्त्र है। वे आवें या न आवें, प्रतिदिन अपने हाथोंसे झाड़ू लगाकर घर, द्वार, रास्ता सब साफ कर रखना होगा। लता-पत्रोंसे और पुष्प-धूपसे घरको सुसज्जित और सुगन्धित रखना होगा। घीका दीपक जलाकर अकेले बैठे-बैठे सारी-सारी रात राह देखनेमें बिता देनी पड़ेगी। वह हमारे स्वामी हैं, हमारे प्रभु हैं, आपत्ति करनेसे काम नहीं होगा। क्या यह कहता है कि इससे कुछ नरम या सहज साधन होना चाहिये ? यदि ऐसा हो तो अच्छी बात है, नहीं तो कड़े विधानको ही मानकर चलना होगा। विधान माननेकी तो इच्छा है, परन्तु उतनी शक्ति नहीं है, क्या इसी बातकी चिन्ता कर रहा है ? चिन्ता न कर। जितनी शक्ति है, उसीसे उनके लिये पूजाकी थाली सजा ! अर्घ्य हाथमें लेकर खड़ा रह। थोड़ा हो तो भी चिन्ता करनेकी आवश्यकता नहीं ! वह तो भावग्राही हैं। हमारी शक्तिकी न्यूनताको क्या वह कभी भूल जायँगे ? कभी नहीं। वह क्या इसके लिये रूठ जायँगे ? कभी नहीं। हमारे घरमें राज-भोग नहीं है, सामान्य चावलोंकी कनी है, इस बातको वह जानते हैं। हम

जो देंगे, वह उसीको हाथ पसारकर ले लेंगे। आदरके साथ भोग लगावेंगे! बस, तू जरा श्रद्धा और प्रेमसे उन्हें निवेदन करना।

क्या यह कहता है कि श्रद्धा-प्रेम कहाँसे मिलेंगे? भाई, इतनी-सी कमाई तो तुझे स्वयं करनी पड़ेगी। कुछ तो इसका बल तेरे पास है ही, उसे और जरा बढ़ा ले। उनके साथ तेरा संयोग करानेमें यह श्रद्धा-प्रेम ही सेतु है। जबतक उनकी प्राप्ति न हो, तबतक धैर्यके साथ राह देख और श्रद्धासे आत्म-निवेदन कर। उनको मिलना ही पड़ेगा, तू उनको पावेगा ही। केवल अपना पाथेयभर संग्रह कर रख!

शक्ति कम है, या बुद्धि मन्द है, इसके लिये चिन्ता न कर। तेरे पास जो कुछ है, उसीके द्वारा यदि तू प्रस्तुत हो जायगा, तो उनकी दयाका अनुभव होनेमें विलम्ब नहीं होगा। उन्होंने स्वयं कहा है—'जो मेरी शरण लेता है, उसे कोई भय नहीं है।'

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥
(गीता ९। ३१)

ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥
(गीता १०। १०)

वह यदि कृपा करके उद्धार नहीं करेंगे तो फिर जीवके लिये कोई उपाय ही नहीं है। परन्तु भक्तानुग्रहकारी भगवान्

भक्तपर कृपा करते ही हैं । भागवतमें इसके लिये उपायका यह क्रम बतलाया है--

'श्रद्धा होनेसे ही क्रमशः श्रवणकी इच्छा होती है, इच्छासे अभिरुचि उत्पन्न होती है । भागवती कथामें प्रेम होनेपर सारे अशुभ दूर हो जाते हैं, क्योंकि जो हरि-कथा सुनते हैं, साधु पुरुषोंके सखा हरि उनके हृदयस्थ होकर कामादि वासनारूप बाह्य और आन्तरिक सभी अमंगलोंको दूर कर देते हैं । नित्य भागवत-सेवाद्वारा उन सब अमंगलोंके नष्ट हो जानेपर पवित्र-कीर्ति भगवान्‌में निश्चल भक्ति उत्पन्न होती है, तब फिर रजोगुण और तमोगुण-जनित कामलोभादि चित्तमें प्रवेश नहीं कर सकते । इससे अन्तःकरण सत्त्वगुणसे विभूषित होकर प्रसन्न हो जाता है ! भगवद्भक्तिके सहयोगसे मनके इस प्रकार प्रसन्न होनेपर मनुष्य संसार-पाशसे छूट जाता है, तत्त्वज्ञानकी उत्पत्ति और उसके अनन्तर ही आत्म-साक्षात्कार होता है । उस समय उसका 'अहं' भाव नष्ट हो जाता है, सारे संशय मिट जाते हैं, और जिन (सञ्चित) कर्मोंका फलोदय आरम्भ नहीं हुआ, वे सब नाश हो जाते हैं ।'

पागलकी हँसी

गाँवके बाहर लोगोंकी भीड़ जमा हो रही है। कहते हैं कि कोई दिगम्बर पागल आया है। वह आप-ही-आप चाहे सो बकता है और बड़े जोरसे हँसता है। कोई पूछता है तो कुछ भी जवाब नहीं देता। सिर्फ जोरसे हँस उठता है। कभी कुछ बोलता भी है तो उसका अर्थ किसीकी समझमें नहीं आता। लोग उसको देखनेके लिये दौड़े जाते हैं। हजारोंकी भीड़ इकट्ठी हो गयी है। इस पागलकी बात सुनते ही मुझे अपने पूर्व-परिचित पागलकी बात याद आ गयी। न जाने क्यों आँसुओंकी बूँदोंने चुपचाप आकर दोनों आँखोंको गीला कर दिया। पता नहीं, पागलके साथ इन अश्रुबिन्दुओंका क्या सम्बन्ध है। सम्भव है, उसकी दयनीय अवस्थाके विचारसे आँसू आये हों अथवा उसमें जो एक अपूर्व व्याकुलता और आत्म-विस्मृतिका भाव

प्रत्यक्ष देखनेमें आया था, उसे स्मरण करके ऐसा हुआ हो। पता नहीं उसके अंदर किसको पानेके लिये इतनी व्याकुलता थी। जो कुछ भी हो, एक बार इस पागलको देखनेके लिये चित्त चञ्चल हो उठा। अतएव हाथका काम जल्दीसे निपटाकर मैं चल पड़ा। मैदानमें पहुँचकर देखता हूँ—हरे राम राम! यह तो वही मेरा पूर्व-परिचित पागल है! उसे देखते ही प्राणोंमें एक तरहका आनन्द छा गया। मैंने उसके पास जाकर कहा—'कहो! कहाँसे आ रहे हो? बहुत दिनों बाद दिखायी पड़े। क्या हाल है?' मेरी बात सुनकर वह बड़े जोरसे हँस पड़ा, मानो आकाशके परदे-परदेपर उस हँसीकी प्रतिध्वनि हो उठी। ऐसे उन्मुक्त प्राणोंकी हँसी तो कभी नहीं देखी थी। मैंने उससे फिर पूछा—'आजकल कहाँ रहते हो? अच्छी तरह हो न?' पागलने कहा—'मेरी इच्छा तो अच्छी तरह रहनेकी ही है, पर 'वह' रहने कहाँ देता है! अच्छी तरह रहनेकी जरा-सी चेष्टा करते ही वह तुरन्त सब मटिया-मेट कर डालता है!' इतना कहकर वह फिर खिलखिलाकर हँस उठा। मैंने देखा उसका पागलपन अभी दूर नहीं हुआ है। तब भी उसे देखकर मनमें खुशी हुई।

पागल रह-रहकर क्या कर रहा है? वह बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी, कीट-पतंग जिसको भी देखता है, उसीके सामने दोनों हाथ फैलाकर,—पत्र-पुष्प जो कुछ मिलता है, वही लेकर सबके मुखके समीप आरती करनेकी भाँति घुमाता है और हँसते-हँसते कहता है—'वाह! वाह! खूब सजे हो, अच्छा वेष बनाया है,

ओ बहुरूपिये ! कैसे-कैसे स्वाँग सजकर घूमते हो,—मेरे प्यारे, मेरे सखा, ओ मेरे रंगलाल ! कितने रंग दिखलाते हो, तुम जो भी स्वाँग बनाते हो, वही तुम्हें सजता है। तुम उसीसे शोभा पाते हो। कोई भी स्वाँग तुम्हारी सजावटको कम नहीं करता। वाह वाह भाई वाह वाह !' इतना कहकर पागलने नाचना और गाना शुरू किया—

आओ ! हृदय विराजो श्याम !
देखूँ तव मूरति मनमोहिनि उरमें सदा ललाम ॥
आओ हे मनचोर ! शीघ्र आओ जग-जन-सुखधाम ।
शुष्क हृदय यह स्निग्ध करो हे चपल नयन-अभिराम ॥
आओ नयनचोर ! शीतल कर प्राण विश्व-विश्राम ।
आओ उज्ज्वलाक्ष, हृदयासन मम चञ्चल घनश्याम ॥

(अकिञ्चन)

पागल गाते-गाते ताली बजा-बजाकर नाचने लगा और सबके सामने बारंबार यह पद गाने लगा—

'देखूँ तव मूरति मनमोहिनि उरमें सदा ललाम ॥'

गाँवके लड़के, जवान और बूढ़े सभी स्त्री-पुरुष पागलके इस विचित्र ढंगको देख-देखकर हँसते-हँसते लोटपोट होने लगे। देखते-देखते सन्ध्या हो गयी। पागलके साथ लोग कबतक पागलपन कर सकते थे। सब थक गये। भीड़ क्रमशः घटने लगी। पागलके सम्बन्धमें अनेकों प्रकारकी आलोचना करते हुए लोग घरकी ओर लौट चले। सबने एकमतसे यह निश्चय कर लिया कि किसी-न-किसी सांसारिक दुःखमें पड़कर बेचारा पागल हो

गया है। दो-चार कोमलहृदया स्नेहमयी प्रौढ़ा देवियाँ 'इसकी माता-पत्नी आदि घरवालोंकी कैसी बुरी दशा होगी' इस बातपर विचारकर समवेदनाके आँसुओंको पोंछती हुई अपने घरोंकी ओर लौटीं।

घोर अन्धकारसे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और सम्पूर्ण दिशाएँ ढक गयीं। दिनके प्रकाशकी चटुल चञ्चलता मानो किसीका संकेत पाकर तुरन्त थम गयी। मुखरा पृथ्वी स्तब्ध-मौन-गम्भीर हो उठी। आकाशके वदनपर एक-एक करके हजारों तारे झिलमिलाने लगे। दूर गाँवके अन्दर देव-मन्दिरोंमें सन्ध्याकी आरतीके बाजे बज उठे। नगारे, घण्टा, घड़ियाल और शङ्खोंकी ध्वनिसे आकाश छा गया। अन्धकारके साथ मिलकर इस तुमुल शब्दने मेरे प्राणोंमें भी एक अपूर्व रागिनी उत्पन्न कर दी।

इस अन्धकारमयी रात्रिके समय मैं निर्जन वनमें पागलके पास क्यों बैठा रहा, सो नहीं जानता। परन्तु किसी भी कारणसे हो, वहाँसे उठनेका मन नहीं हुआ। मनमें न मालूम क्या-क्या उधेड़बुन चल रही थी। इसी समय सारे अन्धकारको मथकर, आकाशको विदीर्णकर पागल बड़े जोरसे हँसने लगा। मैंने उससे कहा, 'तुम क्यों हँसे ?' 'इसलिये कि रो नहीं पाता, हँसी ही हँसी आती है, 'उस' के विचित्र ढंगको देखकर हँसी आती है, इसीसे हँसता हूँ।' पागल इतना कहकर खिलखिलाकर हँसने लगा। मैंने पूछा—'यहाँ बैठे-बैठे तुमने किसका रंग-ढंग देख लिया ?' उसने कहा—'क्या तुम नहीं देख पाते ?' देखो न!

अभी यहाँ बैठे-बैठे वह कितना हँस रहा था, इसी बीचमें मुखको कुछ गम्भीर बना लिया है, खूब उछल-कूद मचा रहा था ठीक छोटे-से बालककी तरह,—पर अब स्वाँग बदल डाला। देखो न, कैसा घूँघट खींचकर मुँह ढककर धीरे-धीरे चहलकदमी कर रहा है। अभी-अभी बालककी तरह कैसा चञ्चल था, कैसा सुन्दर था, पर इतनी ही देरमें कैसा 'बुढ़िया माई'-सा बन गया है।

मैंने इन बातोंका अर्थ कुछ भी न समझ हताश होकर उससे कहा—'तुम मुझे पहचानते भी हो या भूल गये?' पागलने गम्भीर होकर बुद्धिमान्‌की तरह कहा, 'भूल सकता तो अच्छी बात होती, परन्तु आजतक कुछ भी नहीं भूल सका हूँ! पचास वर्ष पहले जैसा था, आज भी उसी तरह उन्हीं सारी स्मृतियोंमें पड़ा हूँ। सभी बातें, सभी घटनाएँ मानो जाग रही हैं, भूलना तो चाहता हूँ, पर भूल सकता कहाँ हूँ?' इतना कहकर पागल छोटे बालककी तरह पुकार-पुकारकर रोने लगा। मैंने पूछा—'तुम रोते क्यों हो?' पागलने कहा—'तुम जानते हो, मेरा एक मित्र है! वह सभीका मित्र है, पर लोग उसे पहचानते नहीं! उस मित्रके कारण मेरा सब कुछ नष्ट हो गया। वह मेरे पीछे इतना लग रहा है कि किसी तरह भी मुझे शान्तिसे नहीं रहने देता, आखिर पागल ही बनाकर छोड़ेगा।' मैंने मन-ही-मन हँस-कर कहा कि 'अब पागल होनेमें कौन-सी कसर है।' पागल फिर कहने लगा—'उस मित्रके समान शरारती मैंने और कहीं नहीं देखा। उसीके लिये मेरा सभी कुछ नष्ट हो गया! उसको छोड़ते

भी प्राण न मालूम कैसे करने लगते हैं; और उसे अच्छी तरह पकड़े रखनेकी भी शक्ति नहीं मालूम होती। बाप रे बाप, कैसा शरारती छोकरा है! मैं कितनी ही बार उससे नाराज हो गया, कई बार लड़कर उसके पाससे चला आया, सोचा कि अब कभी उसके पास नहीं जाऊँगा, पर उसके सामने कोई भी प्रतिज्ञा नहीं टिकती। मैं कितना ही नाराज होऊँ, कितना भी मान करूँ, उसके एक बार जरा-सा पुकारते ही सब भूल जाता हूँ। उसका बड़ा दिमाग है, इसीसे मैं एक दिन उसे छोड़कर चला आया और नाना-प्रकारकी बातें सोचता हुआ सुखसे दिन बिताने लगा था; इतनेमें ही अकस्मात् एक हरिनका बच्चा न मालूम कहाँसे आकर मेरी देह चाटने लगा और नरम-नरम सींगोंसे मुझे ठेलने लगा। मैंने सोचा यह क्या खेल है, ये कौन आ गये? देखता हूँ, तो वही शरारती है, वही मित्र है, हरिन बनकर अपने साथ खेलनेके लिये मुझे ढकेल रहा है। मैंने कहा, 'ना भाई! मैं तेरे साथ नहीं खेलूँगा, मैंने जन्मभरके लिये प्रण कर लिया है।' इतना सुनते ही उसकी आँखोंमें जल भर आया। उसने अपने मुँहको मेरे मुँहके पास लगा दिया! अब मैं नहीं रह सका, प्राण तलमला उठे। बस, मैंने उसका गला पकड़कर मुख चूम लिया। परन्तु वह तो ज्यादा देर एक जगह ठहरनेवाला बंदा है नहीं। थोड़ी ही देरमें लपका और भाग गया। ठहरनेके लिये कितना कहा, कितनी खुशामदें की, पर किसकी कौन सुनता है? मैं भी पीछे-पीछे दौड़ा; परन्तु कहीं उसके बालोंकी चोटी भी नहीं दिखायी दी। अबकी बार मुझे बड़ा गुस्सा आया। मैं गुस्सेमें भरकर जंगलमें एक पेड़के नीचे बैठ गया।

और मन-ही-मन मैंने यह निश्चय कर लिया कि 'अब कभी उसका नाम भी नहीं लूँगा।' इस प्रकार पेड़ोंके नीचे जंगलमें कितने ही दिन कट गये, मैंने कभी उसका नाम भी नहीं लिया।

एक दिन पेड़के नीचे बैठा था, इतनेहीमें देखता हूँ, एक अपूर्व सुन्दर पक्षी मनोहर गान कर रहा है। गानकी तान सुनते ही प्राण व्याकुल हो उठे। कितनी भूली हुई बातें स्मरण हो आयीं। हठात् वनके फूल खिल उठे, सारा जंगल सुगन्धसे भर गया। मानो वायु किसीके हृदय-माधुर्यको फूलोंकी सुगन्धके साथ-साथ बिखेर गया, मेरे प्राणोंको हर ले गया। अहा हा! कैसा सुन्दर वर्ण है, कितना मीठा स्वर है! इस पक्षीमें इतना सौन्दर्य कहाँसे आ गया? कौन इसके अंदर छिपकर ऐसे स्वर अलाप रहा है? पक्षीके संगीतको सुनते ही कलेजेकी सन्धि, हृदयकी ग्रन्थि मानो खुल गयी। जब मैं यह सब सोच रहा था, तभी पेड़की डालसे किसीने मुझे पुकारकर कहा—'कक्के डुगली डू'! राम राम! यह तो वही शरारती, यहाँ कहाँसे कैसे आ गया? इस निर्जन घन अरण्यमें भी मेरा पिण्ड नहीं छोड़ता! यह पंखी-पँखरू कुछ भी नहीं है। यह सब उसीके स्वाँग हैं, सब उसीके खेल हैं। धूर्त! कपटी! खूब पक्षी सजा बैठा है! टुक-टुक ताक रहा है। कैसा भोला बना है, मानो कहीं कुछ जानता ही नहीं! मैं क्या तुझे पहचान नहीं सका हूँ! शरीरका रंग देखकर कुछ सन्देह हुआ था, पर अब कण्ठ-स्वर सुनते ही सारा सन्देह दूर हो गया।

इस प्रकार उसके खेल देखता-फिरता था, पर ज्यादा मिलता-

जुलता नहीं था। मनमें दृढ़ संकल्प कर लिया था कि अब उसके पास कभी नहीं जाऊँगा! एक दिन देखता हूँ, एक फूलकी कली-सी नन्हीं-सी बालिका आकर मेरे पास बैठ गयी और धूलमें घर बनाकर खेलने लगी। खेल-ही-खेलमें उसने रसोई चढ़ाकर मुझसे पूछा—'खाओगे?' मैंने कहा—'तू कौन है?' वह बोल उठी—'तुम्हारी लड़की!' मैंने सोचा, 'मेरे लड़की कहाँसे आयी?' पर उसे देखते ही प्राण छटपटाने लगे! 'कहाँ देखूँ तो' कहकर मैंने उसकी ठुड्डी पकड़कर मुँह ऊँचा कर दिया। कैसे सुन्दर कमलकी पत्ती-जैसे लाल-लाल होंठ हैं। हरिनके बच्चेकी-सी सुन्दर काली-काली कैसी विशाल आँखें हैं। ऐसे मनोहर अंग-प्रत्यंग हैं, मानो साक्षात् मा अन्नपूर्णा है! वर्षाकालके घनश्याम बादलोंके समान कैसे काले-काले घुँघराले बाल हैं। दोनों चरण कैसे हैं मानो पूजा-के अनन्तर पूजाके थालपर पद्मकवरी सजायी रक्खी है। शरीरसे सुगन्ध निकल-निकलकर मन-प्राणको प्रमुदित कर रही है। अहा! कैसी मधुमयी वाणी है। इतना प्रेमपूर्ण हृदय! अब मेरा नशा उतरा! हरि हरि! मैं किसके साथ बातें कर रहा हूँ। यह बालिका और कोई नहीं, यह तो हाड़-मांससे ढका हुआ वही प्यारा है!! नहीं तो इस मांस-पिण्डकी आँखोंमें ऐसी नजर किसकी है? अस्थि-मांस भेदकर यह किसका रूप फूट निकला है! यह उसीका है, उसीका है! इसके अंदरसे कौन बोल रहा है! इस जड पिण्डशरीरमें किसका स्पर्श हो रहा है? स्पर्श होते ही सारा शरीर पुलकित, रोमाञ्चित हो जाता है, यह उसीका स्पर्श है, निश्चय उसीका स्पर्श है!

ना ! ना ! नहीं रह सका ! इससे छुटकारा नहीं हो सका। इस मायावीसे निस्तार नहीं है। कहीं भी भागकर क्यों न छिप रहूँ, यह कपटी मेरा पीछा नहीं छोड़ेगा। कैसा अद्भुत इसका खेल है ? देखो तो सही, कैसे-कैसे विचित्र स्वाँग बनाये घूमता है, भारी बहुरूपिया है ! इसको देखकर किसको हँसी नहीं छूटती ?

एक दिन उसको बाघ समझकर लोग भागे जा रहे थे। सोचा, 'यह बाघ कहाँसे आ गया ?' पागलके इतना कहनेपर मैंने उससे पूछा—'क्या बाघ देखकर तुम्हें डर नहीं लगा ?' पागलने कहा—'वह बाघ क्यों था ? वह तो वही था वहीं, वह इसी तरह लोगोंको डराया करता है, यह सब उसके खेल हैं।'

मैंने पूछा—'तुमने कैसे समझ लिया यह बाघ वही है ?' पागल कहने लगा—'क्यों ? मैं क्या उसे पहचानता नहीं हूँ ? उसके इन चमत्कारी स्वाँगोंको देखकर लोग समझ नहीं सकते ! वह कभी भय दिखाकर लोगोंको रुलाता है, कभी लाड़ लड़ाकर, संगीत सुनाकर, सीटी देकर हँसाता है। कभी किसीके पास कितने राज्यों-की खाक-मिट्टी लाकर इकट्ठा कर देता है, कभी फिर उससे सब कुछ छीन लेता है। लोग ऐसे भूत हैं, ऐसे बेवकूफ़ हैं कि इन सब बातोंको सच समझकर हँसते-रोते हैं। इन लोगोंकी यह दशा देखकर मेरी हँसी नहीं रुकती। इसीसे खिलखिलाकर हँसता हूँ, समझे ?'

इसके बाद पागल साँपके मन्त्रकी तरह न मालूम क्या बड़बड़ाने लगा, मैं तो कुछ भी नहीं समझ सका। इतना जरूर

समझमें आया कि उसका दिमाग़ कुछ ज्यादा बिगड़ गया है । मैं चुपचाप उसकी ओर देखता रहा । मेरी यह दशा देखकर वह लगा जोर-जोरसे हँसने । फिर ताली बजा-बजाकर नाचने लगा और गाने लगा—

जेहि लगि झूरत रैन गयीं सब सो मम प्राननाथ पाये !

अब उद्दाम नृत्य आरम्भ हो गया ! अन्तमें मेरे मुखकी ओर एक फूल घुमा-घुमाकर वह गाने लगा—

प्यारे सखा श्याम सुजान !
तुम्हीं हो मम प्राणवल्लभ, तुम्हीं क्षुद्र-महान ।
तुम्हीं ओतप्रोत सबमें, रसिकवर ! रसखान ॥
तुम्हीं सुन्दर, तुम्हीं निर्मल, गुणरहित, गुणवान ।
नाम-रूपातीत, व्यक्ताव्यक्त, सम, भगवान ॥
सूर्य-चन्द्र प्रकाश तुम्हरे, तुम्हीं आदि-स्थान ।
तुम्हीं मध्य अखिल जगतके, तुम्हीं हो अवसान ॥
अनल अनिल सु-अवनि अम्बर जल सभीके प्रान ।
देव-दनुज मनुष्य-मुनिगण गा रहे गुणगान ॥
जन्म-मरण विषाद-आनँद स्वाँग सब सज्ञान ।
विधु-वदन-संदर्शको, ये प्राण व्याकुल जान ॥

(अकिञ्चन)

'तुम यहाँ पधार गये ! अच्छी बात है मेरे बहुरूपिये ! अच्छी बात है ! सब जगह सभीके अंदर सभी बनकर तुम्हीं तो बैठे हो ! वाह भाई वाह !!'

इतना कहकर पागल जोरसे हँसता हुआ वनके घने अन्धकारमें छिप गया !

पागलका पत्र

आज बहुत दिनोंके बाद मुझे अपना वह पुराना परिचित पागल पुनः मिला। इस बार उसकी दशा बहुत ही शोचनीय जान पड़ी। मैंने पूछा 'इतने दिन कहाँ थे?' इसके उत्तरमें वह क्या बड़बड़ा गया, कुछ भी समझमें नहीं आया। मैंने देखा, अब तो वह बिल्कुल ही बेकार हो गया है। वह कभी हँसता था, कभी रोता था, कभी चुप होकर बैठ जाता था और कभी एक ही श्वासमें दौड़ने लगता था। मैंने सोचा, इसे नहलाकर कुछ खिला दूँ। सम्भव है, नहाने-खानेपर शायद इसका माथा कुछ ठंडा हो जाय। मैंने उससे कहा, 'भाई! एक बात सुनो, तुमने कुछ भी खाया-पिया नहीं है, आज यहीं भोजन करो, बोलो, नहाओगे?' मेरी इस बातको सुनते ही वह खिलखिलाकर

बड़े जोरसे हँस उठा; उसने कहा, 'मेरे लिये भी खाना-पीना और नहाना ?' इसके अनन्तर, पता नहीं, क्या सोचकर उसने अपने सैकड़ों गाँठ लगे हुए फटे चिथड़ेमेंसे कागजका एक टुकड़ा निकालकर मेरे हाथपर रख दिया और कहा,—'बैठे रहो इसी जगह ! मेरे प्यारे सखा इसी ओर आवेंगे, उन्हें यह पत्र दे देना ।' बस, इतना कहते ही उसने दौड़ लगायी ! मैं पीछे दौड़ा, परन्तु उसको पकड़ नहीं सका, देखते-ही-देखते वह आँखोंसे ओझल हो गया । मैं थककर एक पेड़की छायामें बैठ गया और बेचारे उस पागलकी दीन दशापर खेद करने लगा । इतनेमें ही अकस्मात् उस पागलके दिये हुए कागजके टुकड़ेपर मेरी नजर पड़ी, मैं उसे उठाकर देखने लगा ! लिपि कुछ अस्पष्ट-सी थी परन्तु पढ़ी जाती थी । मैंने पढ़कर विचार किया कि यह पत्र तो पागलका-सा नहीं है । पत्रकी नकल पाठकोंकी सेवामें भेंट की जाती है—

श्रीमत् हृदयानन्द स्वामी,

परमानन्द-सच्चिदानन्दधाम-नित्यनिकेतनेषु

प्रियतम !

बहुत दिनोंसे तुम्हारे अखिल विश्वके प्रेमसे सने हुए मुखड़ेकी झाँकी देखनेके लिये मन-प्राण बड़े ही व्याकुल हो रहे हैं । मैं यह नहीं जानती कि तुम कहाँ रहते हो ! एक दिन अकस्मात् तुम्हारी जग-जन-मनोहर विश्व-विमोहिनी मधुर मूर्तिकी केवल छाया मैंने देखी थी । बस, उसी क्षणसे मेरा यह मन अब मन-सा नहीं रह गया है । तुम्हारे करुण-कोमल नेत्रोंकी चकित-दृष्टिने मेरी

आँखोंकी दृष्टि ही हरण कर ली। उसके बाद जब दृष्टि-शक्ति लौटकर आयी, तबसे फिर तुम्हारी उस त्रिभुवन-मोहिनी रूप-माधुरीके देखनेका सौभाग्य तो नहीं हुआ, परन्तु मेरी आँखोंमें तुम्हारी वह मोहिनी छवि लगी ही रही। उसी दिनसे, अब इन आँखोंको दूसरी कोई भी चीज नहीं सुहाती। तुम्हारी उस मधुर मूर्तिको फिर एक बार देखनेके लिये, न जाने, कितने नर-नारियोंके पीछे-पीछे मैं भटकी, उनकी मुख-शोभासे तुम्हारी वह मुख-कान्ति देख सकूँगी, इस विचारसे कितनी बार उनके मुखोंकी ओर मैं बड़े ही आग्रहसे देखती रही, परन्तु किसीके भी रूपके साथ तुम्हारे उस रूपकी तुलना नहीं हो सकी। प्रभात-समीरणके साथ-साथ जब बालारुणकी स्वर्ण-ज्योति प्रस्फुटित हो उठती है, गोधूलि-धूसरित सान्ध्य-गगन के सुदूर प्रान्तमें अस्तोन्मुख सूर्यकिरणोंकी कमनीय छटासे जब पश्चिमाकाश विविध विचित्र वर्णोंसे रञ्जित हो उठता है, उस समयकी महासमुद्रकी दिगन्त-विस्तृत सुनील शोभामें और तारकामणि-मण्डित नीलाम्बरकी महिमामयी निश्चल महिमामें, कितने दिन, कितनी बार उस सुन्दरका अन्वेषण किया। परन्तु मेरा यह मन, उस दिनकी भाँति कभी नहीं भरा; उस अनूप रूप-राशिके दर्शन कहीं भी नहीं हुए। जब कभी इस बातका स्मरण होता है कि तुम्हारे दर्शन नहीं होंगे, तभी हृदयमें सैकड़ों वृश्चिक-दंशनकी-सी ज्वालाका अनुभव होता है! संसारका कठिन-बन्धन—मायामोह मानो मेरी ओर देख-देखकर दिल्लगी करने लगा है। संसारके दारुण दुःख-सन्ताप मेरे हृदयकी रही-सही आर्द्रताको भी नष्ट कर रहे हैं। मेरी आँखोंके आँसू सूखनेको

आये। फिर जो तुम्हारे रूपपर पागल हैं, उनको शान्ति-सुख कहाँ है ?

प्रभो! तुम्हारे दर्शनके लिये लोग कितने तीर्थोंमें दौड़े जाते हैं और कितने साधु-सन्तोंका संग करते हैं। मेरे भाग्यमें ऐसे शुभ-संयोग कहाँ? मैं तीर्थ-तीर्थ भटकी, साधु-महात्माओंकी चरणधूलिमें लोटी; परन्तु मुझपर किसीकी दया नहीं हुई। जिन्होंने बड़ी दया की, वे बस, इतना ही कहकर रह गये—

डर नहिं कुछौ, डहर न पूछौ, बँसरी सुनत कबीर बहि जाय।

इसीसे हताश होकर, अपनी इस टूटी-फूटी मँड़ैयामें वेदना-का भारी भार हृदयपर लादे, बैठी तुम्हारी राह देख रही हूँ। अब किस तीर्थमें जाऊँ, कहाँ तुम्हारा पता लगाऊँ, कुछ भी निश्चय नहीं कर सकी, अतएव अब 'मैं' के अन्दर ही तुम्हें खोजती फिरती हूँ। सुना है, यह शरीर ही तुम्हारा मन्दिर है; इसीसे कोई-कोई इसको देवालय कहा करते हैं। और देव! तुम स्वयं ही इसके अधिष्ठात्री-देवता हो। इसलिये यहाँ भी तुम्हारे दर्शनकी आशासे, तृषार्त्ता विहङ्गिनिकी भाँति तुम्हारे करुणा-वृष्टि-के एक कणकी अभिलाषासे अदृश्यकी ओर ताक रही हूँ। प्रभो! क्या कृपा-वारि बरसाकर मुझको तृप्त नहीं करोगे? मैं धन-सम्पत्तिकी भिखारिणी नहीं हूँ। मुझे मान-बड़ाईकी आकांक्षा नहीं है। मैं तो बस, केवल तुम्हारे चरण-रजकी चाह रखती हूँ। क्या मेरी यह आकांक्षा पूरी न होगी? तुम्हारे क्षण-कालके दर्शनमें भी कितना आनन्द है, इस बातका स्मरण होते ही मेरा धैर्य छूट

जाता है। इस जन्ममें क्या फिर कभी मुझे तुम्हारे दर्शनका सौभाग्य प्राप्त होगा?

हे नाथ! यदि तुम इस जन्ममें फिरसे दर्शन नहीं दोगे तो, मेरा कोई जोर नहीं है, तुम्हारी इच्छा! परन्तु मैं अपने प्राणोंकी मर्म-कथा तुम्हारे चरण-कमलोंमें निवेदन करती हूँ; पता नहीं, क्यों करती हूँ,—तुम अन्तर्यामी तो सभी जानते हो, तब भी बिना कहे रहा नहीं जाता। मुझे जो कुछ कहना है सो कह डालती हूँ, फिर तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करना। और क्या कहूँ?

नाथ! लोगोंसे सुना है कि हमलोग जिस घरमें रहते हैं, वह घर हमलोगोंकी अपनी सम्पत्ति नहीं है। तुम्हींने दया करके रहनेको दिया है, तभी हमें यह घर मिला है। लोग कहते हैं कि तुम भी इसी घरमें कहीं रहते हो। परन्तु मन करते ही कोई तुम्हें देख नहीं सकता। हमारे इस घरकी बनावट ऐसी विचित्र है कि एक घरके मनुष्य दूसरे घरके मनुष्यको नहीं देख पाते। इस घरमें प्रवेश करनेके लिये चारों ओर अनेक मार्ग है। परन्तु किसी मार्गसे भी प्रवेश क्यों न किया जाय, भटक-भटककर अन्तमें इसी घरमें सब आ पहुँचते हैं। इस गोरखधन्धेके-से घरमें बसकर, बस, थोड़े-से पुराने परिचित लोगोंसे ही भेट होती है। कभी-कभी कोई अपरिचित मुख भी दीख जाता है सही, परन्तु उससे बातचीत नहीं होती। बिजलीकी तरह पलभर चमककर वह किसी अदृश्य-गृहमें छिप जाता है। कहते हैं कि यह घर

सात-मंजिला है, हमलोग तो नीचेके तल्लेमें रहते हैं। किसी भी कारणसे हो, नीचेकी कोठरियाँ हैं बहुत ही अस्वास्थ्यकारी, उनमें अँधेरा-सा छाया रहता है। यहाँ रहना मुझको बिल्कुल ही अच्छा नहीं मालूम होता। प्रथम तो यह स्थान ही स्वास्थ्यको बिगाड़नेवाला है, दूसरे मेरे साथ यहाँ जो घरके लोग रहते हैं, उन्हें देखते ही मुझे डर-सा लगता है। ऐसा मालूम होता है, मानो उन्होंने इस घरमें मुझे जबरदस्ती बन्द कर रक्खा है। जबतक अबोध थी, तबतक तो किसी कष्टका अनुभव नहीं हुआ, अब बड़ी होनेपर इस प्रकार बन्धनमें रहना मुझे अच्छा नहीं लगता!

मैंने जितना-सा देखा है, उसीसे यह समझ सकी हूँ कि तुम बड़े ही सुन्दर, चित्त-विनोदक पुरुष हो। जो एक बार भी तुमको भलीभाँति देख पाता है, वह सदा तुम्हींको देखता है, फिर वह दूसरे किसीको भी देखना नहीं चाहता। एक ही बार एक पलभरके लिये भी, जिसने तुमको देख लिया, वही तुम्हारे लिये पागल हो जाता है। पता नहीं तुम्हारे रूपमें ऐसी क्या मादकता भरी है! क्या मोहिनी शक्ति है! उस दिन शायद, स्वप्नावेशमें एक बार चकितकी भाँति तुम्हारी मोहन-छवि देखी थी, ऐसा स्मरण है—चाहे वह अस्पष्ट ही हो, परन्तु यह धारणा अब कभी मिटनेकी नहीं। उस समय नींद दूर नहीं हुई थी; नींदमें ही पलभरके लिये मैंने तुमको देखा था। स्वप्नकी वह जडता तो जाती रही परन्तु तुम्हारी रूपराशि मानो तीरकी तरह हृदयमें बिंधी ही रह गयी। उसी क्षणसे, मैं इन क्षुद्र प्राणोंको, मन-ही-मन अपनेको तुम्हारे चरणोंमें समर्पण कर चुकी। उस समय मैं

चेष्टा करनेपर भी, सम्भवतः, इस समर्पणको नहीं रोक सकती। क्या तुमने मुझको ग्रहण कर लिया? मुझमें अपना तो कोई गुण है नहीं, इसीसे भय होता है, क्या तुम मुझे स्वीकार करोगे?

सुना है, तुम्हारे प्राण करुणासे सने हैं। इस आश्रयहीना अनाथिनीके तुम्हीं एकमात्र आधार हो। इसीलिये आज बड़ा साहस करके तुमको यह पत्र लिख रही हूँ। पता नहीं, तुम इस पत्रको अपने पढ़ने योग्य समझोगे या नहीं? प्यारे! यद्यपि मैं सदासे ही तुम्हारे राज्यमें, तुम्हारे घरमें निवास करती हूँ, परन्तु अबतक प्राण भरकर तो तुम्हारे दर्शन कभी नहीं कर सकी। पहले तो तुम्हें देखनेके लिये कभी मन नहीं करता था परन्तु जिस दिन तुम्हारी वह झाँकी-सी दिखी, उस दिनसे तो मेरा चित्त विवश हो गया है। अवश्य ही यह मेरी दुराकांक्षा है! कहाँ तुम राज-राजेश्वर और कहाँ मैं भिखारिणी; कहाँ तुम्हारी विश्वविमोहिनी सौन्दर्यराशि और कहाँ मैं आभरणहीना, मलिना, कुरूपा। मैं अपनी स्थितिको समझती हूँ। मैं यह जानती हूँ कि तुम मेरे लिये सर्वथा दुष्प्राप्य हो। पर यह अबोध अशान्त मन तो किसी तरह शान्त होना नहीं चाहता। यह तो पता नहीं, इसने क्या देखा है, और क्या सोचा-समझा है, परन्तु यह अपने हृदयमें केवल तुमको ही बैठाना चाहता है। यह मृत्युका आलिङ्गन करनेको तैयार है पर अपनी इस कठिन आकांक्षाको किसी प्रकार भी छोड़ना नहीं चाहता। यदि जीवनमें किसी दिन भी तुम नहीं मिलोगे, तो भी मैं तो तुम्हारी ही आशा और तुम्हारी ही स्मृति-

को हृदयमें धारण करके मरूँगी। अब इस मनमें किसी भी दूसरे-को स्थान नहीं दिया जा सकता।

ज्यों-ज्यों दिन बीत रहे हैं, त्यों-ही-त्यों तुम्हें पानेकी आशा भी बढ़ती चली जा रही है। अवश्य ही इसमें बड़ी-बड़ी विपत्तियाँ झेलनी होंगी। नाना प्रकारके लोग नाना भाँतिकी बातें कहेंगे; मैं यह खूब समझती हूँ कि लोगोंका मुँह बन्द करना असम्भव है। मैं यह जानती हूँ कि चारों ओर मेरे शत्रु भरे हैं, और इस बात-का भी मुझे पता है कि तुमसे प्रेम करनेमें मेरे कुछ शत्रु और भी बढ़ जायँगे। परन्तु कोई उपाय नहीं है। इस घरमें ही ऐसे अनेक शत्रु हैं। यदि वही सब मिलकर मुझसे लड़ने लगें तो, मैं तो उनके सामने भी नहीं ठहर सकूँगी। मैं जो तुमको कुछ चाहती हूँ या अपना यह तुच्छ जीवन-यौवन तुम्हारे श्रीचरण-कमलोंमें समर्पण करना चाहती हूँ, यह बात अब-तक मेरे हृदयकी गहरी कोठरीमें ही छिपी थी। कभी घुणाक्षर-न्यायसे भी मैंने किसीके सामने इसको प्रकट नहीं किया था। पर मेरे भाग्यका फेर है; एक दिन अत्यन्त विरह-संतप्त होकर मैंने अत्यन्त चञ्चलता-वश अपनी प्रियसखी निर्मलाको मनका सारा भेद बतला दिया। दैवयोगसे मानवती-नाम्नी मेरी एक सम्पर्कीया बहिन-ने छिपकर हम दोनोंकी सारी बातें सुन लीं और उसने सबके सामने इस रहस्यको प्रकट कर दिया। बस, तभीसे मेरी विपदाओंका अन्त नहीं है। मेरा सहोदर भाई विरागकुमार कहीं निकल गया। सहोदरा बहिन श्रद्धा भी उसीके पीछे चली गयी। वे दोनों रहते तो सम्भवतः मेरी मर्म-व्यथाको कुछ समझ सकते। परन्तु मनोमोहन

आदि मेरे मौसेरे भाई तो इस बातको सुनकर मेरा इतना अधिक तिरस्कार कर रहे हैं कि जिससे बढ़कर और हो ही नहीं सकता। वे मुझे धमका रहे हैं कि अब तुझको समाजमें मुख नहीं दिखाने देंगे।

उन्होंने जो कुछ कहा था, अब देख रही हूँ; वही कार्यरूपमें भी हो रहा है। चारों ओर, घर-बाहर सभी जगह यह बात फैल गयी है कि 'मेरा तुमसे गुप्त सम्बन्ध है, तुम अदृश्यरूपसे किसी तरह एक घरमें छिपे रहकर मुझसे मिला करते हो।' मेरे प्राणाधिक! तुम तो जानते हो कि यह बात कितनी झूठी है। यह निन्दा यदि सच्ची होती तो मेरे लिये दुःखका कोई कारण नहीं था। परन्तु बिना ही कारण इस निन्दासे मुझे बड़ी मार्मिक पीड़ा हो रही है।

बहुत दिनोंसे, मैंने तुम्हारी आशा कर रक्खी थी! सोचा था, एक बार फिर तुम्हारे दर्शन होंगे। परन्तु अपने अन्तः-पुरमें तुम्हारे आनेकी सम्भावना न देखकर अत्यन्त 'प्रगल्भा'की तरह आज बाध्य होकर मैं यह पत्र लिख रही हूँ। अब या तो तुम मेरे पास आकर मेरे तप्त हृदयको शीतल कर दो—मेरा 'कलंकिनी' नाम सार्थक कर दो; नहीं तो इस मिथ्या किंवदन्तीसे मेरा पिण्ड छुड़ाओ। बिना ही कारण मुझसे लोक-निन्दा नहीं सही जाती।

परन्तु प्रभो! जब मैं विचार करती हूँ कि 'अभी तुमसे मिलनेका समय नहीं आया है' तब मेरे हृदयमें मानो एक ही साथ सैकड़ों शूल बिंध जाते हैं। सुदारुण हेमन्तऋतुके अन्तमें मधुकर-गुञ्जित कितनी मधुर-यामिनी आयीं और अतीतके गर्भमें विलीन हो गयीं; नवीन आम्रमुकुलकी मधुर गन्धसे अन्ध होकर कितनी कोकिलाएँ पुनः पञ्चम स्वरमें गा उठीं; कितने पुष्प, कितनी गन्ध,

कितनी ज्योत्स्ना और कितने आनन्द, इस विश्व-भुवनमें विविध नृत्य करके चले गये और वसन्तके शुभागमनके साथ ही पुनः प्रकट हो गये। परन्तु मेरे हृदयकी वह सुमधुर आर्द्रता, वह स्निग्धता, अबतक नहीं लौटी। शरद्-पूर्णिमाकी स्वच्छ ज्योत्स्नामें प्रस्फुटित मल्लिकाकी सौरभ-मदिराकी भाँति मन मेरे प्राणोंको अब भी तुम्हारे भक्तिरससे उतना विह्वल नहीं कर सका; मेरे हृदय-कुञ्जमें विरह-विधुरा कोकिलाने आज भी तो उस तरह गान आरम्भ नहीं किया, फिर मैं कैसे तुम्हारे शुभागमनकी आशा करूँ? हाय! इस यात्रामें, क्या पुनः तुम्हारे पादपद्मोंके सरस-स्पर्शसे मेरा हृदय-कमल कभी विकसित हो उठेगा?

मैं सुन्दरी नहीं हूँ, जो अपने रूपपर तुम्हें मुग्ध कर सकूँ। न मुझमें ऐसा कोई गुण ही है जिसपर तुम रीझ जाओ। मेरे पास क्या है, मैं तुम्हें क्या देकर प्रसन्न करूँ? व्याकुलताके सिवा इस दुःखिनीके पास और है ही क्या? तुम त्रिलोकीनाथ हो, जगत्के एकमात्र अधिपति हो। इस अखिल विश्वके राजाधिराज हो; तुम क्या मुझे पसंद करोगे?

कहते हैं, भक्ति और शान्ति तुम्हारी नित्य-संगिनी हैं; उनकी अनुमति बिना कोई तुमसे नहीं मिल सकता। सुना है कि वे अत्यन्त दयामयी हैं और वे मेरे लिये कोई दूसरी भी नहीं हैं। परन्तु बहुत चेष्टा करनेपर भी मुझे इस नगरीमें उनका कहीं पता नहीं लगा। उस दिन एक दयालु सज्जनने कृपा-वश मुझे उनका पता बता दिया परन्तु मुझ दरिद्रिणीके लिये, उन-जैसी राज-रानियोंके पास जाना एक तरहसे असम्भव-सा ही प्रतीत होता है। उस अपरिचित दयालु सज्जनने तो मुझसे कहा था कि

तुम्हारे राजप्रासादका द्वार सदा खुला रहता है। विरागकुमार और श्रद्धा—जो मेरे सगे भाई-बहिन हैं—महलके तोरण-द्वारपर पहरा दिया करते हैं। बड़ा भरोसा करके मैं दौड़ी गयी, पर जाकर देखती हूँ तो सिंहद्वार बन्द है,—उसमें ताला लगा है। मेरी ही सम्बन्धीया दोनों बहिनें मानवती और कुटिला, बन्द दरवाजेके सामने बैठी बुरी तरहसे हँस रही हैं। मैं भय और लज्जाके मारे सिर नीचा किये रोती-बिलखती वहाँसे लौट आयी। अब तुम्हीं बताओ, मैं क्या करूँ?

सुना है कि रानी भक्तिमयी चौथे तल्लेपर द्वार बन्द किये सो रही हैं। निष्ठावती, सुरुचि और साधना नाम्नी उनकी तीनों कन्याएँ और ज्ञानानन्द नामक पुत्रके सिवा वहाँ और किसीको भी प्रवेश करनेका अधिकार नहीं है। इस अवस्थामें भक्तिदेवीके साथ मिलकर मैं तुम्हारे चरण-दर्शन कर सकूँगी, इस आशाको भी मैं अपने मनमें स्थान नहीं दे सकती। शान्तिदेवी तो सातवें तल्लेमें तुम्हारी सतत चरण-सेवामें ही संलग्न हैं। उनके दर्शन और तुम्हारे दर्शन तो, एक ही बात है। अब समझ गयी, तुम्हारी कृपा बिना और कोई भी उपाय नहीं है। अब मैं इस संसारके योग्य तो रही ही नहीं; यदि तुम्हारे चरणोंमें भी मुझे स्थान नहीं मिलेगा तो मैं 'घर-घाट' कहींकी भी नहीं रहूँगी। इसीसे मैं अपने कुल-सम्मानकी रक्षाके लिये आज तुम्हारे दुःखहारी अभय चरणोंकी शरण ग्रहण करती हूँ। मुझे दृढ़ आशा है कि तुम अपने वृन्दारक-वृन्द-वन्द्य कमला-कर-कमल-सेवित सुचारु चरणोंकी शीतल सुखद छायामें इस शरणागता चरणाश्रिता अनाथा बालिकाको आश्रय प्रदान कर इसके जन्म-जीवनको सफल करोगे!

तुम्हारी दासी

... ...

तुम कौन हो ?

सब सो रहे हैं, सब निस्तब्ध हैं, जगत् सुप्त है, केवल मौनका साम्राज्य है—इस समय तुम कौन हो, जो जाग रहे हो? फुर्तीसे सब काम निपटा रहे हो—कौन हो तुम? कहीं सूर्य उदय न हो जाय, क्या इसीलिये पहले-पहले ही कलियोंको खिला रहे हो? कहीं प्रातःकाल रसलोलुप मधुकर निराश न लौट जाय, क्या इसीलिये जल्दी-जल्दी प्रत्येक पुष्प-कोषके अन्दर मधु सजाकर रख रहे हो? कहीं उषाकालमें कोयल रसास्वादसे वञ्चित न रह जाय, क्या इसीलिये आम्रवृक्षके प्रत्येक मुकुलको रस-गन्धसे भर रहे हो?

जैसे माँ बच्चेको सुलाकर घरका काम कर लेती है, क्या तुम भी वैसे ही इस जगत्-शिशुको अन्धकारके आँचलसे ढककर इसकी चेतना हरणकर चटपट सारे काम निपटा रहे हो—जहाँपर जिसकी कमी हो गयी है उसे पूरीकर सबको सरस और नवीन बना रहे हो? अहा! इसीसे इस जगत्में कोई चीज पुरानी नहीं

होती। तुम्हारी समस्त सृष्टिका प्रवाह ही ऐसा है कि जिसमें कुछ भी पुराना नहीं हो सकता ! माताका स्नेह कितने कालसे मिल रहा है पर वह कभी पुराना नहीं हुआ। पुत्र-कन्याको हम कितना प्यार करते हैं, उनसे कितना स्पर्श करते हैं पर उस आनन्दका कभी अन्त नहीं आया। रातको रोज मनमें आता है कि बस, आज पति-पत्नीका प्रेम-नाटक समाप्त हो गया परन्तु प्रातःकाल उठकर देखते हैं फिर दोनों नवीन आकर्षणसे-अभिन्न माधुर्यसे एक दूसरेको मुग्ध कर रहे हैं।

बताओ यों तुम किस तरह सबको सजाते हो ? कितने युग बीत गये परन्तु फूलोंकी सुगन्ध पुरानी नहीं हुई ! 'अच्छी नहीं लगती' हृदयने यों तो कभी नहीं कहा ! श्यामल तृणगुच्छ, नवीन पत्रावली, अगणित तारकाविमण्डित सुनील नभोमण्डल, बाल अरुणकी रक्त किरणें, सुधांशुकी सुनिर्मल ज्योत्स्ना, अमावस्याका घनकृष्ण अन्धकार, तरुवीथिकाका मृदु-मन्द समीरण और जीवन-का सुख-दुःख, सभी प्रतिदिन आते हैं पर कोई पुराना तो नहीं होता। प्रभात होनेके पूर्व ही कौन सबको सजाकर सुन्दरतामें सानकर-नित नये बनाकर जगत्में भेजता है ? आज भी कल-की तरह ये ठीक उसी प्रकार प्राण हर रहे हैं, भावुक-हृदयमें कितने भाव जगा रहे हैं ! जिसकी ऐसी निपुणता है—ऐसी व्यवस्था है, एक बार इच्छा होती है, उसके 'आवरणहीन मुख-कमल' को देखनेकी। इसीसे फिर पूछ रहा हूँ—तुम कौन हो ?

मुक्ति !

मुक्तिके लिये कोई चिन्ता नहीं, जिस दिन उसकी मुरली सुन पाओगे उसी दिन सब दरवाजे अपने-आप खुल जायँगे। बन्धन—माया, किसीके लिये कोई चिन्ता नहीं, जगत्के सम्पूर्ण आकर्षण उस समय दूर हो जायँगे—सम्पूर्ण बन्धन टूट जायँगे। जब जोरकी बाढ़ नदीके दोनों किनारोंको अपने अन्दर छिपाकर, नाचती हुई जोरसे बढ़ती है तब उसकी उस बड़े जोरकी टानसे, मोटे-मोटे रस्से पटापट् टूट जाते हैं। इसी प्रकार धन, मान, कुल, अभिमान कोई कितना भी मजबूत क्यों न हो जब प्रेमकी बाढ़ आती है तब उसमें सबको बह जाना पड़ता है। सर्प जैसे मीठे स्वरोंसे मुग्ध होकर अपने दुष्ट स्वभावको भूल जाता है, उसी प्रकार जब हृदयमें उसकी मुरली बज उठती है तब सारे शत्रु और उनके सम्पूर्ण उपद्रव स्वप्नकी तरह दृष्टिसे अगोचर हो जाते हैं। मुरली सुनते-सुनते मन हट खड़ा होता है, कर्म-बन्धन टूट जाते हैं, सम्पूर्ण द्वार खुल जाते हैं, जगत्की मायाका नाता बिल्कुल दूर हो जाता है। फिर किसीका भी कुछ प्रयोजन नहीं रह जाता। उस समय देखनेमें आती है, सर्वत्र ही 'मेरी' अबाध गति और दीखता है सर्वत्र ही केवल 'मैं'।

प्रेम

सारमें बहुत-सी वस्तुओंको हम पसंद करते हैं, उनसे प्यार करते हैं और चाहते हैं कि वे हमारी हो जायँ। परन्तु यह 'प्यार' आसक्ति होनेपर भी उन वस्तुओंके प्रति प्रेम नहीं कहा जा सकता! मान लीजिये, सरोवरमें एक सुन्दर सरोज खिल रहा है, उससे मृदु, मधुर, स्निग्धकर सुगन्धि निकल-कर वायुके साथ मिलकर हमारी इन्द्रियोंको तृप्त कर रही है। कमलकी इस नेत्रोंको सुख पहुँचानेवाली शोभा और घ्राणेन्द्रियको तृप्त करनेवाली सुगन्धिको पानेके लिये मनमें जो लालसा होती है, वह वास्तवमें उस कमलके प्रति हमारा सात्त्विक प्यार नहीं है। विषयेन्द्रियके संयोगसे जो आकर्षण या तृप्तिका अनुभव होता है,

वह राजसिक है। पुत्रके सौभाग्यसे या नारीके गात्रस्पर्शसे होनेवाले आनन्दका अनुभव केवल इन्द्रियतृप्तिमात्र है। कीर्त्ति या धनके प्रति होनेवाला आकर्षण भी इसी श्रेणीका प्यार है। इससे ऊपर उठे बिना सात्त्विकी प्रीतिका उदय नहीं होता। जब इन्द्रिय-चरितार्थताके लिये तनिक-सी भी व्याकुलता नहीं रहती, तभी सात्त्विकी प्रीति होती है। जिसको देखते या सुनते ही हृदयमें एक अनिर्वचनीय प्रीतिका सञ्चार हो जाता है,—एक तरहका अपने-आपको भुला देनेवाला कामगन्धशून्य आनन्द जाग उठता है—अपनी कहलानेवाली प्रत्येक वस्तु जब उसके चरणतलपर चढ़ा देनेकी इच्छा प्रबल हो उठती है, तभी वह असली प्यार या निर्मल प्रेम कहलाता है। 'सा कस्मै परमप्रेमरूपा' (नारदभक्ति-सूत्र २) यही भक्तिका स्वरूप है।

सेवा या प्यार करनेमें जब रत्तीभर भी बदला पानेकी आशा हृदयमें नहीं रह जाती; सेवा या प्यार इसीलिये किया जाता है कि वैसा किये बिना कल नहीं पड़ती; बुद्धिका ऐसा निश्चयात्मक सहज और सरलभाव ही यथार्थ 'प्यार' कहलाता है। सरोवरमें कमल खिल रहा है, उसकी शोभा और सुगन्धिसे इन्द्रियाँ खिंची जा रही हैं, परन्तु जो शोभा और सुगन्धि अपने आकर्षणसे इन्द्रियोंमें उत्तेजना उत्पन्न करके या उनको तृप्त करके ही शान्त नहीं हो जाती किन्तु किसी प्रियतमकी आनन्द-स्मृतिको जगा देती है, जिससे उसके चरणकमलोंको पानेके लिये मनमें व्याकुलता छा जाती है, उसीका नाम 'प्रेम' है। कमलके प्रति इसीलिये

अनुराग है कि वह हमारे प्रियतमकी स्मृतिको जगा देता है, वही सात्त्विक अनुराग है।

जो 'प्यार' इन्द्रिय-द्वारपर जाकर ही रुक जाता है, आगे नहीं बढ़ता; उसे मोह उत्पन्न करनेवाला राजसी प्यार समझना चाहिये। उससे प्रेमका स्फुरण नहीं होता। प्रेम तो जगत्को भुला देता है, अपने-आपको खो देता है! उसमें न तो भोगकी आसक्ति है और न वहाँ 'अहम्' में ही सिर उठानेकी शक्ति रहती है। जहाँ पूँजी इकट्ठी करने, कुछ प्राप्त करने, दूसरेको ठगने या किसीको अपना बनानेके लिये प्रेमके नामसे व्यवसाय किया जाता है, वहाँ प्रेमका विकास नहीं होता। अपनेको लुटा देने—अपनेको भूल जानेमें ही प्रेमकी पूर्णता है। जहाँ 'अहं' है, जहाँ भोगोंकी इच्छा है, वहाँ विशुद्ध प्रेमका जन्म नहीं हो सकता। इन्द्रियोंकी लालसा और उनको चरितार्थ करनेका आवेग जहाँ जोरोंपर होता है, वहाँ पवित्र प्रेमका उदय होना असम्भव है। अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी इच्छाका नाम प्रेम नहीं है, वह तो प्रेमका विकार है। साधारणतः स्त्री-पुरुषोंमें जो परस्पर मिलनकी इच्छा होती है उसको भी सभी समय प्रेम नहीं कहा जा सकता। धनके लोभी-की धनके लिये जो तीव्र लालसा होती है या कामीकी जो कामिनी-के प्रति आसक्ति होती है वह तो केवल नीच इन्द्रिय-लालसामात्र है। वह कभी देहसे आगे नहीं बढ़ती। यदि किसी अचिन्त्य भाग्यबलसे कभी वह प्यार देहकी सीमासे आगे बढ़ जाय, निजेन्द्रिय-सुखकी इच्छा सर्वथा नहीं रहनेपर भी परस्परमें एकान्त अनुराग बना रहे और वह नित्य नवीन रहकर प्रबल वेगसे बढ़ता

हुआ असीममें जाकर अपनेको मिटा दे, तब उसे प्रेम कहा जा सकता है। यही आत्माके साथ आत्माकी, चेतनके साथ चेतनकी मिलनेच्छा है—इसीका नाम विशुद्ध प्रीति, सात्त्विक प्यार या यथार्थ प्रेम है। प्रीति, प्यार और प्रेम स्वरूपसे एक ही वस्तु है, स्थानभेद तथा गुरुत्वभेदसे नामोंमें भिन्नता है।

हम जिस वस्तुको इन्द्रिय-द्वारपर देखते हैं, उसे उपभोग मान लेते हैं, यही हमारा बड़ा दुर्भाग्य है। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्द या जो कुछ भी कहें, सभीको समझनेमें हम भूल करते हैं। जरा-सा पीछे घूमकर देख लें तो फिर कोई भ्रमकी सम्भावना नहीं रहती। परन्तु हम अधिकांश समय ही पीछे फिरकर नहीं देखते, जो सामने पाते हैं उसीको पकड़कर सन्तुष्ट हो रहते हैं। इसीलिये इन्द्रिय-द्वारपर जो वस्तुएँ प्रकाशित होती हैं, वे किसका प्रकाश हैं, यह नहीं पूछकर, जो कुछ देखते, सुनते, सूँघते, स्पर्श करते या चखते हैं, बस, उसीको परमानन्दस्वरूप मानकर भ्रममें पड़ जाते हैं। वस्तुतः इन्द्रिय-द्वारसे जो कुछ प्रकाशित होता है, वह न इन्द्रिय है और न इन्द्रियका भोग्य-पदार्थ ही। हम केवल भ्रमसे उसे भोग्य-वस्तु समझते हैं।

घरका दरवाजा खुला हुआ है, उसमेंसे सूर्यका प्रकाश घरके अन्दर आ रहा है। मूर्ख मनुष्य समझ लेता है कि यह दरवाजा ही प्रकाश है और जितनी रश्मियाँ पड़ रही हैं, बस, वह उतना ही है, इसके परे और कहीं कुछ भी नहीं है। परन्तु वास्तवमें वह प्रकाश दरवाजेका नहीं है। दरवाजा प्रकाशके आनेका एक मार्ग-

मात्र है, और इस मार्गमें जितना-सा प्रकाश आ रहा है, वह सम्पूर्ण प्रकाश भी नहीं है। वह तो अनन्त प्रकाशका एक क्षुद्रतम अंशमात्र है, अंश होनेपर भी वह उस अनन्तके साथ योगयुक्त अवश्य है। प्रकाश दरवाजेसे होकर ही आता है परन्तु वह दरवाजेसे बिल्कुल दूसरी वस्तु है। इसी प्रकार रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श जो कुछ हम उनके इन्द्रिय-द्वारोंसे अनुभव करते हैं वह इन्द्रिय या केवल इन्द्रियोंका विषय ही नहीं है, वह उस अखण्ड सत्यका ही प्रकाश है। परन्तु हम उन वस्तुओंको, जितना उनका इन्द्रियोंसे प्रकाश होता है, उतना-सा ही मानकर महान् भ्रममें पड़ जाते हैं। छायाका स्वरूप न जाननेसे जैसे उसको काया समझकर मनुष्य भ्रममें पड़ता और डर जाता है, उसी प्रकार इन्द्रिय-द्वारपर सत् वस्तुके प्रकाशको भी केवल वही समझकर हम डरते और परास्त हो जाते हैं। वस्तुतः हम जो कुछ देखकर, सुनकर, सूँघकर, चखकर या स्पर्श करके सुख प्राप्त करते हैं, वह सुख उन वस्तुओंमें नहीं है। उनसे अतीत होकर भी वह वर्तमान है, इस बातका अनुभव करनेपर ही सुखका स्वरूप जाननेमें आता है। परन्तु हम तो उस वस्तुमात्रको ही सुख समझ लेते हैं, इसीसे भ्रम हो जाता है, और उसकी भोग्यरूपतासे परे जो उसका स्वरूप है, इस बातको हम नहीं जान सकते। इसलिये इन्द्रियद्वारोंसे मर्म-स्पर्शी मधुर सङ्गीत, नयनानन्ददायी रूप या मधुर स्पर्श आदि जो सब निरन्तर अनवरतरूपसे प्रकाशित हो रहे हैं, उन सबका अनादि झरना इन्द्रियोंसे परे है, इस बातको भूलकर इन्द्रियोंको ही सब कुछ मानकर भ्रममें नहीं पड़ना चाहिये।

इन इन्द्रियद्वारोंके प्रकाशकी गति भी उस अनन्तकी ओर ही है। जैसे छोटे-छोटे प्रवाहोंकी गति समुद्रकी ओर हुआ करती है वैसे ही इन्द्रियद्वारोंके इन प्रकाशोंकी गति भी उस अखण्ड-आनन्दघन प्रकाश—समुद्रकी ओर है। यह समझ लेनेपर हमारी इन्द्रिय-वृत्तियाँ फिर इन्द्रिय-वृत्ति नहीं रहतीं, वह भक्ति-वृत्तिमें परिणत हो जाती हैं। हम जो इस समय क्षुद्र-क्षुद्र इन्द्रिय-प्रकाशके प्रवाहको देखकर ही इतना आनन्दित हो रहे हैं, पता नहीं, आनन्दके उस असली झरनेको देखनेपर तो हमारा चित्त कैसे आनन्दसागरमें डूब जायगा। उस झरनेको न देखकर हम भूल जाते हैं और मोहके गढ़ेमें पड़कर यथार्थ प्रकाशके स्वरूपका अनुभव नहीं कर पाते। जिसके सौन्दर्यको इन्द्रियाँ केवल वहन करके लाती हैं, वही 'परम सुन्दर' ढूँढ़नेपर नहीं मिलता। छोटा बालक जैसे नटकी कल्पित पोशाक तथा उसकी सजावट-बनावट देखकर कभी प्रसन्न और कभी दुखी होता है, परन्तु पोशाक और सजावटकी आड़में जो नट रहा हुआ है, उसे वह नहीं देख सकता, वैसे ही अज्ञानी मनुष्य समस्त इन्द्रियोंके द्वारपर उसके प्रकाशको देखकर—कुछ और ही समझकर पल-पलमें हर्ष और विषादको प्राप्त होते हैं।

एक विषयसे दूसरे विषयमें मनका लक्ष्य बार-बार परिवर्तन करते रहनेसे वह सत्यस्वरूप चञ्चलताके आवरणसे ढक जाता है। इसीसे भ्रम होता है। मनकी यह विक्षेप-शक्ति ही महान् अनर्थका मूल है; तो भी इस विक्षेपके दूर होनेका कोई उपाय नहीं दीखता, कारण, मन स्वभावसे ही चञ्चल है। इन्द्रियद्वारोंपर अनवरत भटकना

हो उसका स्वभाव है। यह मन जब जिस इन्द्रियके विषयमें स्थित रहता है तब उसको आत्मासे पृथक्, बाहरी वस्तु बतलाकर भ्रम उत्पन्न कर देता है, इसीसे मनुष्य पराजित हो जाता है। आत्मासे पृथक् स्वतन्त्ररूपसे जब किसी वस्तुकी उपलब्धि होती है, तब वह केवल क्षणिक सुख ही प्रदान करती है। वह अनन्त सुख देनेमें कभी समर्थ नहीं हो सकती। परन्तु समस्त इन्द्रिय-द्वारोंपर सब उसीका प्रकाश है—यह समझ लेनेपर फिर मनको इन्द्रियके प्रत्येक दरवाजेपर दौड़-धूप नहीं करनी पड़ती। यह समझते ही मन विक्षोभरहित—शान्त हो जाता है। अवश्य ही विषयको छोड़कर मन घड़ीभर भी टिक नहीं सकता, इसीलिये इस समय उसका एकमात्र विषय रह जाता है 'कृष्णपदारविन्दम्।' यही 'तत्त्वं किमेकं शिवमद्वितीयम्' है।

उसके अनन्तमुखी प्रकाशको समीकरण करना ही मनका निर्विषय भाव है। मन वस्तुकी आकांक्षा करता है और उसे पाकर तृप्त हो जाता है। इस तृप्तिका स्वरूप क्या है? इस तृप्तिका स्वरूप है यह निर्विषय भाव अर्थात् उस विषयके आकारमें मनकी दीर्घकाल स्थिति। उस समय मन उस विषयके सिवा दूसरे रूपसे उपलब्ध नहीं होता। इस अवस्थाका नाम ही 'आनन्द' है। विक्षेपशून्य चित्तकी स्थिरता ही इस आनन्दका नामान्तर है। यह हो जानेपर वह आनन्द कभी भी बहुत विषयोंकी ओर नहीं जा सकता। मनकी गति बहुत तरफ होनेसे ही यथार्थ आनन्दमें विघ्न हुआ करता है। इसीलिये जहाँ चित्तकी चञ्चलता या कामना

होती है वहाँ राम नहीं मिलते। 'जहाँ काम तहँ राम नहिं' अर्थात् वहाँ परमानन्द नहीं रहता। जहाँ मन अनेक कामनाओंसे घिरा होता है, वहाँ प्राणाभिरामका यथार्थ आविर्भाव सम्भव नहीं है। अतएव यथार्थ प्रीति वस्तुतः एकनिष्ठ और अव्यभिचारिणी हुआ करती है और वही यथार्थ प्रेम है।

जन्मजन्मार्जित अनेक तपस्याके फलसे हमारे हृद्रोग नष्ट होनेपर भगवद्भक्तिका बीज अंकुरित होता है। भगवान् 'प्रेयः पुत्रात् प्रेयो वित्तात्' पुत्रसे भी प्रिय और धनसे भी प्रिय हैं, बड़े सौभाग्यसे हम इस बातको समझ पाते हैं। पता नहीं, ऐसा सौभाग्य कब होगा जब कि सारी आशा छोड़कर एकमात्र उन्हींको प्रियतम प्राणसखा समझकर हम अपने हृदयासनपर विराजित कर सकेंगे?

किसी मनुष्यके प्रति जब हमारा अनुराग होता है तब उसे देखने, सुनने और स्पर्श करनेके लिये मनमें एक प्रबल आग्रह हुआ करता है। इसीका नाम 'प्यार' है। यह प्यार जब ईश्वरमें अर्पित कर दिया जाता है, तब उसीको वैष्णवगण अनुराग कहते हैं। फिर आग्रह बढ़ते-बढ़ते जब यह दशा हो जाती है कि उससे मिले बिना काम ही नहीं चलता,—सब कुछ सूना-सा लगता है। मनके इस अत्यधिक अनुरागको 'आसक्ति' कहते हैं। तदनन्तर जब वह प्यार जम जाता है, तब एक अनन्तस्पर्शी व्याकुलता अवतीर्ण होकर मन-प्राणको आनन्द-महासिन्धुमें बहा ले जाती है। फिर अपने ऊपर अपना शासन नहीं रहता। समस्त

विश्वमें उस प्रेममयके स्पर्शका ही अनुभव होने लगता है। उस समय भक्त आनन्दविह्वल होकर गा उठता है—

सखि ! केहि विधि आनन्द उलेखौं। माधव मम मन्दिर नित देखौं॥
पाप-चन्द्र मोहिं जो दीन्हें दुख। पिय-मुख-दरस बढ़े उतने सुख॥
आँचल भरि जु महानिधि पावौं। तऊ न पिय परदेस पठावौं॥
सीत कामरी, ग्रीष्म सुवाता। बरषा छत्र नदी पिय त्राता॥

इस अवस्थामें प्रेमी भक्त क्षणभरका भी प्रियतमका विरह नहीं सह सकता। उसका हृदय नित्य नूतन हर्षसे अधीर और उन्मत्त रहता है। वह भगवान्‌को सब कुछ समर्पण करके निश्चिन्त हो जाता है। किसी बातके लिये उसका चित्त चञ्चल नहीं होता। जगत्‌के धन-जन-मान-प्रतिष्ठा आदि कुछ भी उसे मोहित नहीं कर सकते। तब वह अपने प्रेममयको पाकर उसके गले लगकर आँसू बहाता हुआ कहता है—

कहा कहौं प्रभु ! कहन न जाना। तन-मन-धन तुम जीवन-प्राना॥
गर्वित, दीन्हि तिलांजलि सबहीं। व्रत-कुल-लाज-गरब मम तुमहीं॥
तुम मम भूषण हिय-मनि-माला। तुम बिनु देह भार, बेहाला॥
चरन लागि मैं त्यागेहुँ सबहीं। सीतल चरन-सरन भइ जबहीं॥
प्रिय ! तब हित छाँड़े दूनौं कुल। निज जन जानि रखहु चरनन-तल॥

गोपियोंकी यही दशा थी। यथार्थ भक्त उन्मत्तकी तरह होता है। वह हमलोगोंकी भाँति सभी मात्राओंको ठीक रखकर नहीं चल सकता। भावुक भक्तके इस प्रगाढ़ भाव—इस अगाध अनुरागको ही 'प्रेम' कहते हैं। अवश्य ही पहले-पहल यह भाव सबको नहीं प्राप्त होता। गोपियोंको भी नहीं हुआ था। दीर्घकालतक उपासना

करते-करते मनमें शुद्ध सत्त्वगुणका सञ्चार होनेपर कामात्मक रजो-गुण अपने-आप ही चला जाता है। इस प्रकार धीरे-धीरे हृद्रोग नष्ट होनेपर अकारण अहैतुकी भगवत्-प्रीतिका उदय होता है,—जीवनमें प्रेमकी बाढ़ आती है। नवयौवनके उद्दामसे युवतीके मनमें जैसे कान्तानुरागका सञ्चार होता है, वैसे ही एक अनिर्वचनीय विशुद्ध आकांक्षाके प्रबल आवेगसे अतीन्द्रिय अव्यक्त परमात्माके प्रति जीवका प्रबल आकर्षण होता है। इस प्रेमके तटध्वंसी भीषण स्रोतमें धन-जन-मान-प्रतिष्ठाका सारा गर्व गलकर वह जाता है—देहज्ञान नष्ट हो जाता है। इसी समय वह सब कुछ छोड़कर प्रियतमके मिलन-मार्गकी अभिसारिणी बनता है। तब वह लोक-परलोककी कोई चिन्ता नहीं करता—प्रेमानन्दमें प्रमत्त होकर जगत्में निर्भय विचरण करता है। फिर जगत्के सुख-दुःख, लाभालाभ उसके मनमें कुछ भी नहीं रह जाते। उसका जन्म-जीवन सार्थक हो जाता है।

सब कुछ भगवान् हैं

नारायणकी इच्छासे जो कुछ भी मिल जाय, उसीको जो श्रद्धाके साथ बड़े सम्मानपूर्वक सिर चढ़ा लेते हैं, वही वास्तवमें धन्य हैं। ऐसे ही व्यक्ति यथार्थ ज्ञान और भक्तिके ऊँचे शिखरपर पहुँच सकते हैं। जैसे वैशाख-ज्येष्ठमें जलती हुई लू चलती है, वैसे ही समयपर सुशीतल प्राणाराम मलय-मारुत भी हिल्लोलित होता है। दोनोंमें कितनी विचित्रता है? यही तो उनकी अपूर्व सृष्टि है! जो इस अनोखे सुख-दुःखोंकी द्वन्द्वमूर्तिमें प्रकट होकर, अपने अरूप रूपको विकसितकर और फिर बालककी तरह उन्हीं द्वन्द्वोंको लेकर खेलते हैं उन सर्वाश्रय सर्वेश्वर रसिक-चूडामणिको हमें भक्ति-विनम्र चित्तसे स्वीकार करना चाहिये। इस सम्बन्धमें

भक्तके मनका यही भाव रहता है, वह यही समझता है कि मेरे हृदयवन्धु, प्राणरमण भगवान् ही जब सब कुछ हैं, तब वे चाहे सुख-शान्तिके रूपमें हों या शोक-रोग-दुःख और मृत्युके ही वेशमें हों, उनसे डरना कैसा ? मैं माँके गोदमें बैठा हूँ, ऐसा जान लेने-पर जैसे बच्चा किसी भी डरसे नहीं डरता, इसी प्रकार जिसने यह सचमुच जान लिया है या जिसको यह दृढ़ विश्वास हो गया है कि 'ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।' संसारमें जो कुछ है सो सब भगवान् ही हैं, वह किसीसे भी क्यों डरेगा ? अपनेसे अतिरिक्त किसी दूसरेके बोधसे ही तो भयकी उत्पत्ति होती है। जब सारे संसारको ही वह अपनेसे सर्वथा अभिन्न समझने लगता है, तब भय नामक कोई मनोविकार उसमें रह ही कैसे सकता है? इसीसे ज्ञानी या भक्तकी दृष्टिमें सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्व केवल भ्रम या कल्पनामात्र रह जाते हैं। वे जानते हैं कि 'अहं वा सर्व-भूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि ।'

तथापि इस मायाके संसारमें सुख-दुःखकी जो अनवरत लीला हो रही है, उसे अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। परन्तु जो कुछ भी हो, वह लीला भक्तको खेद नहीं पहुँचा सकती। भक्त देखता है कि मालाके सूतकी भाँति भगवान्‌ने ही सारे सुख-दुःखरूप सांसारिक व्यापारको धारण कर रक्खा है। जैसे शरीरमेंसे केश-लोमादि स्वाभाविक ही निकलते हैं, वृक्षोंमें फल-फूल सहज ही फलते-फूलते हैं, वैसे ही सुख-दुःखादिरूप सहस्रों भाव-पुष्प भी भगवान्‌के चरण-कमलोंका आश्रय लेकर उनकी अपूर्व

महिमासे खिल उठते हैं। इसीलिये भक्त न तो दुःखसे डरता है और न सुखकी अवहेलना करता है। वह सब कुछ अपने प्रभुकी महिमा जानकर आनन्दसे नाच उठता है। वह कहता है कि मुझे इनमें जो भगवान्का स्पर्श प्राप्त हुआ है यही मेरा बड़ा भाग्य है। सुखरूपसे हो या दुःखरूपसे, स्पर्श तो उन्हींका है। जगत्‌से या जगत्‌की किसी भी घटनासे भगवान्‌को अलग न करनेके कारण जगत्‌की कोई भी घटना ज्ञानीके चित्तको विचलित नहीं कर सकती। भगवान्‌को अलग कर देनेसे ही जगत्‌का प्रत्येक व्यापार एक महान् दुःखरूपमें दिखायी देता है। इसीसे सब कुछ दुःखप्रद प्रतीत होता है और इसी दुःखकी वेदनाके बोझसे हमारी गरदन झुककर जमीनसे बातें करने लगती है।

जिन्होंने भगवान्‌को यथार्थतः पहचान लिया है, उनकी दृष्टिमें तो भगवान् दूसरे नहीं हैं। वे भगवान्‌को अपना परम आत्मीय ही समझते हैं, इसीसे भगवान्‌के प्रदान किये हुए सुख-दुःखोंमें उन्हें तनिक-सा भी दुःख नहीं प्रतीत होता। जो भगवान्‌को स्मरण करते हैं, जिनका चित्त उनके भजनानन्द-रससे भरपूर है, वे दुःखको कभी सुखसे अलग करके नहीं देखते। वे जानते हैं कि प्रकाश और ज्वाला एक ही चीज है। जो अज्ञानी और अभक्त हैं, वे दुःखमें भगवान्का स्मरण करते हैं और सुखमें भूले रहते हैं। यदि सुखमें भी उनका स्मरण किया जाता तो दुःख समीप ही न आ सकता। जीवनमें हमसे यह भूल न जाने कितनी बार हो जाती है! परन्तु दुःखकी ज्वालासे छूटनेका प्रधान उपाय ही है भगवान्‌को स्मरण करना, उनके शरणागत होना। जगत्‌में कड़ुआ,

तीता, खट्टा आदि अनेक रस हैं, परन्तु उनके साथ शहद मिलाकर खानेसे उनकी तीव्रता प्रायः नहीं मालूम होती। इसी प्रकार सुख-दुःख, रोग-शोक आदि किसी भी रसका आविर्भाव क्यों न हो, उसमें यदि भगवत्-स्मरण-रस मिला दिया जाय तो उसकी तीव्रता बहुत अंशमें कम हो जाती है। इसमें कोई सन्देह नहीं है। भगवान्‌के नाम-स्मरणकी ऐसी ही महिमा है।

मनुष्यकी चिर आकांक्षा यही प्रतीत होती है कि उसे विपत्तिमें काँपना और हर्षमें फूलना न पड़े। नहीं समझकर भी सब असलमें इसी लक्ष्यकी ओर दौड़ रहे हैं। जीवके हृदयके अन्तस्तलमें यही तृष्णा जाग्रत् है। जिसने मानव-हृदयके इस चिर लक्ष्यको समझ लिया, वही यथार्थमें जाग उठा। जिसको इसके जाननेकी इच्छा होगी, भगवान् दया करके उसके हृदयकी इस छिपी हुई चिरन्तन आकांक्षाको अवश्य सजीव कर देंगे। अनेक विचित्र घटनाओंके द्वारा भक्तको भगवान् अपनी ओर खींच रहे हैं। अतएव सुख-दुःख या लाभ-हानि जो कुछ भी आवें, प्रसन्न-चित्तसे सबको ग्रहण करना चाहिये। समस्त जीवोंके परम सुहृद् भगवान्‌ने हमारे लिये जो व्यवस्था की है, वह कभी हमारा अकल्याण नहीं कर सकती। सुख-दुःख तो उनके चरण-युगल हैं। आइये, इन चरण-युगलोंमें प्रणाम करें। मुझे निश्चय है कि भगवान्‌की करुणा-किरणोंसे कुसमयका सारा अन्धकार नाश हो जायगा। विपत्तिका भीषण तूफान शान्त हो जायगा। याद रखिये कि जो उनके शरण हो गया है, उसने इहलोक और परलोक दोनोंपर विजय प्राप्त कर ली है। उसीकी सत्त्व-संशुद्धि हुई है और वही अभय परमपदको प्राप्तकर सदाके लिये निर्भय हो गया है।

मुरली
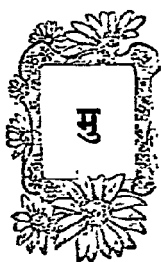
मुरली कौन बजाता है? कहाँ बजती है और क्यों बजती है, कह सकते हो? मालूम होता है यह सब केवल मनका भ्रम है। रेल, गाड़ी और मोटरोंकी आवाज, रुपयोंकी झनझनाहट और सुन्दरियोंके कोमल चरणोंकी मधुर नूपुर-ध्वनि, यही तो असली मुरली है। हाँ, मीनारकी तरह खड़ी हुई विशाल अट्टालिकाएँ भी मुरलीकी ध्वनिका ही काम करती हैं। चाहे उनमें शब्द न हो परन्तु चुपचाप एक सुर तो उनमें बजा ही करता है। सँपेरा जैसे वंशी बजाकर साँपको खेलाता है, हमारे मनरूपी भुजंगको भी ये बाहरके विषय ठीक उसी तरह खिला रहे हैं। इनको वंशी न कहें

तो और क्या कहें ? तुम लोग जो श्रीकृष्णकी मुरलीकी बात कहते हो वह हमारी समझमें नहीं आती ! न उसमें शब्द है और न रस है, वह केवल लोगोंको भुलावेमें डालनेवाली तुम्हारी बातें हैं, परन्तु क्या सचमुच यही बात है ?

नहीं ! मालूम होता है एक और भी जगत्‌भावना सुर है, मनको मत्त करनेवाला संगीत है ! अवश्य ही सभी कोई उसको नहीं सुन पाते । परन्तु जो कभी सुन लेता है वह फिर आँखोंसे कुछ देख नहीं सकता, कानोंसे सुन नहीं सकता, हाथोंसे किसीका स्पर्श नहीं कर सकता । उस समय उसकी क्या दशा होती है जानते हो ?

नहिं आता अपना नाम याद है मेरे ।
हैं नयनबाणसे प्राण हरे सब मेरे ॥
कैसा वह मारा नयनबाण अन्तरमें ।
है भरा हुआ विष उसका अभ्यन्तरमें ॥
रात दिवसका है नहीं, कुछ भी मुझको भान ।
श्यामरूप नित देखता, जागत सपन समान ॥

बस, उस मुरलीको सुनते ही यह अवस्था होती है । एक दिन नवद्वीपमें श्रीगौराङ्गने उस मुरलीकी धुनि सुनी थी जिससे उनका घरमें रहना असम्भव हो गया । गहरी रातके समय स्नेहमयी जननी, प्रेममयी पत्नी, मनभाये घरद्वार और धन-ऐश्वर्यको छोड़-छाड़कर बड़े जोरसे उन्हें रातों-रात दौड़ना पड़ा ! रोते-रोते सीधे कटवा जाकर ठहरे । उस दिनका वह रोना जीवनभरमें कभी

नहीं थमा। आजीवन उनकी समझमें और कुछ भी नहीं आया। सचमुच ही 'नयनवाणोंसे प्राण हरे गये।'

यह मुरली कहाँ बजती है, क्यों बजती है और उसे कौन सुनता है ?

'भाग्यवान् जन कोई है सुन पावा'

उसी मुरलीने सदा भागीरथीकी पवित्र और शुभ्र अविश्रान्त धाराकी तरह, चन्द्रमाकी सुन्दर चाँदनीके प्रवाहकी तरह और प्रातःकालीन सूर्यके किरणविस्तारकी तरह सम्पूर्ण विश्वको, सम्पूर्ण नरनारियोंके हृदयक्षेत्रको आर्द्र और अपनी मधुरतासे सिक्त कर रक्खा है।

हमारे हृदयके अन्तरतम क्षेत्रसे और इस विश्वके हृदय-केन्द्रसे जो एक मधुर शब्द सर्वदा ध्वनित हो रहा है, उसके उस अपूर्व छन्दसे पृथ्वीपर यह बाहर भटकनेवाला चञ्चल चित्त मौन और स्तब्ध हो जाता है। जब हम उस संगीतसुधाके सरोवरमें आपादमस्तक निमग्न होंगे तभी हमें शीतलता प्राप्त होगी। उस समय वासनाका सारा क्षोभ मिट जायगा। अभावके आघातोंसे हम घायल नहीं होंगे। हमारे देखने, सुनने और स्पर्श करनेमें जो कुछ भी आवेगा सो सभी अमृतके समान प्रतीत होगा। डूबना चाहिये। एक बार आँख-कान मूँदकर, शरीरकी ममता भुलाकर, प्राणोंका मोह छोड़कर उस अतल जलमें डूब जाना चाहिये—एक बार अपनेको खो देना चाहिये। जो ऊपर-ऊपर तैरकर केवल अपनेको बचाना चाहते हैं, वे धोखा खाते हैं। बचते नहीं, बच सकते

नहीं, उन्हें इस वासना-समुद्रका किनारा भी कभी देखनेको नहीं मिलता ! कविने कहा है—

जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी डूबन डरी, रही किनारे बैठि॥

डूबनेमें डरनेसे काम नहीं चलेगा। जलकी गहराईमें उतरना पड़ेगा। यदि डरोगे तो चिरकाल इसी जलके किनारेपर बैठ रहना पड़ेगा। न प्यास बुझेगी और न शरीर ही शीतल होगा। बार-बार रो-रोकर अपनी मर्म-वेदना प्रकट करते हुए यही कहना पड़ेगा—

'अपां मध्ये तस्थिवांसं तृष्णाविदज्जरितारं मृडा सुक्षत्र मृडय।'

जलके भीतर बासकर, मरता हूँ नित प्यास।
दया करो, सुख दो प्रभो, कर तृष्णाका नास॥

डूबनेमें सबसे बड़ा विघ्न है सुखकी वह एक मिथ्या और भ्रान्त धारणा जो हमारे हृदयमें घुसी हुई है, उसे निकाल देना होगा, धो-पोंछकर हृदयको साफ करना होगा, डरना नहीं। यह कोई बड़ी कठिन या असम्भव बात नहीं है। देर है तो बस, एक बार डूब जानेकी है।

सुखसम्बन्धी भ्रान्त धारणाका ही यह कुफल है कि हम आजीवन उस मिथ्या सुखके पीछे-पीछे दौड़ते हैं तब भी मरुभूमिमें मायामरीचिकाकी तरह वह कभी हमें प्राप्त नहीं होता। दौड़-धूपमें सारा जीवन बीत जाता है। एक मनुष्य स्वप्नमें रेलपर सवार होकर समझता है कि मै कई देशोंको लाँघकर बहुत दूर

चला आया, मनमें प्रसन्न होता है। परन्तु जब जागता है तब देखता है कि मैं जहाँ सोया था वहीं हूँ, एक पैर भी आगे नहीं बढ़ा। हमारी इस जाग्रदवस्थाकी भी ठीक यही दशा है। दिन-रात काम करते हैं, बड़ी धूमधाम और खूब दौड़-धूपकर मनमें समझते हैं कि बड़ा काम हो गया परन्तु वास्तवमें कुछ नहीं होता। यह सब केवल मोह है। हमारा सारा ही परिश्रम व्यर्थ होता है, व्यर्थ चेष्टाके श्रमसे मन और प्राण थक जाते हैं। जानते हो असली सुख क्या है? धन-सम्पत्ति, जमीन-मकान, गाड़ी-मोटर, मान-प्रतिष्ठा और विद्या-प्रतिभा आदि सुख नहीं है। इन सबके रहनेपर मनुष्य यदि बिगड़ न जाय तो इन्हींकी सहायतासे उस असली सुखकी खोज कर सकता है। पर जिसके ये सब नहीं हैं वह यदि असली सुख चाहता है तो क्या उसे नहीं मिल सकता? अवश्य मिल सकता है। तुम्हारे धन-ऐश्वर्य और मान-प्रतिष्ठामें तो कोई सुख घुसकर बैठा ही नहीं है।

असली सुख है आकाशके समान। आकाशकी ओर देखो, कहीं सीमा नहीं है, कहीं शेष नहीं है। यद्यपि हम उसको अभी पूरा नहीं देख सकते परन्तु जो कुछ देख पाते हैं उसीसे मन भर जाता है। प्राण उस असीमको पहचान लेते हैं और उसमें अपनेको विसर्जनकर निश्चिन्त हो जाते हैं। यह जो भूमामें आत्मविसर्जन है यही है परमानन्द। कारण, 'नाल्पे सुखमस्ति'—अल्पमें, सीमामें कभी सुख नहीं। इसीलिये जगत्‌के व्रीहि, गौ, धन, स्त्री आदि कोई भी पदार्थ मनुष्यको सुखी नहीं कर सकते। वह व्याकुल होकर सर्वदा

दौड़ता है उस अनन्त और असीम सुखके लिये । यह व्याकुलता उस असीमको पानेके लिये ही होती है । जो उसे पा लेता है, वह फिर वह नहीं रहता । वह भी आकाश ही हो जाता है । परन्तु पहले-पहल वह आकाश होकर भी बराबर आकाश होकर नहीं रहता । किसी समय चटसे बाहर निकल आता है । जैसे जलमें डुबकी लगाकर मनुष्य ऊपर आता है इसी प्रकार वह भी करता है । परन्तु बार-बार यों करते-करते उसे यथार्थ सुखके स्वाद-का अनुभव हो जाता है । वह बड़ा ही मधुर, बड़ा ही स्निग्ध और बड़ा ही शीतल है । प्राणोंको सदाके लिये शीतल कर देता है । फिर उसके लिये जानना या समझना बाकी नहीं रहता । ऐसी अवस्था होते ही मनुष्य उस मुरलीके सुरके साथ अपने हृदयके सुरको मिला देता है। तदनन्तर वह मुरली बजानेवालेको भी पकड़ लेता है । इसके बाद ? इसके बाद क्या ? फिर तो जीवनभर रोना, सिसकना और उन्मत्त होना ही चलता है ।

> नारायण घाटी कठिन जहाँ प्रेमको धाम ।
> विकल, मूर्छा, सिसकिबो ये मगके विश्राम ॥

न मृत्युका पता रहता है, न जन्मका; न परायेका, न अपने-का; न सुखका, न दुःखका; न भोगका, न त्यागका; न हेयका, न उपादेयका ! बस, सभी कुछ उसके लिये एक अद्भुत प्रकारके हो जाते हैं । संसारके लोग उसको पागल समझते हैं क्योंकि उनका सुर फिर उसके साथ नहीं मिलता ।

बलिदान

जैसे जन्मदात्री माता तुम्हारे लिये व्याकुल होती है, ठीक वैसे ही जगन्मयी जगन्माता भी अपनी सन्तानके लिये व्याकुल है। अपनी गर्भधारिणी माँको देखकर उसके हृदयमें जगन्माताके हृदय-को देखो। फिर उसकी करुणाके सम्बन्धमें कोई सन्देह नहीं रह जायगा। असली माँका हृदय तो वही है। वही प्रेमका आदिस्थान है। कैसा प्रेमका अनन्त उच्छ्वास है वहाँ! फिर यह तो उसका प्रतिबिम्ब है। जब प्रतिबिम्बमें ही इतनी करुणा, इतनी व्याकुलता है, तब बिम्बमें—असलीमें कितनी अधिक होगी, इसका अनुमान कर लेना चाहिये। आत्मदर्शन न होनेके कारण ही इस माँका स्नेह मोहावृत है। केवल हमारा शरीर ही उसके परिचयका विषय हो रहा है। असली माँ क्या करती है, जानते हो? वह विश्व-

ब्रह्माण्डकी जननी है, त्रिदेवोंकी प्रसविनी है। करोड़ों जन्मोंसे तुम्हारे साथ घूम रही है, पर तुम शरारती लड़के हो, इससे केवल बाहर-ही-बाहर दौड़े फिरते हो और राहके धूल-कीचड़को मलकर भूत बने धूलमें खेल रहे हो, तथा चारों ओर धूल उड़ा रहे हो। न घरकी बात याद है और न माँका ही स्मरण है। इसीसे वह तुम्हें पुकार रही है, ऊँचे स्वरसे पुकार रही है, कितने प्रकार हैं उसकी पुकारके ? जन्म-मृत्यु और सुख-दुःखकी सैकड़ों व्याकुलताएँ उस माँकी ही आवाज हैं। इसीसे प्रकृतिके सहस्रों स्थानोंसे मानो हम सुन रहे हैं—'अरे, तू कहाँ गया, कहाँ चला गया ?' माँकि इस बन्धनहारी स्वरसे बीच-बीचमें सारा विश्व चमक उठता है। सारे कामोंको छोड़कर, स्तम्भित होकर, विश्वजननीका यह मानव-शिशु बीच-बीचमें अविश्रान्त कार्यस्रोतके अंदर रुककर खड़ा हो जाता है। खड़ा-खड़ा ध्यानसे सुनता है परन्तु वह आवाज दूरसे सुनायी देनेवाले विहागकी भाँति केवल एक बार हृदयको हिलाकर चली जाती है। यद्यपि वह किसकी आवाज है, यह बात ठीक उसकी समझमें नहीं आती, तथापि कई बार मनमें आता है कि एक बार 'घर' लौट चलूँ, एक बार माँके अभय चरण-युगलोंका स्पर्श कर आऊँ। फिर मोहका झकोरा आता है, जिससे वह इस बातको भूल जाता है।

माँके शरीरसे ही पुत्रका शरीर है, अतएव तुम्हारे देहके रूपमें, प्राणशक्तिके रूपमें वह माँ सदा तुम्हारे साथ है। तुम उससे छिपकर कहीं बाहर नहीं भटक सकते। तुम खेलते-खेलते कितनी

ही बार गिर पड़ते हो, वह अन्तर्यामीरूपसे इस बातको देखती है। इसीसे वह तुम्हें पतनसे बचानेके लिये व्याकुल स्वरमें पुकार उठती है, 'आ, लौट आ, मेरे हृदयसे लग जा मेरे लाल !' जब तुम इस करुणस्वरको भी नहीं सुनते, तब वह दुःखका—ज्वालाका भेष धारणकर तुम्हारे विवेकको जगानेके लिये आती है। उसके उस करुण-आह्वानको गाँव-गँवईके लोग, जो जगे रहते हैं, खूब सुन पाते हैं। जगज्जननीके मातृहृदयकी तो यही चिर-आकांक्षा है कि तुम कब खेल छोड़कर बार-बार आवागमनकी दौड़-धूपको बंद कर सकोगे; कब तुम शान्त होकर अपनेको भूलकर मातृप्रेममें मग्न होकर मातृचरणोंमें आत्मसमर्पण करोगे और कब उसकी सुखमयी गोदमें सोकर नित्य निवृत्ति और परम शान्तिको प्राप्त कर सकोगे ?

गुरु तुम्हें संन्यासी बनाकर ही छोड़ेंगे, उन्होंने तुमको उसीका मार्ग दिखलाया है। परन्तु वह संन्यास, गेरुआ-धारण या गृह-त्याग नहीं है, वह तो आत्मसमर्पित सर्वस्व लुटा देनेवाला संन्यास है। उस संन्यासकी अपेक्षा श्रेष्ठ पदार्थ स्वर्ग और मर्त्यलोकमें कहीं भी नहीं है। याद है तो, तुमने गुरुके चरणोंमें सिर टेककर क्या कहा था ? तुमने कहा था—

नमस्ते नाथ भगवन् शिवाय गुरुरूपिणे।
विद्यावतारसंसिद्धौ स्वीकृतानेकविग्रह ॥
नारायणस्वरूपाय परमात्मैकमूर्तये।
सर्वाज्ञानतमोभेदभानवे चिद्घनाय ते ॥
त्वत्प्रसादादहं देव कृतकृत्योऽस्मि सर्वतः।
मायामृत्युमहापाशाद् विमुक्तोऽस्मि शिवोऽस्मि च ॥

गुरुने इसके उत्तरमें कहा था—

उत्तिष्ठ वत्स मुक्तोऽसि सम्यगाचारवान् भव।

मुक्तिका इश्तिहार तो जारी हो ही चुका है, परन्तु इसका पता कब लगता है, जब गुरुके प्रति आत्मसमर्पण प्रगाढ़ और पूर्ण होता है। तब उसका देहाभिमान चला जाता है। अभिमानके चले जानेपर वह मुक्त नहीं तो क्या है? गुरुने तो कह ही दिया—'मुक्तोऽसि'। वे अपनी प्रतिज्ञा कैसे भूल सकते हैं? इस शरीरकी मुक्ति या बन्धन तो वास्तविक मुक्ति या बन्धन नहीं है। इसका तो न मालूम कितनी बार त्याग और ग्रहण करना पड़ता है। जो जन्म-जन्मान्तर और कल्प-कल्पान्तरमें अनवरत घूम रहा है, वह किसी प्रकार भी नहीं बदला जाता। बस, मूल अज्ञान ही जीवका कारणदेह है, गुरु उसीपर लक्ष्यकर अमोघ अस्त्र प्रयोग किया करते हैं। वे संसार-वृक्षका मूलोच्छेद करनेके लिये ही ज्ञानखड्गको हाथमें लेकर खड़े हैं, इसीसे गुरुस्तोत्रमें कहा है—

वामाङ्गपीठे स्थितदिव्यशक्तिं
मन्दस्मितं पूर्णकृपानिधानम्।

इस कारण-देहमें ही जीवका अविद्या-बीज सञ्चित रहता है। इस 'ऊर्ध्वमूलमधःशाख' वृक्षकी जड़ बड़ी ही कठिन है, परन्तु गुरुके प्रति आत्मसमर्पित शिष्य गुरुकृपासे मिले हुए असङ्गशस्त्रके द्वारा दृढ़तासे इसकी जड़को काट डालता है। वह ज्ञानखड्ग जिसके सुन्दर हाथोंमें शोभा पाता है, जिसकी प्रसन्नता ही जीवकी मुक्तिका हेतु होती है, गुरु-कृपासे जो शिष्यकी हृदय-गुफामें प्रज्वलित होमाग्नि-शिखाकी भाँति प्रस्फुरित होकर शिष्यके अज्ञानान्धकारको

सदाके लिये भस्म कर डालती है, उसीके विश्ववन्दित चरण-युगलोंमें—आओ, हम अपना सिर टेकें और शिशुकी भाँति रोते-रोते उससे कहें—

प्रणतानां प्रसीद त्वं देवि विश्वार्तिहारिणि।
त्रैलोक्यवासिनामीड्ये लोकानां वरदा भव॥
(मार्कण्डेय० ८८।३५)

पुनः-पुनः नमस्कार करो उस ज्ञानखड्गको, जिसके प्रचण्ड आघातसे अज्ञान-महामोहासुरका विनाश होता है—

असुरासृग्वसापङ्कचर्चितस्ते करोज्ज्वलः।
शुभाय खड्गो भवतु चण्डिके त्वां नता वयम्॥
(मार्कण्डेय० ८८।२८)

इस ज्ञानकुठारकी चोट अविद्याक्षेत्रपर पड़ती है, इसीसे लोग व्याकुल होकर विद्याकी उपासना करते हैं और विद्याकी उपासना आरम्भ होते ही अविद्या टुकड़े-टुकड़े होकर गिरने लगती है। आगे चलकर सम्यक् ज्ञानकी प्राप्ति होते ही अज्ञान नष्ट हो जाता है।

बस, इस जन्मके बाद और जन्म नहीं है। जब गुरुके चरणोंमें आ पड़े, तभीसे अज्ञानरूपी संसार-वृक्षकी जड़पर कुठारकी चोटें पड़ने लगीं। वह कितनी चोटें सहेगा? फिर माँके प्रति पशुबलि देनी होगी। ज्यों-ज्यों अज्ञान-पशु काम-क्रोधादिका दल सामने आकर नाचने लगे, त्यों-ही-त्यों उन्हें पकड़-पकड़कर माँके बलि चढ़ाता जाय। यह पशुबलि माँको बहुत ही प्रिय है। प्रवृत्तिरूपी पशुओंकी माँके चरणतलोंमें बलि चढ़ाते ही वे दिव्यभावको प्राप्त होकर निवृत्तिरूप बन जाते हैं। माँके प्रति यह बलि चढ़ानी ही पड़ेगी। तभी हमारा जन्म-जीवन सार्थक होगा।

किसान

यदि सुन्दर फसल चाहते हो तो किसान बनो। असली किसान बनो। आलसी लोग अच्छे किसान नहीं हो सकते। मजबूत किसान झड़, वृष्टि, कीचड़, धूप, शीत आदिकी कुछ भी परवा नहीं करता। किसानकी तेज नजर रहती है केवल अपने कामपर। वह सुविधा-असुविधा और लाभ-हानिका पहलेसे इतना हिसाब नहीं रखता। फसल पकनेपर ही वह अपने परिश्रमको सफल मानता है। कितने परिश्रमसे कितना लाभ होना चाहिये इस बातका बारीक हिसाब बनिये रखते हैं। किसान इस बातकी परवा नहीं करता। वह तो यही समझता है कि यदि देवने दया न की तो सारी मेहनत व्यर्थ जायगी। पर यों समझकर वह मेहनतसे मुँह नहीं मोड़ता। क्योंकि वह इस

बातको भी जानता है कि यदि मैंने खेत तैयार नहीं किया तो देवताकी दयासे भी कुछ भी नहीं होगा। इसीलिये वह अपने परिश्रमसे नहीं चूकता। खेत तैयार करनेमें कभी आलस्य नहीं करता। उसको इसीमें आनन्द और शान्ति रहती है! 'मेरी भूल-से कहीं देवताकी दया व्यर्थ न चली जाय' इसीलिये वह लगातार महीनोंतक प्राणोंकी बाजी लगाकर मेहनत करता है और देवताकी दयाके लिये ऊपर आकाशकी ओर ताकता रहता है। ईश्वरकी दयाके लिये वही दावा कर सकता है जो कपट और आलस्यको छोड़े हुए है। आलसी और कपटी मनुष्य किस मुँहसे भगवान्‌के सामने दयाका प्रार्थी होगा? यदि कोई साल बुरी निकले, पानीकी बूँद भी न बरसे तो भी वह सच्चा साधु किसान कभी हताश नहीं होता और यदि देव ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे फसल अच्छी हो जाय तब तो उसके आनन्दका पार ही नहीं रहता। पर इस अवस्थामें भी उसे यह अभिमान नहीं होता कि फसल मेरी मेहनतसे अच्छी हुई। वह तो इस सफलताके लिये केवल देवताको ही धन्यवाद देता है। साधनक्षेत्रमें भी मनुष्यको ठीक इसी प्रकार किसान बनना चाहिये। अभिमानरहित, आलस्यरहित और भक्तिसम्पन्न साधकके द्वारा जो साधन होता है वही सच्चा साधन है। आलस्य और अभिमानसे हटकर दूर हुए बिना साधन-रूपी खेतीको कोई नहीं बचा सकता। जीतोड़ परिश्रम करते हुए भी फलके सन्धानको छोड़ना चाहिये। फल क्या होगा, इसको फलदाता जाने। परन्तु इस बातसे घबराने या दीनता दिखानेसे काम नहीं चलता। खेतीको बचाये रखना चाहिये, हाथ-पैर सिकोड़कर बैठ रहना उचित नहीं। केवल एक यह विश्वास रखना चाहिये कि "किसी-न-किसी दिन तो देवताकी

दया होगी ही, मेरी तैयारी न देखकर कहीं उसे हताश होकर लौट जाना न पड़े ।" जिसके मनमें इतना-सा बल नहीं है उसका साधन-क्षेत्रमें अवतीर्ण होना विडम्बनामात्र है, साधन-भूमिके कृषकको उद्दण्डता और अभिमानसे सदा दूर रहना चाहिये । एक दिन नवीन ऊषाकी आलोक छटासे जब दशों दिशाएँ भर जायँगी, जब उस राजाधिराजके पधारनेकी सूचनामें बारम्बार गगनभेदी शङ्खध्वनि होगी तब भक्त साधकको विनम्र हृदयसे धीरे-धीरे उसकी विश्वसभाके एक अलक्षित प्रान्तमें आकर उसकी कृपा प्राप्त करनेके लिये आशा लगाकर बैठना होगा, और जब कृपा चाहनेवालोंकी भीड़ कुछ कम हो जायगी तब उस भक्त साधकको अपने प्रभुके सम्मुख आकर भक्तिविह्वल चित्तसे उसका आदेश पानेके लिये उसके मनोहर मुखमण्डलकी ओर ताकना पड़ेगा । वसन्तके आगमनमें जैसे पुष्पकी मञ्जरीसे एक नवीन गन्ध प्रकट होती है उसी प्रकार एक अपूर्व नवीन भावकी मनोहर सुवास विकसित होकर भक्तके प्राणोंको आकुल कर देगी । उस समय उस विह्वल भक्तका चित्त अनायास ही गाने लगेगा—

आया हूँ मैं आज 'मुझे' देनेको ।
कौन बढ़ाता हाथ 'मुझे' लेनेको ॥

× × × ×

चल रहा है मलय वायु सुहावना,
धीर गतिसे जा रहा किस देशमें ।
लूटकर शुचि-गन्ध सुन्दर सुमनकी,
लोटता किसके चरणमें यह पवन ॥
क्यों नहीं मुझको लिये जाता अभी,
डालने उस 'श्याम' के पद-देशमें ।
कर रहा हूँ आश कितने युगोंसे,
कौन करता आज है मेरा हरन ॥

संशयात्मा विनश्यति

जान पड़ता है कि संसारके वे दिन चले गये, जब कि लोग गुरु, वृद्ध, आचार्य और शास्त्र-वचनोंको विना किसी तर्कके मान लेते थे, एवं सरल हृदयसे स्वाभाविक ही एक दूसरेपर विश्वास करते हुए शास्त्रोक्त सदाचारके प्रति श्रद्धायुक्त होकर बड़े सुखसे उद्वेगहीन जीवन व्यतीत करते थे। यह बात नहीं कि, उस समय उन सब सरल चित्तके सज्जनोंको बीच-बीचमें अवसर पाकर दुष्ट लोग कभी न सताते हों। परन्तु अधिकांशमें मनुष्य उस समय सुखी थे। यह बात संसारके काव्य, इतिहास और पुराणादिसे भलीभाँति सिद्ध है। दुष्टोंके बुरे कर्मोंकी बातें कभी-कभी सुनायी देनेपर भी अधिकांश मनुष्य सरल, सत्यवादी और ईश्वरपरायण थे। काम-

क्रोधादि प्रवल शत्रुओंकी उत्तेजनावश किसीसे कभी कोई दुष्कर्म वन जाता था, परन्तु वे उसमें निमग्न नहीं हो जाते थे। वल, पुरुषार्थ और विवेकसे सञ्चालित बुद्धिके द्वारा वे तत्काल ही फिर अपनी स्थितिपर कायम हो सकते थे। रिपुओंके वशमें होकर अपने सारे जीवनको उन्हींकी सेवामें नहीं लगा देते थे। सामयिक उत्तेजनाके कारण कोई कुकार्य वन जानेपर वे उसे कायरकी तरह छिपा रखना नहीं जानते थे। दण्ड मिलनेका निश्चय होनेपर भी निर्भय होकर अपना दोष सबके सामने कह देनेमें उनके मनमें तनिक भी कमजोरी नहीं आती थी क्योंकि उनका विश्वास था कि सत्यकी जय होती है, झूठकी नहीं—'सत्यमेव जयते नानृतम्' यही कारण है कि आजकलकी तरह उस जमानेमें इतने कानून और अदालतें न थीं, और न झूठको सच वनानेका पेशा करनेवाले इतने वकील और मुख्तारोंकी ही आवश्यकता थी।

उस समय मनुष्य जैसे सरल और सत्यवादी थे वैसे ही वे निर्भीक और ईश्वर-परायण भी थे। वे शरीरसे शुद्ध रहना जानते थे। वुद्धिकी शुद्धिका भी खूब सावधानीसे रक्षण किया जाता था। वे न्यायरहित और अनुचित लोभका दमन करना जानते थे। इसीलिये उस समय झूठी धोखेधड़ीकी इतनी अधिकता नहीं थी। लोगोंके वलवान् शरीर और मन भगवान्की आराधना और दूसरोंके दुःख दूर करनेमें सदा लगे रहते थे। तव देशपर देवताओंकी कृपा भी खूव रहती थी। विधिपूर्वक पूजासे सन्तुष्ट होकर देवता ठीक समयपर वृष्टि करते थे। जिससे लोग अपने परिश्रमसे कहीं

अधिक अन्न प्राप्तकर निर्विघ्नतापूर्वक परिवारका पालन, देवताओं-की आराधना और अतिथियोंकी सेवा किया करते थे। अर्थार्थी और आशा करके आया हुआ कोई भी प्राणी द्वारसे कभी विमुख नहीं लौटता था। सभी अपनी शक्तिसे कहीं अधिक याचककी माँग पूरी करनेकी चेष्टा करते थे। देशका जलवायु नीरोग था, किसी भी संक्रामक रोगका प्रबल प्रकोप नहीं होता था। कभी होनेकी सम्भावना होती तो उसको दूर करनेके लिये लोग खूब सावधान रहते थे। भलीभाँति विचार और परीक्षा किये हुए नियमोंको निर्धारित करनेमें वे जरा भी आलस्य नहीं करते थे। मन्त्र और ओषधियोंका प्रभाव भी उस समय खूब था। लोगोंके शरीर और मन स्वस्थ थे, जीवन-निर्वाहकी प्रणाली सरल और सुन्दर थी, इसीलिये आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक किसी प्रकारके भी उपद्रव आजकलकी तरह कभी बढ़ ही नहीं सकते थे। मनुष्य आपसमें एक दूसरेको प्रेमकी नजरसे देखना जानते थे। अतः जीवमात्रके प्रति उनमें हार्दिक सहानुभूति और कृपाके भाव थे। समाजके बड़े-बड़े नेता विवेकबुद्धिसे सम्पन्न और असाधारण प्रतिभाशाली थे। इसीलिये समाज-शरीरका कोई भी छिद्र उनकी नजरसे बचकर चुपचाप समाजमें बुराई पैदा नहीं कर पाता था। जनता बड़ी ही श्रद्धाके साथ इन सदाशय और उदार समाज-पतियोंकी—पञ्चोंकी आज्ञा पालन करनेके लिये सदा तैयार रहती थी। पञ्चोंसे कभी धोखा होगा, जनताके हृदयमें ऐसी आशंकाके पैदा होनेका ही अवसर कभी नहीं आता था। राजा और धनी लोग शास्त्र और गौ-ब्राह्मण आदिके प्रति श्रद्धा करना जानते थे और

प्रजाका हित करना ही राजाओंके राज्य-सञ्चालनका मूल मन्त्र था।

पता नहीं, संसारके किस अचिन्तनीय कर्म-फलसे कालचक्र पलट गया और उसीके साथ-साथ ऐसे समय और ऐसे जीवोंका आविर्भाव हो गया कि जिनसे पहलेकी किसी बातका मेल नहीं खाता। स्त्री-पुरुष, ब्राह्मण-शूद्र, विद्वान्-मूर्ख और वृद्ध-बालक सभीने मानो आजकल एक नया ही पन्थ पकड़ लिया है। इनकी शिक्षा-दीक्षा, चाल-चलन, भाव-भंगी और बोलचाल सभी कुछ मानो दूसरे प्रकारके हैं। कोई किसीके सामने सिर झुकाना नहीं चाहता, श्रद्धा और भक्तिकी बातोंका मानो पुस्तकोंसे बहिष्कार ही कर दिया गया है। बड़े-बूढ़ोंके प्रति वह आदर नहीं है, उपकार करनेवालोंके प्रति वह कृतज्ञता नहीं है। पूजनीय व्यक्तियोंके प्रति अब वैसी अपूर्व श्रद्धाका भाव कहीं नहीं पाया जाता। स्त्रियोंके चरित्रमें जिस आदर्श 'ह्री' और 'श्री' के दर्शन होते थे, आजकल वह मानो स्वप्नवत् हो गया है। अश्रद्धा, अविश्वास, अभिमान और गर्व ही मानो बड़े वेगसे जगका शासनदण्ड चला रहे हैं। तनिक-सी बाह्य लौकिक विद्या सीखकर लोगोंके चित्त इतने उद्धत हो गये हैं कि वे ऋषियोंके साधन-लब्ध अलौकिक ज्ञानकी दिल्लगी उड़ानेमें जरा भी नहीं हिचकते। तपःपरायण त्यागिश्रेष्ठ ब्रह्मर्षियोंके लिये आज हम बिना किसी संकोचके यह घोषणा कर रहे हैं कि वे बेईमान और स्वार्थपरायण थे। शास्त्रोंके सिद्धान्तोंके प्रति कटाक्ष करते हैं एवं घमण्डमें भरकर उनकी लौकिकता और असारता सिद्ध करनेमें तनिक भी नहीं हिचकिचाते। प्रत्यक्ष देवता पिता-माता और आचार्यगण आज हमारी आज्ञाके पात्र बन

रहे हैं। भाई-बन्धुओंके प्रति वह अकृत्रिम स्नेह और प्रेम लोप हो गया है और ईश्वरपरायण विरक्त साधु-संन्यासियोंके प्रति यह धारणा उत्पन्न हो गयी है कि ये आलसी, निकम्मे और समाजके लिये भाररूप हैं। हमलोग आज सरल और सत्यवादी पुरुषको मूर्ख और निकम्मा समझना सीख गये हैं !!

इसीसे यह विचार उठता है कि इस आर्यसेवित पवित्र भारतभूमिमें इस प्रकारके अनार्योचित संस्कारोंका सूत्रपात किस प्रकार आरम्भ हुआ? देखते-ही-देखते दया-धर्म, पूजा-भक्ति, साधना-ज्ञान, श्रद्धा-विश्वास, यज्ञ-तप आदि सारे आर्यसदाचार मानो स्वप्नके समान कैसे अदृश्य हो गये? आज सभी लोग छलाँग मारकर बड़े होनेके लिये मानो अत्यन्त लालायित हैं। पूर्वकालमें योग्य पुरुष ही जनसाधारणमें पूजा और सम्मान प्राप्त करते थे। किन्तु आजकल मनुष्य सब प्रकारसे हेय होनेपर भी अनधिकार पूजा पानेके लिये भीखकी झोली कन्धेपर लटकाये द्वार-द्वार श्रद्धा-याचना करनेमें जरा भी लज्जित नहीं होते! देशवासियोंकी वह ह्री और वह श्री कहाँ चली गयी? आज देशमें न तो कोई दुर्वचन बोलनेमें सकुचाता है और न दुष्कार्य करनेमें ही हिचकता है। साधुताका ढोंग करते हुए लोग असाधु कार्योंमें लग रहे हैं और मिथ्याके द्वारा सत्यको ढक देनेके लिये सदा प्रस्तुत रहते हैं। आज झूठ बोलनेमें कोई बाधा नहीं रही, परद्रव्यहरणमें कोई हिचकिचाहट नहीं रही। विश्वासघातकता, धोखेबाजी, परद्रोह और कपट मानो चित्तके स्वाभाविक धर्म हो गये हैं। हमें जिन विषयोंका रत्तीभर भी ज्ञान नहीं,

उनको मानो हम पूरा-पूरा जानते हैं, इस प्रकारके ज्ञानका ढोंग आजकल मानो सर्वव्यापी हो गया है। सभी लोग प्रत्येक विषयके पण्डित बने हुए हैं। लोगोंकी बुद्धिवृत्ति अन्धकारसे इतनी ढक गयी है कि जिस कार्यसे धर्मके ध्वंस होनेकी अधिक सम्भावना है, आज उसी कार्यकी ओर लोग मानो ध्वंसके मुखमें प्रवेश करनेके लिये वैसे ही 'समृद्ध वेग' से दौड़ रहे हैं, जैसे आगके मुखमें प्रवेश करनेको मोहावृत पतंग! कहाँ है ब्राह्मणोंकी वह महती तपस्या, अत्युग्र ब्रह्मचर्य, शास्त्राचारके पालनमें एकान्तनिष्ठा, शम, दम, तितिक्षा और निर्लोभता? कहाँ गयी वह क्षत्रियोंकी प्रदीप्त वीर्यशक्ति, विपत्त्राण-परायणता, अद्भुत शौर्य-शक्ति, वेद और ब्राह्मणोंकी सेवा? कहाँ गयी वैश्योंकी वह सरल जीवन-निर्वाहकी प्रणाली, कृषि, वाणिज्य और गो-सेवा? कहाँ गया शूद्रोंका वह स्वाभाविक परिचर्याका भाव? और कहाँ चली गयी वह साधु-तपस्वियोंकी अत्युग्र साधननिष्ठा एवं ज्ञानकी विमल दीप्ति?

वर्तमान युगमें क्यों लोग इतने दुष्ट और दम्भी हो गये हैं, इसका एक कारण यही जान पड़ता है कि लोगोंकी चित्तवृत्तियाँ बाह्य विषयोंकी ओर अतिमात्रामें आकर्षित हो गयी हैं। बाह्य विषय, वेष-भूषा, खान-पानादिने मानो मनुष्यको मृगतृष्णामें डालकर अनेक बुराइयाँ सिखा दी हैं। लोग अपने वेष-भूषा, लौकिकता, सामाजिकता, खान-पान और विषय-सम्भोगमें इतने मग्न हो गये हैं और इसी कारण धनाकांक्षा भी इतने जोरसे बढ़ गयी है कि उनको किसी दूसरे विषयके सोचनेके लिये समय ही नहीं मिलता।

वर्तमान युगमें भोग-विलासकी सामग्रियाँ जितनी बढ़ गयी हैं, भोगकी आशा और भोगनेकी इच्छा भी उतनी ही उत्कट हो उठी है। इसीलिये अर्थकी आवश्यकता भी अत्यधिक बढ़ गयी है। लोग आज उसीकी पूर्तिके लिये विशेष व्याकुल हैं। इसी कारण वे अन्तःकरणकी विवेक-वाणी नहीं सुन पाते; शास्त्र और ऋषि-वाक्योंके मर्मको नहीं समझ सकते, परलोककी आस्थाको खोकर उन्होंने अपनी सारी शक्तिको अतिलोभके वशमें होनेके कारण विषयोंकी प्राप्तिमें ही लगा रक्खा है। पूरी शक्ति लगानेपर भी मनमाना अर्थलाभ नहीं होनेसे लोग आज अशुभ वृत्ति और दुराचारके अवलम्बन करनेसे नहीं हटते। इसीसे जाना जा सकता है कि हमारे भाव कहाँतक तामसिक हो गये हैं, क्योंकि धनोपासना ही तामसिकताकी अन्तिम अवस्था है। जिन्होंने धनको ही सर्वार्थ-सिद्धिका मूल समझ लिया है, एवं जो दिन-रात उसीके संग्रहमें लगे रहते हैं, उनके हृदयमें ईश्वरपरायणता और परमात्माके शुद्ध चिन्मय स्वरूपका विकास नहीं हो सकता। इस प्रकार महास्थूल जडकी उपासना करके मनुष्य अन्तमें काठ-पत्थर आदिके रूपमें परिणत हो जाते हैं। इस प्रकारकी जडोपासना सीख जानेके कारण ही आज हम अपने आपको भूल गये हैं, हृदय-देवताको भुला बैठे हैं। इसीके फलस्वरूप आज हमने देवताके स्थानमें स्वार्थ और भोगको देवताकी मूर्ति बनाकर उसीकी पूजामें अपने तन-मन और प्राणोंको समर्पण कर दिया है। हम दूसरेके भाग्यपर डाह करना सीख गये हैं और जगत्‌के सारे धन-धान्य और भोग्य-

वस्तुओंको हड़प जानेके लिये अपने दुर्दमनीय लोलुप हाथोंको चारों ओर फैला रहे हैं। कविने ठीक ही कहा है—

कनक कनकतें सौगुनी मादकता अधिकाय।
वह खाये बौरात हैं यह पाये बौराय॥

भोगोंमें आसक्त हुए इस चित्तमें भोगोंकी बातोंको छोड़कर और कोई बात ठहरती ही नहीं है। क्या आज हम बलपूर्वक कह सकते हैं कि—'येनाहं नामृता स्याम्, किमहं तेन कुर्याम्?' हमें और किसी वस्तुकी आवश्यकता नहीं, हम केवल तुम्हें ही चाहते है। हे भगवन्! और जो कुछ है वह सब पड़ा रहे। प्रभो, तुम्हीं हमारे हृदयमें विराजमान होओ। इस मन्त्रको हम आज कहाँ उतने जोरसे उच्चारण कर सकते हैं? हृदयके सत्य भावसे आज कितने मनुष्य भगवान्‌को चाहते हैं। हम जो कुछ करते हैं, देखादेखी करते हैं अथवा लोगोंको दिखलानेके लिये करते हैं। हम धनकी कामना कितने आग्रहके साथ करते हैं। अन्य कितनी वस्तुओंकी अभिलाषा करते हैं, परन्तु प्रभुके लिये हमारे हृदयके एक कोनेमें भी तो वैसी प्रबल आकांक्षा जागृत नहीं हुई। हाय, हाय! हम क्या कर रहे हैं, इसपर हमने कभी विचार नहीं किया। जो हमारे प्राण हैं, जो सर्वस्व हैं, जब हमने उन्हींकी अभिलाषा नहीं की, तब हमने क्या चाहा? हम किस वस्तु-की आकांक्षाके पीछे भटक रहे हैं। अपने प्राणाराम, प्राणेश्वरकी ओर तो नजर फिराकर हमने कभी नहीं ताका! रे मूर्ख चित्त! तू अमूल्य रत्नके बदलेमें काँच लेकर फूल रहा है? पारस-

मणिका अनादरकर आज किस धनको पाकर उन्मत्त हो रहा है ? कुछ भी विचार नहीं करता ? रूपके नशेमें चूर हो रहा है, परन्तु सब रूपोंमें जिस एकका ही रूप प्रस्फुटित हो रहा है, जो सब प्रकारकी शोभा और सुन्दरताकी उत्तमोत्तम सीमा है, हाय ! इन नयनोंने उस रूपको देखनेके लिये कभी आग्रह नहीं किया !

धन चाहते हो ? असंख्य साम्राज्योंके धनभाण्डार जिसके चरण-नखोंकी मणिप्रभाके साथ भी समता नहीं कर सकते, जिन चरणकमलोंको ब्रह्मादि देवेन्द्रगण अपने हृदयोंमें धारण करते हैं, उन्हें छोड़कर और कौन-से धनकी आशा करते हो ? जो विनाश-शील है, चञ्चल है, उसके प्रचुर परिमाणमें मिल जानेपर भी क्या लाभ होगा ? वह महाविनाशसे तुम्हारी रक्षा करनेमें कभी समर्थ नहीं होगा। शिक्षा, दीक्षा, विद्या, अर्थ, आरोग्यता अथवा स्त्री-पुत्र, स्वजन-बान्धव आदि कोई भी उससे बड़ा नहीं है। ये सब उस एक ही प्रेममय परमात्माकी प्राप्तिके साधनरूप हैं। वह नहीं मिले, तो इन सबका मूल्य एक कौड़ीके बराबर भी नहीं है। यही नहीं, ये सब यदि उसकी प्राप्तिमें बाधक होते हैं, तो सर्पकी काटी हुई अँगुलीके समान इनके त्याग कर देनेमें जरा भी हिचकिचाना उचित नहीं। तुलसीदासजीने कहा है—

जाके प्रिय न राम बैदेही।
तजिये ताहि कोटि बैरीसम जद्यपि परम सनेही।

अब एक बार विचार करके देखिये कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली हमारा किस प्रकार सर्वनाश कर रही है। विना ही कारण

वाह्य वस्तुओंके लिये हमारे लोभकी मात्रा जितनी वढ़ी जा रही है, उतने ही परिमाणमें हम भगवान्‌को भी भूले जा रहे हैं। बुद्धिमान् पुरुष इस बातको सहज ही समझ सकेंगे कि देश और देश-वासियोंके लिये यह कदापि सौभाग्यके लक्षण नहीं हैं। अंगरेजी शिक्षाका ही यह परिणाम है कि हम अपने धर्म-विश्वासको खो बैठे हैं, एवं इसीलिये अमृतके बदलेमें जहर खरीदकर आज हम महामृत्युको आलिङ्गन करने जा रहे हैं। आज हम शिक्षित कहलानेवाले व्यक्ति परमार्थ-तत्त्वको और भगवान्‌को, देवताको और मन्त्रोंको संशयकी दृष्टिसे देखना सीख गये हैं। भगवान्‌पर अब उतने जोरसे विश्वास नहीं कर पाते, मानो उसके और हमारे बीचमें न जाने एक कैसा व्यवधान आ गया है। आज भगवान्‌को अनायास ही स्वीकार करनेका साहस हमारे हृदयमें नहीं है। उनके साथ हमारा खान-पानके समान ही जो एक सहज और सत्य सम्बन्ध था, वह मानो कहीं टूट गया है! उसे जोड़नेकी इच्छा होनेपर भी पहलेकी तरह उसे हम नहीं जोड़ पाते। यही कारण है कि आज हमारी हृदयवीणासे केवल बेसुरा सुर ही वज उठता है! हा! आर्य-ऋषियोंकी सन्तान! तुम्हारे पूर्व-पितामहोंने जिन प्रभुको प्रदीप्त सूर्यके समान अपनी-अपनी हृदयगुफामें देखा था, एवं इस विराट् ब्रह्माण्डको उन्हींकी महिमाका प्रकाश जान जो हाथ उठाकर सरल शिशुकी भाँति यह गा उठे थे कि 'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः

परस्तात्' जो गान आज भी भारतके आकाशमें, वायुमण्डलमें, अन्तरिक्षमें प्रतिध्वनित हो रहा है—और आज हम उन्हींके वंशज होकर अपने हृदयाकाशमें उस अमृतवाणीको नहीं सुन पाते ! यह क्या कम दुःखका विषय है ?

'संशयात्मा विनश्यति !' आज हम सब विषयोंमें सन्देहयुक्त होकर तो विनाशकी ओर अग्रसर नहीं हो रहे हैं ? संशयात्माके लिये न इहलोक है, न परलोक है और न कोई सुख ही है, इसीलिये क्या हम भी निरदुखी होकर दिन काट रहे हैं ?

जो भगवान्‌को नहीं मानता, वह मृत्युके अनन्तर लोक-लोकान्तरोंमें भी स्थिर होकर नहीं ठहर सकता । वह बवंडरमें पड़े हुए तिनकेके समान एक नरकसे दूसरे नरकको जाता है और कहीं भी सुख-शान्ति न पाकर अन्तमें काठ-पत्थरके रूपमें आविर्भूत होता है ! जीवके इस भयंकर परिणामको स्मरण करते ही भयसे सारा शरीर काँप उठता है !

हे हमारे प्रभु ! हे दीनानाथ भक्तवत्सल ! इस संशयरूपी महाविनाशसे जीवको बचाओ ! हे करुणानिधे ! तुम्हारी कृपा-वारिकी वृष्टिसे त्रितापतप्त जीवका हृदय-मरुस्थल एक बार फिर सिक्त और कुसुमित हो उठे, दयामय ! जिससे यह दुखी जीव फिर तुम्हें कभी अस्वीकार न करे !

मैं जिस किसी भी अवस्थामें रहूँ, तुम्हारे हाथकी कठपुतली बनकर तुम्हारे ही प्रेममय नामका स्मरण करता रहूँ ! प्रभो !

तुम्हारी कृपा विना कोई तुम्हारी इस प्रकारसे कैसे अभिलाषा कर सकता है ? नाथ ! न जाने मेरे और भी कितने जन्म होंगे, किन्तु तुम एक दिन मेरे हृदय-सिंहासनको प्रकाशितकर उसपर विराजोगे ही, तुम्हारे इसी सुदूर मिलनके समयका स्मरण करके आज इन अनेक कर्मपाशोंको और तज्जनित अनेक जन्म-जन्मान्तरोंको हाथसे ढकेलकर शेष कर डालनेकी इच्छा होती है। इस आर्त दीनको अपनी सेवाके योग्य बना लो ! तुम्हें प्राप्त करनेकी जो कुछ भी कीमत हो, उसे बलपूर्वक वसूल कर लो मेरे स्वामी ! केवल एक यही शक्ति दो कि जिससे उन सब परीक्षाओंके संकट-समयमें मैं तुम्हारे अभय चरण-युगलोंको कभी न भूलूँ। तुम हमारे प्रभु हो, हमारे सखा हो, और हमारे सर्वस्व हो—इस बातकी तो तुम्हींने गीतामें अपने श्रीमुखसे घोषणा कर दी है। मैं तुम्हारी इस घोषणाको कभी न भूलूँ एवं तुम भी अपने उन वचनोंको कभी भूल न जाओ मेरे प्रभु !

सच्चा आवाहन

वास्तविक प्रयोजन होनेपर केवल देशके लिये ही क्यों, किसी भी प्राप्त-कर्तव्यके आह्वानको स्वीकारकर अपनेको उसके प्रति समर्पण कर देनेके लिये तैयार रहना चाहिये। चित्तकी ऐसी अवस्था हो जानी चाहिये कि बाहरका कोई उत्साह या किसी प्रकारका बाह्य आन्दोलन न होनेपर भी मन सत्यके आह्वानको स्वीकार कर सके।

आवश्यक कर्तव्य प्राप्त होनेपर सुत-वित-प्रिय-परिजन।
देह गेह सब तत्सम्बन्धी ममताके सारे बन्धन॥
धर्म हेतु इन सबका क्षोभरहित हो, करना होगा त्याग।
मरण वरण करना होगा, निश्चिन्त अकेले सह-अनुराग॥

यही मनुष्यत्वका लक्ष्य है। इसी सिद्धिकी प्राप्तिके लिये सारे साधन हैं। सच्चा आह्वान आया है या नहीं एवं अन्तःकरणने उसका उत्तर दिया या नहीं, इसका निश्चित प्रमाण यही है कि चित्त किसी उत्तेजनाके वश होकर नहीं, किन्तु यथार्थ सत्यके आघातसे मृत्युको भी आलिङ्गन कर लेता है; पर इसके लिये न तो उसमें कोई क्षोभ उत्पन्न होता है, एवं न संसारका कोई भी बन्धन उसके मार्गमें रुकावट ही डाल सकता है। यह मिलनका-आनन्दका ऐसा महावेग होता है कि चारों ओरके अन्यान्य बन्धन, चाहे वे कितने ही दृढ़ हों, इस मिलनके प्रवाहकी गतिको नहीं रोक सकते। उस समय मुक्तिका मलयमारुत उसके चारों ओर मृदुल हिल्लोलमें प्रवाहित होने लगता है। इसीसे उसके प्राणकी सारी व्यथाओंका आत्यन्तिक अन्त हो जाता है। फिर वासनाका बन्धन नहीं रह जाता। इसलिये वह फिर किसीसे भी भय नहीं करता। उसे यदि इस आनन्दका स्वाद नहीं मिला होता तो उसकी गति समुद्रकी ओर प्रवाहित सरिताके समान सब दिशाओंको प्लावित-कर इस प्रकार नहीं फूट निकलती।

मातृभूमिके आह्वान आदिके ऊपर मेरा उतना अधिक विश्वास नहीं है। ये तो अधिकांशमें मनुष्यकी कल्पनाएँ हैं। इसीलिये हमलोग कभी-कभी दल बटोरकर इन कल्पनाओंके लिये अपने हृदयका जो आवेग प्रदर्शित करते हैं वह प्रायः सारा-का-सारा ही बाह्य होता है। मनुष्यके अपने अन्दर जब कभी आत्माका जो आह्वान जग उठता है, वही सत्य और स्वाभाविक है और उसीपर

मेरा विश्वास है। ऐसे आह्वानमें कल्पनाका या स्वार्थका मिश्रण नहीं होता। यह एकबारगी आत्माकी निखालिस पुकार होती है, जिसे सुनते ही सारी इन्द्रियाँ एक ही साथ उसे स्वीकार करनेको तैयार हो जाती हैं। मानव-समाजमें इस प्रकारके आत्माके आह्वानको जिस समय अधिक लोग सुन पाते हैं, तभी देशके अन्दर धर्म, नीति, तेज, सत्य, ज्ञान और भक्ति आदि सद्भाव जाग उठते हैं। किसी व्यक्तिविशेषमें भी जिस समय मनुष्यत्वकी प्राप्तिकी सच्ची उत्कण्ठा जाग उठती है, उस समय भाद्रमासकी भरी नदीके अनन्त सिन्धुकी ओर अभिसारकी भाँति आनन्दके प्रचण्ड कम्पनसे उसकी सारी इन्द्रियाँ व्याकुल हो उठती हैं, उस समय न तो वह लोगोंके मुखकी ओर देखकर कुछ करता है और न सैकड़ों विधि-निषेधकी बातोंकी ओर ही अपने कान लगाता है। वह तो सत्यकी पुकार सुन चुका है, एवं उसके हृदयने उसे स्वीकार कर लिया है। ऐसे मौकेपर इन्द्रियोंकी और विषय-सुखकी उत्तेजना नहीं होती, परन्तु आत्माकी अनन्त प्रेमारुण-किरणोंसे बुद्धिका अजस्र आनन्द प्रकम्पित होने लगता है। वहाँ शत्रु, मित्र, द्वेष्य या आत्मीय-स्वजनका स्मरण नहीं रहता, वहाँ तो केवल परमात्माके प्रेम-स्पर्शसे त्यागकी बाढ़ आ जाती है जो उसके सब किनारोंको बहा ले जाती है। यह पुकार एक दिन बुद्धदेवने सुनी थी, शङ्करने सुनी थी, ईसाने सुनी थी और सुनी थी चैतन्यने। इसीलिये वे अपनी आत्माके आह्वानमें स्वयं जग उठे थे और दूसरे लोगोंको भी जगा सके थे। अपने सर्वस्वको उसके चरणोंमें अर्पण कर अकिञ्चन बन जगत्में उन्होंने भिक्षु या परमहंस-पदवीको प्राप्त किया था।

जगद्गुरु भगवान् श्रीकृष्णसे हमने जो महामन्त्र प्राप्त किया है, उसमें स्वार्थ या निजेन्द्रिय-तृप्तिको स्थान नहीं है, अतः लौकिक उत्तेजनाकी भी आवश्यकता नहीं है। इन भावोंमें अपने हृदयको जो मनुष्य जितना तैयार कर सका है वह उतना ही प्रभुकी ओर अग्रसर हो गया है। यह साधना पूर्ण नहीं होनेपर भी कुछ अंशमें ठीक हो चली है, इसको परखनेकी कसौटी यही है कि अतीत, अनागत तथा उपस्थित किसी भी दुःखके भारसे उसका चित्त दुखी नहीं होता, एवं कोई भी भय या आशङ्का उसके मनमें स्थान नहीं पा सकती। असत्—मिथ्यासे ही तो भय और आशङ्काकी उत्पत्ति होती है। जिसने सत्यका मुख देख लिया है, वह 'आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कदाचन।' किसीसे क्यों डरेगा? वह जगत्के लाभालाभकी ओर क्यों दृष्टिपात करने लगा! वह तो उसके चरण-कमलोंमें अपने मन, प्राण और बुद्धिको समर्पणकर सभी अवस्थाओं-को सानन्द वरण करनेका सामर्थ्य पा चुका है। चित्तकी ऐसी अवस्था जबतक नहीं होती, तबतक साधन करो, तप करो, गुप्त-रूपसे अपनेको तैयार करते रहो और अपने अन्दर जो वेग दीख पड़ा है, उसे धारण करनेकी चेष्टा करो।

लोग कर रहे हैं, इसीसे हमें भी वही काम करना होगा—यह कोई अच्छी दलील नहीं है। यह तो केवल चित्तका आवेग या मनका विलासमात्र है। केवल इस मनके आवेगपर ही निर्भर कर कुछ भी कर बैठना न तो कर्तव्य है और न धर्म ही। जेल जाना या फाँसी लटक जाना ही तो जीवनका एकमात्र लक्ष्य नहीं है। जीवनका लक्ष्य तो वह (भगवान्) हैं—उनके लिये

हमें यदि फाँसीपर लटकना पड़े तो अवश्य लटकना चाहिये । मन-की इस प्रकारकी स्थितिकी ओर लक्ष्य रखकर ही जीवनके कर्तव्यों-का निरूपण करना उचित है । इसी लक्ष्यकी ओर दृष्टि रखकर चलते रहनेसे हृदयमें शुद्ध बुद्धिका आविर्भाव होता है एवं उस शुद्ध बुद्धिकी प्रेरणाके अनुसार कार्य करनेसे ही जीवन सार्थक होता है । केवल देशके लिये ही कष्ट सहनेसे उद्देश्य सफल नहीं होगा । संसारके अनन्त कर्तव्य-कर्मोंको जो अकुण्ठित चित्तसे किये चले जाते हैं एवं भगवान्‌की भक्ति करना सीखकर उनके चरणोंमें आत्मसमर्पण कर सकते हैं, उनमें देशानुभूति जाग्रत् न होनेपर भी कोई हानि नहीं । केवल देशके रूपमें ही भगवान्‌को देखनेकी अभिलाषा उनकी पूर्णरूपसे प्राप्तिकी अभिलाषा नहीं है । देशके कल्याणके लिये जो लोग अपार कष्ट भोग रहे हैं, वे निःसन्देह त्यागी और तपस्वी हैं, परन्तु उनसे बढ़कर श्रेष्ठ त्यागी वे हैं जो लोकदृष्टिसे दूर रहकर, मान और यशकी इच्छा न रख, लौकिक स्वार्थमूलक उत्तेजनाकी अपेक्षा न कर केवल कर्तव्य और धर्मबुद्धिसे एकमात्र वासुदेवके ही प्रीत्यर्थ संसारके अनन्त कर्तव्यों-का अतन्द्रित और संयत-चित्तसे साधन कर रहे हैं, उन्हींकी तपस्या और उन्हींका त्याग यथार्थ तपस्या और त्याग है ! एवं वह निश्चय ही उस महामहेश्वरके चरणप्रान्तमें जा पहुँचता है और भक्तके भगवान् भक्तकी इस त्यागाञ्जलिको बड़े आदरके साथ ग्रहण करते हैं । किन्तु जो देशप्रेम दूसरोंके प्रति हृदयको अत्याचारसे उत्तेजित करता है, मनुष्यको अनेक अशुभ कर्मोंमें लगाता है, केवल स्वदेशके कल्याणके लिये जगत्‌के जीवोंकी उपेक्षा या उनसे द्वेष

कराता है उस स्वदेश-प्रेमका मूल्य लोकदृष्टिमें कितना ही अधिक क्यों न हो, वह भगवत्-प्रेमके अन्तर्गत नहीं है, प्रत्युत विरुद्ध है। स्वदेश और स्वदेशवासियोंके प्रति होनेवाला प्रेम यदि विश्व-प्रेमका बाधक हो तो उसके भी विरुद्ध खड़ा होना पड़ेगा। यही धर्मका गूढ़ रहस्य है। जो स्वदेशप्रेम अन्धता और स्वार्थपरताका नामान्तरमात्र है उसके सेवनसे कदापि कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। जीवप्रेम, भगवद्भक्ति और सत्यकी उपासना—इन तीनों-पर लक्ष्य रखकर ही समस्त कर्तव्य-कर्म करने होंगे। इन तीन परम धर्मोंके पालन करनेमें यदि सर्वस्व नष्ट होता हो, प्राण जाते हों, स्त्री-पुत्र, स्वजन-बान्धव आदि सबका त्याग करना पड़ता हो तो उसे परम प्रसन्नतासे स्वीकार कर लेना चाहिये। इन तीनोंके सामने संसारमें और कुछ भी प्राप्त या वरण करने योग्य नहीं है।

पाश्चात्य सभ्यता और तदनुकूल शिक्षा-दीक्षाके फलस्वरूप पाश्चात्य देशवासी स्वदेश और स्वजनोंकी हितकामनाके नामपर जिस प्रकार अनुदार स्वार्थयुक्त कार्य करते हैं, एवं जिस प्रकार अन्याय और अधर्मको आश्रय देते हैं, वह उनका भ्रम है। हमें उस महाभ्रममें कभी नहीं फँसना चाहिये। इस प्रकारकी नीति आत्मदर्शनके अनुकूल नहीं है, अतएव उससे विश्वहित नहीं हो सकता और जिसमें विश्वहित नहीं, वह कदापि यथार्थ कल्याण नहीं है, वह वासुदेवकी वास्तविक पूजा कदापि नहीं समझी जा सकती!

चीर-हरणका रहस्य

कृष्णाय वासुदेवाय देवकीनन्दनाय च।
नन्दगोपकुमाराय गोविन्दाय नमो नमः॥
(श्रीमद्भा० १।८।२१)

नमस्ते वासुदेवाय नमः सङ्कर्षणाय च।
प्रद्युम्नायानिरुद्धाय तुभ्यं भगवते नमः॥

बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद्वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम्।
रन्ध्रान्वेणोरधरसुधया पूरयन्गोपवृन्दै-
र्वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद्गीतकीर्तिः॥
(श्रीमद्भा० १०।२१।५)

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा गोपियोंके चीर-हरणकी बात सुन-कर आधुनिक शिक्षित-समाज काँप उठता है। वास्तवमें यह विषय जिस रूपमें जनताके सामने आना चाहिये था उस रूपमें न आनेके कारण लोगोंके द्वारा विपरीत अर्थ लगाया जाना कोई

आश्चर्यकी बात नहीं है। जिस समय हमारे प्रतिपक्षी यह कहते हैं कि 'जब तुम्हारे धर्मसंस्थापकोंकी यह दशा है तब तुम्हारे धर्म और नीति-बलका तो सहज ही पता लग जाता है'—उस समय उन्हें समझाना कठिन हो जाता है। इसीसे आज भारतका शिक्षित-समुदाय अपने धर्म और आचरणोंके प्रति श्रद्धा खो रहा है। देशके शास्त्र और संतोंके प्रति आज बहुत-से शिक्षित भारत-वासियोंकी पहले-जैसी श्रद्धा नहीं रही है। अवश्य ही इसके लिये केवल उन्हींपर सारा दोष नहीं मँढ़ा जा सकता।

इस बातको देखकर मनमें बारंबार यह भाव उदय होता है कि हमारे यहाँ शास्त्रोंको गुरुमुखसे सुनने-समझनेकी व्यवस्था क्यों थी। सद्गुरुके सिवा अन्य किसीसे भी शास्त्रका अध्ययन करना महापाप है, इस बातका प्रचार क्यों किया गया था। और क्यों केवल किसी समुदायविशेषको ही शास्त्र-अध्ययनका अधिकारी समझा जाता था? इस सिद्धान्तकी जड़में जो एक सत्य छिपा हुआ है, आजकलकी स्थिति देखनेपर उसके समझनेमें कुछ भी देर नहीं लगती। अवश्य ही उस सत्यको आजकल हम मानना नहीं चाहते, इसीसे आज हम अपने विकृत मस्तिष्कके द्वारा किये हुए शास्त्रानुशीलनसे शास्त्रोंका गूढ़ार्थ समझ नहीं सकते। यही कारण है कि आज हम, वेद-पाठ करते-करते वेदोंके मेंढक गीतोंपर मोहित होनेवाले अपने पूर्वजोंकी सरलता, और सरस वर्षाके प्रकृति-सौन्दर्यसे मुग्ध बालककी भाँति उन लोगोंके सरल बालकोचित संगीत-रचनाके प्रयासको देखकर हँसते और बिना किसी संकोचके

वेदोंको बाबा आदमके समयके असभ्य मनुष्योंका प्रथम हृदयोच्छ्वास या 'गँड़रियोंके गीत' बतलाते हैं! सायण-भाष्य पढ़नेपर तो, वेदके वास्तविक रहस्यसे सायाह्नके अन्धकारकी तरह हमारा हृदय-देश और भी घन अन्धकारसे आच्छादित हो जाता है। जिस वेदवाणीकी युग-युगान्तरोंसे भारतीय आर्य-जातिका सर्वश्रेष्ठ रत्न समझकर पूजा होती थी, जिस वेदोक्त साधनके अवलम्बनसे ब्राह्मणोंकी ब्रह्मशक्ति स्फुरित हो उठती थी, आज समयके प्रभावसे हमारे हृदयसे क्रमशः उस वाणीका विलोप हो रहा है। ऐसी स्थितिमें श्रीमद्भागवत और पुराणोंकी विक्षिप्त और प्रक्षिप्त रचनाओंमें श्रीकृष्णके महान् चरित्रकी काव्य-उपन्यासोंके कल्पित प्रसंगोंसे तुलना किया जाना, कौन-से आश्चर्यकी बात है? हमारा यही एक दोष है कि हम पूरे शास्त्रको सामने रखकर विचार नहीं करते। शास्त्रके किसी एक ही श्लोकपर विचार करनेसे भ्रम होनेकी सम्भावना है। हम किसी जगहके सामान्य अंशविशेषको सुनकर शास्त्रके सम्बन्धमें जो कुछ धारणा कर लेते हैं वह अधिकांश भ्रमपूर्ण होती है। भ्रान्त सिद्धान्तके फलस्वरूप हृदयमें जो विकृत संस्कार जम जाते हैं, आगे चलकर सहसा उनका मिटाना कठिन हो जाता है।

जिन लोगोंने श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धको खूब मन लगाकर पढ़ा है, उनसे यह सत्य छिपा नहीं रह सकता। थोड़ी देरके लिये मान लीजिये, श्रीकृष्ण साक्षात् भगवान् नहीं थे। तो भी गोपियोंके वस्त्र-हरणके समय श्रीकृष्णकी उम्र दस वर्षसे अधिक

नहीं थी। व्रजमें श्रीकृष्णने निवास ही किया था केवल ग्यारह वर्ष-की उम्रतक। भागवतमें इसका प्रमाण है—

ततो नन्दव्रजमितः पित्रा कंसाद्विबिभ्यता।
एकादश समास्तत्र गूढार्चिः सबलोऽवसत्॥
(३।२।२६)

यह अवस्था साधारणतः कामोद्दीपनका समय नहीं है, अतएव व्रज-बालाओंके साथ श्रीकृष्णके किसी प्रकार अवैध प्रणयकी कल्पना भी करना सर्वथा युक्तिविरुद्ध है। युवतियोंके लिये भी किसी नौ-दस सालके बालकके प्रति कामभावसे आसक्त होना सर्वथा अस्वाभाविक है; खासकर, गाँव-गँवईकी स्त्रियोंके लिये, जहाँका वायुमण्डल अकाल-यौवनके सम्बन्धमें किसी प्रकार भी अनुकूल नहीं होता। इसलिये गोपियोंके वस्त्र-हरणको बाल-सुलभ चपलता समझकर भी उसकी उपेक्षा की जा सकती है। वे गोपियाँ भी, जिनके वस्त्र-हरण किये गये थे, उस समय अविवाहिता कुमारी लड़कियाँ थीं। वे कात्यायनी-व्रत करके देवीसे अपने लिये मनोनुकूल स्वामी प्राप्त करनेकी प्रार्थना कर रही थीं। आज-कल भी तो छोटी लड़कियाँ देव-देवियोंको पूजकर उनसे, 'राम-सा वर और लक्ष्मण-सा देवर' पानेके लिये प्रार्थना करती हैं। श्रीकृष्ण व्रजभूमिमें व्रजराज नन्दजीके इकलौते लड़के हैं। उनका शरीर सुन्दर, सुसंगठित और बलिष्ठ है। उनके नेत्रयुगलोंमें अलौकिक प्रतिभाका विकास है, मुखमण्डल अपार्थिव दिव्य ज्योतिसे जगमगा रहा है, मस्तकके घुँघराले काले बाल भ्रमरोंकी पंक्तियोंको लजाते

हुए अपूर्व शोभनश्रीसम्पन्न हैं। श्रीकृष्ण अलौकिक कर्मी, विलक्षण बुद्धिमान्, मधुरभाषी और सर्वप्रिय हैं। ऐसे सुप्रसिद्ध, रमणीय, सर्व-सद्गुणालंकृत बालकको अपने जीवनका चिर-सहचररूपमें प्राप्त करनेके लिये कौन बालिका देवतासे प्रार्थना नहीं करेगी? गोप-कुमारियोंने भी श्रीकृष्णको स्वामीरूपमें चाहा था। इसमें दोषकी कोई बात नहीं है। सुन्दर वस्तुको आग्रहके साथ सभी चाहते हैं, इस समय भी तो हमलोग सुन्दरके पक्षपाती हैं।

श्रीकृष्ण असाधारण धीशक्तिसम्पन्न थे। उनकी बुद्धि अत्यन्त तीक्ष्ण और उज्ज्वल थी। गोपियाँ व्रतधारिणी होकर भी जलमें नंगी नहा रही थीं। इससे देवताका अपमान होता था। जिस व्रतके लिये गोपियाँ इतना कष्ट सहती थीं, तनिक-सी अनभिज्ञताके कारण देवताका अपमान होनेसे उन्हें कदाचित् व्रतका फल नहीं मिलेगा, यह सोचकर बुद्धिमान् श्रीकृष्णने उनके वस्त्र हरणकर, थोड़ी देरके लिये उनको विपत्तिमें डालकर उचित शिक्षा दे दी, जिससे वे भविष्यमें सावधान रहें। भागवतमें श्रीकृष्णने स्पष्ट ही कहा है—

> यूयं विवस्त्रा यदपो धृतव्रता
>
> व्यगाहतैतत्तदु देवहेलनम्।
>
> बद्ध्वाञ्जलिं मूर्ध्न्यपनुत्तयेंऽहसः
>
> कृत्वा नमोऽधोवसनं प्रगृह्यताम्॥
>
> (१०।२२।१९)

'तुमलोगोंने व्रतके समय बिल्कुल नंगी होकर जलमें स्नान

किया, इस कर्मसे निश्चय ही देवताओंकी अवहेलना हुई है। अब इस पापको क्षमा करानेके लिये माथेपर अञ्जलि बाँधकर झुककर प्रणाम करो और फिर अपने-अपने वस्त्र ग्रहण करो।' सब कपड़े उतारकर नहानेकी चाल कहीं-कहीं प्रचलित है। आजकल भी पंजाब आदि प्रान्तोंमें इस प्रथाका अस्तित्व है। यह प्रथा बहुत ही आपत्तिजनक थी, इस बातको अपनी सुतीक्ष्ण प्रतिभाके द्वारा श्रीकृष्ण समझ गये थे। कौन कह सकता है, देशसे इस कुप्रथाको उठा देनेकी ओर श्रीकृष्णका लक्ष्य नहीं था? नौ-दस वर्षके बच्चेमें इतनी दूरदर्शिताका रहना शायद कई लोगोंको कुछ असम्भव-सा प्रतीत होगा। परन्तु यह स्मरण रखना चाहिये कि प्रतिभाके सामने कुछ भी असम्भव नहीं है। साधारण लोगोंकी बुद्धिमें जिस बातकी धारणा नहीं हो सकती और जिसको वे समझ ही नहीं पाते, ऐसी विलक्षण बात जिन पुरुषोंकी बुद्धिमें प्रकाशित होती है उन्हीं सब लोकोत्तर मनीषियोंको हमलोग महापुरुष, ईश्वरप्रेरित पुरुष या आप्तकाम ऋषियोंकी श्रेणीमें गिनते हैं। सम्राट् अकबरने चौदह-पन्द्रह सालकी उम्रमें ही भारतीय राजनीतिके गम्भीर तत्त्वोंको बिना ही विशेष कठिनताके समझ लिया था। असाधारण प्रतिभासे ऐसा ही होता है। फिर अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न श्रीकृष्ण लड़कपनसे ही भारतके तत्कालीन सामाजिक आचार-व्यवहार और रीति-धर्मकी स्थिति समझकर उसमें सुधार करनेकी चेष्टा करें, इसमें तो कुछ भी आश्चर्यकी बात नहीं है। इस विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि प्रथम तो इतनी छोटी उम्रके बालकमें इन्द्रिय-जन्य कामकी उद्दीपना ही नहीं हो सकती। दूसरे यह भी सम्भव

है कि श्रीकृष्णने सम्भवतः समाजकी एक कुप्रथाके विनाशके लिये ही यह कार्य किया हो, दोनों ही बातें युक्तिसंगत और सिद्ध हैं।

यहाँतक तो हुई बाहरकी बात। परन्तु जो लोग श्रीकृष्णको पूर्णब्रह्म मानते हैं, मनुष्यरूपमें अवतीर्ण साक्षात् भगवान् समझते हैं, उनके लिये तो एक दूसरा ही विचारणीय विषय है। श्रीकृष्ण मायासे मनुष्यदेह धारण करनेपर भी देहकी मायासे बँधे नहीं हैं। उनका ज्ञान परिपूर्ण है। किसी दिन किसी प्रकारसे भी उनके ज्ञानमें न तो बाधा आयी और न आ ही सकती है। नारदादि ऋषिगण, उद्धवादि भक्तगण और व्यासादि दिव्यदृष्टिसम्पन्न ज्ञानी पुरुष मनुष्यरूपमें देखते ही उनको पहचान गये थे। उन्होंने भी तो भू-भार हरण करनेके लिये अवतार लिया था। इसीसे पग-पगपर ब्रजवासी लोग बड़े विस्मयके साथ इन असाधारण महापुरुषके कार्योंकी चर्चा किया करते थे। उनके बाल्यकालसे ही आश्चर्यजनक कार्य देखते रहनेसे उनकी असाधारणताके सम्बन्धमें ब्रजवासियोंको प्रायः कोई सन्देह नहीं रह गया था। अनेक मनुष्य उन्हें मनुष्य-रूपमें देवता कहा करते थे; और कोई-कोई भाग्यवान् तो उन्हें साक्षात् भगवान् ही समझते थे। जिस समय श्रीकृष्ण गोप-बालकोंके साथ नन्दकी गौओंकी रखवाली करते हुए वन-वनमें घूमते-फिरते थे, उस समय भी ग्वाल-बाल उनकी अमानुषिक शक्तिको देखकर दंग रह गये थे। किन्तु उन्हें सबसे अधिक आकर्षित किया था श्रीकृष्णके खुले व्यवहारने, सखाजनोंके साथ उनके सच्चे प्रेमने तथा उनके सुन्दर भोले-भाले मुखड़ेने!

गोपबालाओंने भी, इस सरलतासे हो अथवा अपने पूर्वजन्मोंके पुण्यबलसे प्राप्त हुई निर्मल अन्तःकरणकी स्वतःसिद्ध अनुभूतिके द्वारा हो उन्हें साक्षात् पूर्णब्रह्म ही समझ लिया था। एकमात्र यही जगत्के आश्रयस्थान हैं और यही जीवमात्रकी परमगति तथा परम सुहृद् हैं, यह बात उनके हृदयमें भलीभाँति पैठ गयी थी। तभी तो उन सबने पूरे अन्तःकरणसे उनके साथ प्रेम किया और फिर प्रेमाकुल होकर अपना तन-मन-धन सब कुछ उनके चरण-कमलों-पर निछावर कर दिया। भक्त भगवान्‌को विविध भावों और नाना नातों-रिश्तोंसे समझने-बूझने और देखनेकी चेष्टा करता है। कोई उन्हें माता, कोई पिता, कोई पुत्र, कोई गुरु, कोई भाई-बन्धु-सखा और कोई प्रियतम पतिके रूपमें मानता है। गोपियोंने उन्हें प्रियतमके रूपमें ही चाहा था। किन्तु जो कहते हैं कि उन लोगोंको भगवद्‌बुद्धि कभी नहीं थी—जारबुद्धि, पापबुद्धि ही थी वे भीषण भूल करते हैं। मैं ऐसे लोगोंसे केवल यह प्रार्थना करता हूँ कि वे श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धको एक बार अच्छी तरह पढ़ जायँ। उसीसे कुछ श्लोक यहाँ भी उद्धृत किये जाते हैं—

'धन्या अहो अमी आल्यो गोविन्दाङ्घ्र्यब्जरेणवः।
यान्ब्रह्मेशो रमा देवी दधुर्मूर्ध्न्यघनुत्तये॥
(श्रीमद्भा० १०।३०।२९)

'गोविन्दकी पद-रज अति पवित्र है। शिव, ब्रह्मा और लक्ष्मीजी, ये सभी पाप-प्रक्षालनार्थ उसे अपने मस्तकपर धारण करते हैं। अतः, आओ, हम भी इस पुण्यप्रदा चरणधूलिमें स्नान करें।' गोपियाँ कहती हैं—

न खलु गोपिकानन्दनो भवा-
नखिलदेहिनामन्तरात्मदृक् ।
विखनसार्थितो विश्वगुप्तये
सख उदेयिवान्सात्वतां कुले ॥
विरचिताभयं वृष्णिधुर्य ते
चरणमीयुषां संसृतेर्भयात् ।
करसरोरुहं कान्त कामदं
शिरसि धेहि नः श्रीकरग्रहम् ॥
व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां
निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो
जलरुहाननं चारु दर्शय ॥

(श्रीमद्भा० १० । ३१ । ४—६)

'तुम यशोदानन्दन नहीं हो, तुम प्राणिमात्रकी बुद्धिके साक्षी हो। तुम ब्रह्माकी प्रार्थनासे जगत्‌की रक्षाके लिये यदुकुलमें अवतरित हुए हो। हम सब तुम्हारी भक्त हैं, इसलिये हमारी प्रार्थना पूर्ण करो। हे यदुकुलधुरन्धर ! जो लोग संसारके भयसे तुम्हारे चरणोंमें आकर शरण लेते हैं, तुम्हारे कर-कमल उन्हें अभय-दान देकर उनकी अभिलाषा पूरी करते हैं। ये तुम्हारे कर-कमल कमलाका कर ग्रहण कर चुके हैं, अब तुम इस कर-सरोजको जरा हमारे मस्तकोंपर भी रख दो।' कैसा सरल और सुन्दर अनुराग है। पापबुद्धिमें ऐसा अनुराग कदापि नहीं हो सकता; कदाचित् हो

भी तो वह स्थायी कभी नहीं हो सकता* । जहाँ केवल शरीरका ही सम्बन्ध है वहाँ विशुद्ध प्रेम नहीं हो सकता । हृदय विशुद्ध न होनेसे ज्ञानका उदय नहीं होता ।

ज्ञानं तत्त्वविचारेण निष्कामेणापि कर्मणा ।
जायते क्षीणतमसां विदुषां निर्मलात्मनाम् ॥

'तत्त्वविचार और निष्काम कर्म करनेसे जिनके अज्ञानान्धकारका नाश और चित्त शुद्ध हो गया है उन विद्वानोंको ही ज्ञान होता है ।' अज्ञानीका प्रेम वास्तवमें प्रेम नहीं है, बल्कि वह

---

* भागवतमें देखते हैं कि गोपियोंके औपपत्य-दोषने राजा परीक्षितको भी सन्देहमें डाल दिया था । सन्देह होना सम्भव भी है । खैर, यह एक स्वतन्त्र भावराज्यका विषय है जिसके लिये यह स्थान नहीं है । हाँ, एक बात कहनेकी है कि ब्राह्मणोंकी स्त्रियाँ भी गोपियोंकी ही भाँति श्रीकृष्णसे प्रेम करती थीं; पर उनके पति ब्राह्मण लोगोंने, जो तत्त्वदर्शी पण्डित थे, अपनी स्त्रियोंके इस प्रकारके आचरणको अन्ततक कभी अनुचित नहीं समझा; प्रत्युत उन्होंने अपने व्यवहारसे दुखी होकर अपनी निन्दा और अपनी स्त्रियोंकी ही प्रशंसा की । जैसे—

दृष्ट्वा स्त्रीणां भगवति कृष्णे भक्तिमलौकिकीम् ।
आत्मानं च तया हीनमनुतप्ता व्यगर्हयन् ॥
अहो पश्यत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान्गृहाभिधान् ॥
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि ।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न क्रियाः शुभाः ॥
अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे ।
भक्तिर्दृढा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि ॥

(श्रीमद्भा० १० । २३ । ३९, ४२—४४) ।

उसकी केवल कामान्धता है। एक मनुष्यमें गुण तो सदा रह भी सकते हैं; पर रूप सदा नहीं रहता। इसलिये रूपके मोहमें पड़कर जो लोग प्रेम करते हैं, रूपका अन्त होते ही उनके प्रेमका भी अन्त हो जाता है। किन्तु इस देह-तटपर जिस अनूप-रूपकी लहर आ लगी है उस अरूप-सागरकी रूप-तरंगको जो लोग देख सकते हैं उनके लिये उस रूपका अन्त कभी नहीं होता। वह अनन्त नूतन और अनन्त यौवन है। इसलिये वहाँ सदा ही अनन्त उपभोग है। वहाँ मन-प्राणको किसी प्रकारकी क्लान्तिका भोग नहीं करना पड़ता।

बहुधा ऐसा देखनेमें आता है कि जिस वस्तुको हम पा लेते हैं अथवा इच्छा करते ही पा सकते हैं, उसके प्रति हमारा कुछ वैसा अनुराग नहीं रहता; किन्तु जिस वस्तुको हम पाकर भी पूरे तौरसे नहीं पाते, जिसे लेकर भी पूरे तौरसे लेना नहीं हो सकता—'नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च' जिनके श्री, अंग, रूपका काल इत्यादिके द्वारा भी विध्वंस नहीं हो सकता, जिनके अन्दर सौन्दर्य नित्य नये रूपमें प्रस्फुटित होता है, जिनके माधुर्य-रसकी कोई सीमा नहीं बाँधी जा सकती, उन अग्राह्य, अरूप, अपूर्व, रूपवान्, चिरशुकुमार और चिरयौवनसम्पन्न चिन्मय पुरुषको सदा पाकर भी सदा पाते रहनेकी ही इच्छा होती है। किसी सरोवरमें कमल विकसित हुआ देखकर या किसी वाटिकामें गुलाबका फूल खिला देखकर एक अबोध और विचारहीन बालकके दिलमें भी उसे पानेकी इच्छा हुए बिना नहीं रहती।

जिन लोगोंकी अक्ल बिल्कुल मोटी है या जिनका चित्त विषय-भोगोंमें जकड़ा हुआ है, वे लोग यद्यपि ठीक प्रकारसे सूक्ष्म सौन्दर्यको नहीं समझ सकते; तथापि सामने खिले हुए फूलके सौन्दर्य और सौरभ उनके भी हृदयमें कैसी अपूर्व माधुरी डाल देते हैं, मानो उनकी किसी सुप्त चेतनाको जागृत कर देते हैं, मानो किसी भूली हुई दिलकी बातको याद दिला देते हैं। जब प्रकृतिके ऐश्वर्यमें ही इतना आकर्षण है तब जो इस विश्व-प्रकृतिके अधीश्वर हैं, समस्त सौन्दर्य-माधुर्यके नित्य नवीन निर्झर हैं और जिनको देखकर पशु-पक्षियोंतकको आनन्द होता है, उनको देखकर मानवहृदया गोपिकाओंका भी उनके रूपपर उन्मादिनी हो जाना बिल्कुल स्वाभाविक था। इसीलिये भक्त रोकर पुकारता है—

> आँखें तरस रहीं मुखड़ेको, गुणचिंतनमें चित्त विभोर।
> रोता है प्रत्येक अंग, प्रत्येक अंगके लिये किशोर !॥

उनका नाम और रूप इस विषय-विलासी चित्तको अपनी ओर ऐसे प्रबल वेगसे खींच लेता है कि फिर 'मैं कौन हूँ' यह बात भी मानो भूल-सी जाती है—

> 'श्याम' शब्दका तीक्ष्ण यह किसने मारा बाण।
> मर्म-स्थलको बेधकर व्याकुल कीन्हें प्राण॥

वाह ! कैसी तन्मयता है ! इस अवस्थामें क्या जातिकुल-मानकी बात ध्यानमें रह सकती है ?

एक बात और है। जो समस्त जीवोंमें 'एको वशी सर्वभूता-न्तरात्मा' हैं, जो हमारी माताओंमें माता, पिताओंमें पिता और

पतियोंमें पतिरूपमें हैं, जो समस्त देहोंमें एक सच्चे देही हैं, उनसे यदि कोई प्रेम करे तो इसमें नैतिक दृष्टिसे या आध्यात्मिक दृष्टिसे—किसी प्रकारसे कोई दोष नहीं है। हम सभी तो वही करते हैं। सभी भगवान्‌को सुहृद्, पति, प्रभु, ईश्वरके रूपमें मानते हैं; और रोज उनकी पूजा करके उनके चरणोंमें आत्म-निवेदन करते हैं। तब फिर गोपबालाओंसे जो उन्हें तन, मन, धनसे आत्मसमर्पण कर चुकी थीं, यह जघन्य कार्य कैसे हो गया? जो काम हमारे लिये उचित है वह उनके लिये अनुचित कैसे है? इसलिये गोपियोंने यदि अपने पतियोंकी भी उपेक्षा करके भगवान्‌का भजन-पूजन किया, तो इसमें कुछ भी दोष नहीं हुआ, और वे अपने पतियोंके निकट भी अविश्वासिनी नहीं हुई। अपने पतिको छोड़-कर दूसरे पुरुषसे प्रेम करना निश्चय ही व्यभिचार है। पर गोपिका-ओंका प्रेम उस प्रकारका नहीं था। यह तो धन-जन, घर-द्वार, स्वजन-बान्धव, पति-पुत्र और मान-मर्यादा सभीको छोड़कर एक-मात्र उनसे प्रेम करना था। इस प्रकारका प्रेम क्या साधारण प्रेम है? वह भुवनजनमनमोहन श्रीकृष्ण तो परमात्मा हैं, सभीके अन्दर नाना रूपोंमें विराजमान हैं। वह पतिके अन्दर भी हैं, और वही तो वास्तविक पति हैं।

गोपीनां तत्पतीनाञ्च सर्वेषामेव देहिनाम्।
योऽन्तश्चरति सोऽध्यक्षः क्रीडनेनेह देहभाक्॥
(श्रीमद्भा० १०। ३३। ३६)

कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्।
जगद्धिताय सोऽप्यत्र देहीवाभाति मायया॥
(श्रीमद्भा० १०। १४। ५५)

यह वात भूलनेसे कैसे काम चलेगा कि वे ही एकमात्र समस्त यज्ञोंके भोक्ता और प्रभु हैं।

सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।

गोपिकाएँ उन्हें साक्षात् भगवान् समझती थीं। उन्होंने कोरे रूपपर ही मुग्ध होकर और परपुरुष समझकर उनका भजन नहीं किया था। उन्होंने तो उन्हें जीवनका सर्वस्व धन और परम पति समझकर उनके चरण-सरोजोंमें आत्मसमर्पण कर दिया था। वे कहती थीं—

का स्त्र्यङ्ग ते कलपदायतवेणुगीत-
संमोहितार्यचरितान्न चलेत्त्रिलोक्याम्।
त्रैलोक्यसौभगमिदं च निरीक्ष्य रूपं
यद्गोद्विजद्रुममृगाः पुलकान्यबिभ्रन्॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। ४०)

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥
प्रहसितं प्रिय प्रेमवीक्षणं
विहरणञ्च ते ध्यानमङ्गलम्।
रहसि संविदो या हृदिस्पृशः
कुहक नो मनः क्षोभयन्ति हि॥
(श्रीमद्भा० १०। ३१। ९, १०)

हे कृष्ण ! तुम्हारे त्रिभुवनसुन्दर और विश्वप्रिय रूपका दर्शनकर और मधुर पदावलीसे युक्त, मूर्च्छित कर देनेवाले वेणुसंगीतको सुनकर ऐसी कौन-सी स्त्री है जो आर्यधर्म—स्वधर्मसे विचलित न हो जाय ? गो इत्यादि पशु-पक्षी-लतातक तो इससे पुलकित हो उठे हैं ! हे प्यारे ! तुम्हारा कथामृत (तुम्हारे वियोगजनित तापसे) तप्त जीवोंके लिये जीवनस्वरूप है । ब्रह्मवेत्ता कविगण इसकी स्तुति करते हैं, यह समस्त पापका विनाश करता है और इसे सुननेसे मंगल होता है; यह शान्त है । जो विस्तृतरूपसे इसका उच्चारण करते हैं वे ही संसारको महादान करनेवाले पुरुष हैं । हे प्यारे ! हे कपट ! तुम्हारा हास्य, तुम्हारा सप्रेम दर्शन, ध्यानमें मंगलप्रद विहार और निर्जन स्थानमें हृदयस्पर्शी प्रेम-सम्भाषण ये सब हमारे चित्तको क्षुभित करते हैं ।

और एक बात गोपिकाओंके सम्बन्धमें कहनेकी है । अपने आपको सभी प्रेम करते हैं *। आत्मासे अधिक प्रिय इस संसारमें कुछ भी नहीं है ।

सर्वेषामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः ।
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि ॥
(श्रीमद्भा० १० । १४ । ५०)

---

* बृहदारण्यकमें आया है—

'न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति । न वा अरे जायायै कामाय जाया प्रिया भवत्यात्मनस्तु कामाय जाया प्रिया भवति । न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्त्यात्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति । न वा अरे वित्तस्य कामाय वित्तं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय वित्तं प्रियं भवति', इत्यादि ।

फिर श्रीकृष्ण तो साक्षात् परमात्मा हैं! आत्माके भी आत्मा हैं। उन्हें मनुष्यरूपमें देखनेसे तो काम चलेगा नहीं। उन्होंने स्वयं ही कहा है—

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्॥

(गीता ९।११)

वह जब परमात्मा हैं तब तो वह सब जीवोंके अत्यन्त ही प्यारे हैं। इसलिये गोपियोंका सबसे अधिक कृष्णानुगामिनी बनना भी बिल्कुल स्वाभाविक ही हुआ। इससे तो उनका वरणीय चरित्र और भी अधिक आदर्श बन गया है।

वस्त्रहरणके अन्दर एक अपूर्व रहस्य छिपा हुआ है, यहाँ वस्त्रहरणके उसी आध्यात्मिक सौन्दर्यको समझनेकी चेष्टा की जाती है।

जो मनुष्य पशु-प्रकृतिवाले, जघन्य और इन्द्रियासक्त हैं उन्हें अपनी स्त्रियोंको वस्त्ररहित नग्नरूपमें देखकर आनन्द हो तो हो भी सकता है; पर जो लोक-शिक्षक, जगद्गुरु, पूर्णावतार और आप्तकाम हैं उन्हें भला इससे क्या आनन्द होगा? वह तो 'रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च' यानी प्रतिरूपका प्रतिरूप धारण किये हुए है और बाहर भी विद्यमान हैं। जो सबके भीतर-बाहर विराजमान हैं उनके लिये भला इस कौतुककी आवश्यकता ही क्या थी? किन्तु भागवतके इस श्लोकको पढ़कर मालूम होता है कि गोपबालाओंको नग्नवेषमें देखकर उनकी कुछ तृप्ति हुई होगी—

भवत्यो यदि मे दास्यो मयोक्तं वा करिष्यथ।
अत्रागत्य स्ववासांसि प्रतीच्छन्तु शुचिस्मिताः॥
(श्रीमद्भा० १०। २२। १६)

भगवान् कहते हैं कि, 'हे सुहासिनियो! यदि तुम मेरी दासी होओ और मेरी आज्ञाका पालन करो तो मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ कि तुम यहाँ आकर अपने-अपने वस्त्र ले लो।' इन शब्दोंको श्रद्धाकी दृष्टिसे न देखकर यदि केवल बाह्य दृष्टिसे देखा जाय तब तो यह कुछ और ही तरहके लगते हैं। हम देहात्मबुद्धि बद्ध-जीव हैं, हमारे मनमें तो देहकी बात ही आती है; हम भूल ही जाते हैं कि श्रीकृष्णभगवान्, सब लोगोंके हृदयवल्लभ घटघटवासी परमात्मा हैं। हम जैसे स्वयं अपने सामने लज्जित नहीं होते, वैसे ही जो सबके शरीरोंमें हैं उन्हें इससे क्यों संकोच होने लगा? उन्हें इससे आनन्द हुआ था, यह बात ठीक है; पर यह समझ लेना चाहिये कि वह आनन्द सम्पूर्ण आध्यात्मिक आनन्द था, उसमें इन्द्रियजनित आनन्दकी गन्धतक नहीं थी। श्रीकृष्ण तो हमारी तरहसे इन्द्रियविलासी नहीं थे, वे हृषीकेश थे और इसलिये उनके उक्त आदेशका गम्भीर मर्म अच्छी तरहसे समझ-बूझकर देखना होगा। इसीलिये वस्त्रहरणके गम्भीर सत्यका आभासमात्र देनेकी यहाँ चेष्टा की जाती है। भगवान् श्रीकृष्णकी वृन्दावन-लीला इस पार्थिव राज्यकी घटना नहीं है, वह परम पुरुषकी नित्य-लीला है। उसे स्थूलभावसे देखनेसे स्थूल शरीर और उसके भोगकी बात ही मनमें आयगी। तभी तो इस लीलाकी बात सब जगह प्रकट करनेकी नहीं है; क्योंकि वह सबकी बुद्धिसे समझी

जानेकी चीज नहीं है। गुरुकृपा और साधनाके बलसे जिनकी दोषदृष्टि चली गयी है, स्थूल देहादिसे जो अभिमानशून्य हो गये हैं, जिनका हृद्रोग विनष्टप्राय हो चुका है, उन्हें ही यह लीला सुननेका अधिकार है। पूज्यपाद गोस्वामी जयदेवजी कहते हैं—

> यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
> यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
> मधुरकोमलकान्तपदावलीं
> शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥

किसी वस्तु या कार्यके लिये किसका कहाँतक अधिकार है, इस बातका कोई विचार न करके अथवा इस अधिकार-तत्त्वकी अवहेलना करके जो लोग भगवान् श्रीकृष्णके लीलारसका आस्वादन करनेके लिये प्रस्तुत हैं, उन्हें यह अमृत नहीं प्राप्त होगा; यही नहीं, वे लोग विष-भक्षणसे जर्जरित होकर अपना इहकाल और परकाल दोनों विनष्ट करेंगे!

हमारा मन रज-तममयी वासनाओंसे विक्षोभित तथा निद्रा-लस्यके वशीभूत होनेके कारण जब अपने आपको नहीं समझ पाता है तो पागलकी तरहसे एक विषयसे दूसरे विषयकी ओर दौड़ा करता है। वह संसारके मोहसे विमुग्ध होकर केवल स्त्री-पुत्र-परिजन आदिकी ही चिन्तासे व्याकुल रहता है; वह सदा जन्म-मृत्यु, जरा-व्याधिकी प्रचण्ड ज्वालासे जलता रहता है; और आश्चर्य यह है कि फिर भी वह जो इस विचित्र विश्वलीलाके प्रवर्तक और अधिनायक हैं, उनके चरणोंकी शरण नहीं लेता। कैसा मोह है?

पग-पगपर विफलमनोरथ होकर रोता है; पर तो भी उसकी विषया-सक्तिका ह्रास नहीं होता। कैसी दारुण विषय-तृष्णा है? आमतौर-से सभी लोगोंका यही हाल है। पुनः यही मनुष्य जब अचिन्त्य भाग्यफलसे तत्त्वानुसन्धानमें प्रवृत्त होता है, निरन्तर दुःख-सन्ताप भोग करते-करते जब उसकी भीषण ज्वालासे छुटकारा पानेके लिये व्याकुल हो उठता है, तब इन सब विषयादिसे परे किसी एक शाश्वत स्थानकी ओर उसके प्राण दौड़ जाना चाहते हैं, निरन्तर दुःख-सन्तापकी अग्निमें जलते-जलते एक शान्तिमय स्थानमें पहुँचने-के लिये स्वभावतः ही वह छटपटाने लगता है। मृत्युकी दारुण, दुःखद अवस्थाका स्मरण करके अमृत-लाभके निमित्त जीवके प्राणमें स्वतः ही व्याकुलता जाग उठती है। तब वह रोकर कहता है—'समस्त दुःखोंके मोचन करनेवाले और सर्व आनन्दोंके धाम हे भगवन्! तुम कहाँ हो? आओ, मेरा उद्धार करो।' इस प्रकार व्याकुलतापूर्वक पुकारते-पुकारते उसे क्रमशः श्रद्धादि सम्पदाएँ प्राप्त होती हैं, और उसके बाद भगवत्प्रेरणासे उसे साधु-महात्माओं-के दर्शन होते हैं। तब उनके उपदेशोंसे उसके मनका भ्रम दूर हो जाता है, नित्य वस्तुको प्राप्त करनेके लिये प्राणोंमें आकांक्षा जागृत हो उठती है; और साधु-महात्माओंके बतलाये हुए मार्गपर धीरे-धीरे चलते-चलते वह भगवद्दर्शनद्वारा मायापाश काटनेकी सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। किन्तु जिस संसारमें वह इतने दिन तल्लीन रह चुका है; उसके मोहकी सीमा और आकर्षणको पार कर जाना पहले-पहले इतना सरल नहीं प्रतीत होता। कारण, पूर्वाभ्यस्त विषयोंकी चिन्ता एकदम ही नहीं छूटती। उनकी कोई

चाह न होनेपर भी वे बार-बार विक्षेप उत्पन्नकर चित्तको व्याकुल करते हैं।

किन्तु निरन्तर भगवान्‌का स्मरण-कीर्तन, श्रवण-मनन, निदिध्यासन और उनके चरणोंमें नमस्कार करते-करते चित्त सरस और सरल बन जाता है एवं इस प्रकार मनमें सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है। तब फिर ज्ञानका उदय और प्रेमका सञ्चार होने लगता है एवं धीरे-धीरे मायाका परदा भी हटने लगता है।

इस प्रकार भक्त-साधक जब भगवान्‌के बहुत निकट पहुँच जाते हैं और उसको नितान्त अन्तरङ्गरूपसे पहचान सकते हैं, तब एक अज्ञात देशसे आनन्दकी सुशीतल वायु प्रवाहित होती है, मानो कोई आनन्द-रस-सिन्धुके जाननेके लिये चित्तको उन्मुख कर देता है। इस प्रकार साधकका चित्त सीमाको त्यागकर असीममें आकर प्रविष्ट होता है, तब भगवान् स्वयं ही पधारकर केवट बन जाते हैं। तब चैत्यगुरुके आविर्भावसे भक्त-साधकका हृदय निर्मल, शुद्ध, ज्ञान और प्रेमपूर्ण हो उठता है। फिर कहीं अपूर्णता नहीं रहती, सभीके अन्दर उनके दर्शन होने लगते हैं। सब प्रकारके अभावोंका लोप हो जाता है और हृदयकी धुकधुकी मिट जाती है। तब साधकके चित्तको विशुद्ध आनन्द और ज्ञान परिवेष्टित कर देते हैं एवं उसको परमानन्द ब्रह्मानन्दका अधिकारी बना डालते हैं।

गोपिकाएँ ऐसी ही ब्रह्मान्वेषणकारिणी भक्त-साधिका हैं। अनेक जन्मोंकी सुकृतिके फलस्वरूप उनको 'परमात्मा श्रीकृष्ण'

चैत्यगुरुके रूपमें प्राप्त हुए हैं। अनेक जन्मोंसे यही (परमात्माके संग-लाभकी) कामना उनके हृदयमें जग रही थी। इस बार उनकी साधना सिद्धि-लाभके समीप आ पहुँची है। अवश्य ही उनका मन स्वच्छ और निर्मल हो गया है। तब क्या आज उनके मायाके सब बन्धन टूट गये हैं? मनके किसी कोनेमें, किसी छोटे कोनेमें ज़रा-सा भी अभिमानका कूड़ा एवं अहंबुद्धि तो नहीं रह गयी है? हाँ, कुछ रह गयी है, उसीके दूर करनेके लिये तो भगवान्‌की यह अद्भुत लीला है। सत्यव्रत और शुद्ध-सत्त्व हुए बिना कोई उनको पा नहीं सकता। क्योंकि वह तो सत्य-स्वरूप हैं, सत्य और तपस्याके द्वारा ही प्राप्त होते हैं। 'सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा।' ज़रा-सा भी असत्य रह जायगा, तो वे नहीं मिलेंगे। हे सत्यस्वरूप! तुमको नमस्कार है। हमारे प्राणोंमें तुम अपनी सत्यमूर्तिका प्रकाश करो! हे परम सत्य! तुम्हारी कृपा बिना इस असत्यसे कौन हमारी रक्षा करेगा? 'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

गोपियोंके गुरु, परम सखा श्रीकृष्ण उन्हें कृतार्थ करनेके लिये बार-बार बाँसुरी बजाने लगे। अनन्तकालसे वह वंसरी बजाकर चिद्विमुख जीवको अपनी ओर बुला रहे हैं; पर जीव उनकी पुकारको सुनकर भी नहीं सुनता। वह अपने अहंभावमें ही चूर है और इस कारण, वह उनकी ओरसे जो उसके लिये परम वाञ्छित हैं, मुँह मोड़कर चुपचाप पत्थर बना बैठा है। परन्तु जो कोई एक बार मन लगाकर वंशीकी वह धुनि सुन ले तो फिर समझ लो कि उसका भाग्य खुल गया। वह कलित वंशीध्वनि उसके कानोंसे होकर तुरन्त

अन्तस्तलतक पहुँच जाती है और फिर उसके लिये, संसारकी ओर मुख फेरनेका कोई साधन ही नहीं रह जाता। इस बाँसुरीकी पुकारसे मन-प्राण भर जाते हैं, चित्तसे विषय-वासनाएँ विलुप्त हो जाती हैं। उस अपूर्व बंसरी बजानेवालेके पास जानेके लिये उसके चारुचरणोंमें धन-मान, जीवन-यौवन सब कुछ लुटा देनेके लिये प्रबल इच्छा हो उठती है। जिसका भाग्योदय होता है वही उनकी बाँसुरीकी तान सुन पाता है। योगी लोग अपनी हृदय-गुहामें एक मधुर ध्वनि सुनते हैं; उस ध्वनिको प्रणवध्वनि कहते हैं। इसीको वे लोग श्रीकृष्णकी वंशीध्वनि बतलाते हैं। वह ध्वनि जब सुनायी पड़ती है तब चित्तकी बहिर्मुख-वृत्ति रुक जाती है। वह ध्वनि अव्यक्तसे उठती है और अव्यक्तमें ही लय हो जाती है एवं उसके लयके साथ-साथ मन भी अव्यक्तमें प्रवेश करता है। प्रणवका मधुर नाद ऐसा ही है, जिसे सुननेपर और कुछ भी अच्छा नहीं लगता, मधुर ध्वनि सुनते-सुनते चित्त लय हो जाता है। यह वंशी-रव सुननेकी सदा इच्छा होती है; पर सदा तो यह वंशी सुनायी नहीं पड़ती। इसलिये जिस समय बाँसुरी नहीं सुनायी पड़ती, उस समय चित्त फिर संस्कारोंकी घटाओंसे घिर जाता है। भक्त-साधक इन सब संस्कारोंसे चित्तको मुक्त करनेका प्रयास करते हैं और उसके लिये अधिक प्रयत्न भी करने लगते हैं; पर तो भी संस्कार पूर्णतया दूर नहीं होते। भगवान् जब देखते हैं कि भक्त सारी शक्ति लगाकर भी पूर्ण सफल नहीं हो पाता तो वहाँ स्वयं आकर संस्कारके उस परदेको हटा देते हैं। कितनी उनकी दया है ? एक बार जिसने उनकी शरण पकड़ ली, बस, उसकी ओरसे वह

फिर कभी मुँह नहीं मोड़ते इसीलिये भगवान्‌को 'पतितपावन' कहते हैं।

गोपिकाओंका भी ठीक यही हाल हुआ। और कोई आवरण न भी हों, पर अनेक दिनोंके संस्कारोंका त्याग करना भी तो सहज नहीं है। मनुष्य बहुत दिनोंके जमे हुए संस्कारोंका अभाव देखता है तो वह अपनेको एकदम अकेला, निराश्रय अनुभव करता है। इससे वह उन्हें फिर प्राप्त करना चाहता है। मानो मायाको छोड़नेकी किसी प्रकार भी इच्छा नहीं होती। अबतक उनके सब संस्कार जड़से नहीं गये और परमात्माका सहवास प्राप्त करनेकी योग्यता भी उनमें नहीं आयी। अबतक वे अपने आपको सर्वथा नहीं भूल सकीं। फिर अपने आपको भूलकर श्रीकृष्णके प्रति आत्मसमर्पण और कब होगा? अबतक शरीर-बन्धन, लज्जा-भय, उद्वेग-अभिमान नहीं गये। अभी वे सम्पूर्णरूपसे श्रीकृष्णको ही चाहनेवाली नहीं बनीं, आवरणको हटाकर पूर्ण निरावरण नहीं हो सकीं। यह हाल देखकर उनके परमप्रेमी श्रीकृष्ण उनसे बोले—'हे प्यारी सखियो! एक बार अपने आपको सर्वथा भूलकर मेरे पास आकर तो देखो।' वे कहतीं हैं—'प्रभो! अपने आपको किसी प्रकार भी तो नहीं भूल पातीं। तुम्हीं बतलाओ, किस प्रकार सब कुछ छोड़-छाड़कर मनके परदेको दूर करके तुम्हारे निकट आवें? संसार-सागरमें आकण्ठ निमग्न रहनेके कारण महान् क्लेश हो रहा है; पर तो भी अपने आपको सर्वथा भूलकर तुम्हारे प्रति आत्मसमर्पण करनेकी शक्ति हममें अबतक नहीं आ सकी है। इस दशामें हे भगवन्! तब फिर हमारी क्या दशा होगी? क्या हमारा जन्म-

जीवन सब कुछ व्यर्थ चला जायगा ?' जीवकी इस प्रकारकी आकुलता देखकर भगवान् ही उसका उपाय कर देते हैं।

मनकी कैसी विचित्र अवस्था हो जाती है—भगवान्‌को पाये बिना भी नहीं रहा जाता और संसारके प्रति जो झुकाव है वह भी पूरा नहीं जाता। इस अवस्थामें साधकको प्राणान्त कष्ट होता है। गोपिकाओंने भी कातर-कण्ठसे यही कहा था—'हे श्यामसुन्दर! हम सब तुम्हारी दासी हैं, हम जाड़ेसे मर रही हैं, हमें वस्त्र-दान दो।' अर्थात् भगवान् भी रहें और आवरण भी रहे; यही जीवकी इच्छा रहती है; पर 'भगवान् तो छोड़नेवाले नहीं हैं। वे बोले, 'तुम मुझे चाहती हो या अपने आपको चाहती हो ? यदि मुझे चाहती हो तो मेरी आज्ञाका पालन करो। आओ, एक बार निरभिमान होकर मेरे पास आओ, एक बार सब कुछ भूलकर, चराचर ब्रह्माण्डको विस्मृतिके सागरमें डुबाकर संस्कारशून्य निरावरण होकर मेरे पास आकर खड़ी हो जाओ। तुम जो सदा मेरी कामना करती रही हो, आज तुम्हारी वह चिरवाञ्छित और चिरसञ्चित आकांक्षा पूरी होगी।'

किसी दूसरेकी ओरसे नहीं, केवल भगवान्‌की ओरसे ही जब इस प्रकारका आह्वान जीवके अन्तरतम-प्रदेशमें जा पहुँचता है, तब उस अभिसारमुखी प्रवृत्तिको फिर कोई भी निवृत्त नहीं कर सकता। साधारण मनुष्य कामदेवके बाणोंसे घायल होकर पागल-की भाँति जैसे चारों ओरसे ज्ञानशून्य हो जाता है, उसी प्रकार आज ये लोग भी मदनमोहनके मदनविजयी मदनशरसे आहत हैं।

अब क्या वे उन्हें त्यागकर संसारका भजन कर सकती हैं ? तभी कृष्णकामिनी प्रेममयी गोपियाँ श्रीकृष्ण-प्रेमसे विभोर होकर, सब कुछ छोड़कर, सर्व-शून्य बनकर, परम पूर्णको प्राप्त करनेके लिये, उनके चरणोंमें दौड़ी आयी हैं। वे नग्न होकर, उनके निकट लज्जावनत मुखसे आ खड़ी हुईं; पर फिर भी शायद उनके मनके एक छिपे हुए कोनेमें कहीं संस्कार लगा हुआ रह गया। इसीसे प्रेमघन श्रीकृष्ण मुस्कुराकर बोले—'यह किंचित् संस्कार भी छोड़ देना होगा। कोई भी आश्रय पकड़े न रह सकोगी। अनन्य चित्त होकर एक मुझमें ही पूर्ण आश्रय प्राप्त करोगी।' तब गोपियोंने उनकी मधुर वाणीसे मुग्ध होकर एक बार उन्हीं नवनीरद-नवीन कान्त श्रीकृष्णके मुखकी ओर ताककर एकदम सब संकोच-मात्र त्यागकर, निस्संग होकर, दोनों हाथ उठाकर उनकी कृपा-भिक्षा चाही। करुणामय भगवान् प्रेममें भरकर उनका आदर करते हुए बोले—'हे सब साध्वी गोपिकाओ ! मैं जानता हूँ कि मेरी पूजा-अर्चना करना ही तुम्हारा संकल्प है; और यह संकल्प मेरी इच्छासे ही है, इसलिये इसका सफल होना उचित ही हुआ। जिनका चित्त मुझमें लग गया है, उन्हें फिर वासनाजनित भोग नहीं भोगने पड़ते। भूँजे और पकाये हुए बीजसे प्रायः अंकुर उत्पन्न नहीं होता। हे अबलाओ ! तुम व्रजमें जाओ, तुम सिद्ध हो गयीं'—

तासां विज्ञाय भगवान्स्वपादस्पर्शकाम्यया।
धृतव्रतानां सङ्कल्पमाह दामोदरोऽबलाः॥

सङ्कल्पो विदितः साध्व्यो भवतीनां मदर्चनम्।
मयानुमोदितः सोऽसौ सत्यो भवितुमर्हति॥
न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते।
भर्जिताः क्वथिता धाना प्रायो बीजाय नेष्यते॥
यातावला व्रजं सिद्धा मयेमा रंस्यथ क्षपाः।
यदुद्दिश्य व्रतमिदं चेरुरार्यार्चनं सतीः॥
(श्रीमद्भा० १०। २२। २४—२७)

किन्तु एक गड़बड़की बात है। भागवतमें आया है कि भगवान् श्रीकृष्ण उन्हें इस प्रकार नतमस्तक हुए देखकर सन्तुष्ट हो गये और दया करके उन्होंने वस्त्र वापस लौटा दिया। तब तो उन्हें फिर मायावस्त्र पहनने पड़े। इतने परिश्रमके बाद, इतने कष्ट सहनेके बाद अन्तमें क्या यही फल मिला? नहीं, यह बात नहीं। 'त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्'—गोपियोंको त्यागके फलस्वरूप शान्ति मिली। उन्हें माया फिर मिली सही; पर वह माया श्रीकृष्णार्पण हो जानेसे विशुद्ध विद्या हो गयी थी। जो बन्धनका कारण था, वह आनन्द अमृतरससे परिपूर्ण हो गया था। भगवच्चरणोंमें अर्पित कर्मकी भाँति उसने मुक्तिका सौभाग्य लाभ किया। भक्त इस अवस्थामें बन्धनसे नहीं डरता। अब तो वह मायाको भगवत्प्रसादरूपसे ग्रहण करता है। यह मायाका अभिमान भगवान्को दे देनेके बाद इसीसे भक्त लोग प्राकृत पुरुषोंकी भाँति संसार-यात्रा किया करते हैं। किन्तु तैलमर्दित शरीरकी भाँति उन्हें

फिर मायाका जल नहीं लगता—'नैव किञ्चित् करोति सः ।' इसलिये निर्भय होकर वे संसारमें भगवान्के दासके वेशमें विचरण करते हैं और भावी पथ-यात्रियोंके लिये कालकी पाषाण-देहपर अपना पदचिह्न अंकित कर जाते हैं। यही लीला बाहरके साथ अन्तरका, ससीमके साथ असीमका, अधिभूतके साथ अध्यात्मका, जीवके साथ शिवका और आत्माके साथ परमात्माका मिलन-विलास है। भीतर-बाहर एक करके सर्व जीवोंको शिवरूप मानकर समस्त आत्माओंके अन्दर, समस्त वस्तुओंके अन्दर उसी 'सर्व' का परमात्मरूपमें साक्षात्कार करके साधक परमतृप्ति लाभकर धन्य और कृतकृत्य हो जाता है। जबतक यह मिलन नहीं होता, तब-तक हम अभिमानके परदेमें छिपे रहना अच्छा समझते हैं, अपनेको परदेके बाहर करके निस्संग होकर भगवान्के सामने आनेमें संकोचका अनुभव करते हैं। तभीतक अपूर्ण कामनाएँ बार-बार आकर हमें जर्जरित करती हैं, तभीतक यह सारा विश्व-रहस्य हमारे सामने अस्पष्ट, अज्ञात और अनुपलब्ध बना है, तभीतक मान-अभिमान सहस्रों भेदसागरोंमें उत्ताल तरंगोंकी भाँति नृत्य करता है। जब जीव संसारमें सुखशान्ति न पाकर कामाग्निमें जलकर रोदन करता है, जब वह एक परमात्माको छोड़कर और कुछ भी तृप्तिकर और शान्तिप्रदायक नहीं समझता, तब वह यह सब छोड़कर, अपने आपको भूलकर केवल उनके प्रेमका भिखारी बनता है। तभी वह पूरी निर्भरताके साथ उनके चरणोंमें शरण लेकर करबद्ध होकर आर्तस्वरसे पुकारता है—

गोकुलके इस कुल, उस कुलमें अपना किसे पुकारूँ प्रान !
चरण-युगलकी शरण इसीसे ली है, इनको अपने जान ॥

'प्रभो ! देखो, मुझे पैरोंसे मत ठुकराओ, दासी मानकर दिल-में रक्खो !' भक्तके मनकी जब ऐसी अवस्था हो जाती है तभी वह मायाके परदेको भेदकर बाहर निकलनेके लायक बनता है। तभी परमात्माके साथ रास-रस-रंग और सम्भोग करनेकी उसे योग्यता प्राप्त होती है। जबतक हम उन्हें अपनेसे अलग समझेंगे, तबतक तो उनके निकट संकोच रहेगा ही। जहाँ उन्हें अपने आत्मासे अभिन्न समझा; बस, वहीं उनके साथ अपना निरन्तर योग अनुभव करने लगेंगे। फिर उन्हें दूसरा नहीं समझेंगे, बल्कि परम आत्मीय समझेंगे। तब भीतर-बाहरकी एक हालत होगी। अभिमानका नाम-निशान न रहेगा। तब आत्मा-परमात्मा एकरूप होंगे, यही महातीर्थ सागर-सङ्गम है।

आओ, हम उन परमात्मैकनिष्ठा, प्रणतचित्ता, कृष्णप्राणा गोपबालाओंको प्रणाम करें, उनका शिष्यत्व स्वीकारकर मधुर मुक्ति-मार्गपर अग्रसर हों !

श्रीकृष्णार्पणमस्तु ।

रास-लीला

ॐ ब्रह्मादिजयसंरूढदर्पकन्दर्पदर्पहा ।
जयति श्रीपतिर्गोपीरासमण्डलमण्डितः ॥
सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णायाक्लिष्टकारिणे ।
नमो वेदान्तवेद्याय गुरवे बुद्धिसाक्षिणे ॥

जबतक देहदृष्टि रहती है तबतक जीवको परमात्माके साथ मिलनेका अधिकार नहीं होता। जो अखण्ड और अनन्त हैं वे ही इस मायिक देहकी सीमामें सीमाबद्ध-से मालूम होते हैं। इसीसे जीव और शिव परस्पर अभिन्न होनेपर भी दोनोंके बीचमें भेददृष्टिका एक परदा पड़ गया है। यह भेददृष्टि जबतक नहीं मिटती तबतक परमात्माके साथ जीवके मिलनेका मार्ग बन्द ही बना रहता है। इस भेददृष्टिके रहते भक्त प्राणनाथको आत्मसमर्पण करनेमें कभी समर्थ नहीं होता, भगवान् श्रीकृष्णने वस्त्र-हरणके अभिनयमें यही बतलाया है।

जहाँ मोह मिटा, बन्धन टूटा, वहीं वास्तविक रास-रस-सम्भोग आरम्भ हो गया। सिद्ध देह प्राप्त कर अकामचित्तसे रासेश्वरके साथ गोपियोंका जो सम्भोगविलास है वह एक अपूर्व विषय है। गोपियाँ विषयसे निवृत्तचित्ता हैं और इसलिये अकामा हैं; किन्तु तो भी वे कृष्णकामा हैं। यह आकांक्षा भी यद्यपि है आकांक्षा ही तथापि सात्त्विक आकांक्षा है; क्योंकि ईश्वरको छोड़कर अन्य वस्तुओंकी जो इच्छा है, उसे ही कामना कहते हैं। भगवत्प्राप्तिकी इच्छाको कामना नहीं कहते। 'न तु कामाय कल्पते'—यही भागवतका सिद्धान्त है। तो भी यह है आखिर कामना ही, इस बातको कौन अस्वीकार कर सकता है? जो कुछ भी हो, इस कामनाको हम छोड़ नहीं सकते। इस कामना-का लोप होनेमें कितने युग-युगान्तर लगेंगे, इसे कौन बतला सकता है? यद्यपि सर्व कामनाओंसे विमुक्त होना ही मुक्ति है तथापि जीवके हृदयमें जबतक यह भगवत्‌मिलनकी कामना सम्पूर्णरूपसे जाग्रत नहीं हो उठती, तबतक मुक्ति—शिरपरकी सीढ़ीको छूनेमें, वह समर्थ नहीं हो सकता। अतएव यह कामना रहेगी ही और इसके रहते कोई हानि भी नहीं है। मुक्त पुरुष मुक्त होकर भी इस लीलाका अनुसरण करते हैं। इसमें संसारसम्बन्धी कामना कुछ भी नहीं है। सांसारिक कामना उनमें रहेगी ही कैसे? जिन्होंने भगवद्भजनके द्वारा ज्ञान-लाभ कर लिया है और ज्ञानके द्वारा अपने अन्तःकरणको सर्वथा शुद्ध बना लिया है, उनके शुद्धान्तःकरणमें क्या कभी कामनाका दाग लग सकता है?

मुक्तात्मा पुरुषोंकी इस श्रीकृष्ण-कामनाको महज्जन 'अनिच्छाकी इच्छा' कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णने भी तो कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥

(गीता ३। २२)

संसारसूचना या सृष्टिप्रवर्तना भगवान् अकामी होकर भी केवल लोकस्थितिके लिये किया करते हैं। वह पूर्णकाम, सर्वशक्तिमान् हैं, अतएव किसी कामनाको लेकर संसारकी रचना करना उनके लिये असम्भव है, ठीक इसी प्रकार मुक्तात्मागण भी लीलाविलास किया करते हैं! विषयसम्भोग तो इन्द्रियोंके द्वारा ही होते हैं। किन्तु यह तो इन्द्रियातीत लीला है! जो इन्द्रियसंयमरूप होमाग्निमें सारी कामनाओंको भस्म कर डालता है वही इस लीलाक्षेत्रतक पहुँच सकता है। एक भी इन्द्रियके विकारयुक्त रहते कोई इस लीलाका दर्शन नहीं कर सकता। स्वर्ग, मर्त्य और अन्तरिक्ष प्रभृतिसे अति दूर, कर्म और भोगभूमिसे बाहर एक अतीन्द्रिय विशुद्ध मनोग्राह्य परम रमणीय स्थान है, उस परम धामको ही 'वृन्दावन' कहते हैं, उसीको आनन्दलोक कहते हैं। अन्यत्र लीलाके लिये भगवान्की मायाश्रिता शक्ति अंशतः रहती है, कदाचित् कहीं पूर्णरूपसे भी हो, किन्तु इस लोककी यह लीला तो भगवान्की ह्लादिनी शक्तिके पूर्ण विकासद्वारा ही होती है। इस लोकमें अन्य सारी शक्तियाँ संयत और पूर्णानन्दके अन्दर मिली रहती हैं। यहाँ विशुद्ध आनन्दका ही नित्य नवोच्छ्वास है, उसीकी नित्य-नूतन भंगिमा है।

जहाँ विशुद्ध आनन्द है वहाँ वास्तवमें कोई कामना नहीं है, वहाँ तो सभी कुछ पूर्ण है। जहाँ अपूर्णता होती है वहीं कामना होती है। यह आनन्द पूर्णत्वका आनन्द है, अनन्तका आनन्द है और अकामका आनन्द है। यही वास्तविक पूर्णानन्द या ब्रह्मानन्द है। यह आनन्द किसी विषयके आश्रित नहीं है। यह परिपूर्ण सत्ताके अनुभवका विराट् आनन्द है। यह सीमाबद्ध इन्द्रिय-ज्ञानके द्वारा बाधित होनेवाला नहीं है। इन्द्रियोंके द्वारा भोगोंकी लालसा पूर्ण ही कितनी होती है? हमारी इन्द्रिय-शक्ति ही कितनी है? किन्तु पूर्णानन्दका यह प्रचण्ड वेग समस्त ससीम इन्द्रिय-शक्तिको चूर्ण-विचूर्ण करके असीमकी ओर असीम वेगसे दौड़ता है। जिनको इस आनन्दका स्वाद मिल गया है, उनके लिये विषयानन्द तुच्छ हो गया है। इस आनन्दकी बूँद जिसके शरीरपर पड़ जाती है वही मुक्तिके मार्गपर अग्रसर हो सकता है। इस बातको भलीभाँति समझ लेनेसे ही भक्त ज्ञानीका हृद्रोग नष्ट होता है। जिनका हृद्रोग नष्ट नहीं हुआ है वे इस लीलाको समझनेके अधिकारी नहीं हैं। इसी कारण जब इस लीलाका अभिनय होता है तब देवताओंतकको भी वहाँ जानेका अधिकार नहीं मिलता। इसीलिये कुछ चुने हुए भक्त, ज्ञानी, ब्रह्मादि देवेन्द्रगण और मदनमथनकारी कैलासपति शिवको ही मदनमोहनकी इस मदनलीलाके दर्शन करनेका पूर्ण अधिकार प्राप्त हुआ था।

दर्शनकी बात तो दूर है, हम तो इस लीलाके श्रवणतक

करनेके अधिकारी नहीं हैं। बड़े भाग्य-फलसे, जन्म-जन्मान्तरके तपःसञ्चित बलसे इस लीलाके सुननेसे चित्तमें चाञ्चल्यरहित, काम-गन्धहीन आनन्द उत्पन्न होता है। जिनका देहात्मबोध बढ़ा हुआ है और इस कारण जो जडात्मा हैं वे तो इस लीलाको सुनकर धर्मसे स्खलित होंगे—वे अमृतको न पाकर विषयकी ज्वालामें जल-भुन जायँगे, क्योंकि वे इसे प्राकृत नर-नारीकी काम-चरितार्थताके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं समझेंगे। इसीलिये उनका हितके बदले अहित होगा! समुद्रमन्थनसे अमृत और विष दोनों ही निकले थे, यदि योगेश्वर उस विषको भक्षणकर हजम न कर जाते तो उस विषकी ज्वालामें तीनों लोकोंका ध्वंस हो जाता। आज काम-विषसे सारा संसार जर्जर, अन्ध और उन्मत्त हो रहा है! जगत्‌वासी समस्त जीव कामकी ज्वालामें छटपटाते हुए त्राहि-त्राहि पुकार रहे हैं। जबतक श्रवण करनेयोग्य कान न हों, दर्शन करनेयोग्य चक्षु न हों, तबतक मदनमोहनकी यह मदनविजय-लीला प्राकृत जीवके लिये छिपी रहे और जगत् शान्तिलाभ करे! जिनका जीवभाव लुप्त नहीं हुआ, जिन्हें शिवत्वकी प्राप्ति नहीं हुई, वे इस लीलाका श्रवण-दर्शन करनेके योग्य अधिकारी नहीं हैं। वे कभी भी इसके विषभागको हजम करके अमृतलाभसे धन्य और कृतकृत्य नहीं हो सकेंगे। भागवतके 'यां श्रुत्वा तत्परो भवेत्' इस श्लोकांशको देखकर बहुत-से बाबाजी कृष्णलीलाका अनुकरण करते हैं। हाय रे भाग्य! इस कथनमें क्या उनकी लीलाके अनुकरणका आदेश है? भागवतमें तो स्पष्ट कहा है कि जो

गोपियों, उनके पतियों तथा समस्त देहधारियोंके अन्दर विराजमान हैं, वे बुद्धि आदिके भी साक्षी हैं और वही प्रभु क्रीड़ा-कौतुकसे मनुष्यदेह धारण करके लीला करते हैं। जीव इन लीला-कथाओं-को सुनकर उनके भक्त बन सकेंगे। जो ईश्वर नहीं हैं वे कदापि ऐसा आचरण नहीं करेंगे। रुद्रको छोड़कर दूसरा कोई यदि मूर्खतावश विषपान करेगा तो तत्काल मर जायगा। वह हमारे अन्तरंग-से-अन्तरंग हैं, इतने निकटस्थ हैं जितना और कोई नहीं है, यहाँतक कि उन्हें छोड़कर हमारा 'मैंपन' भी नहीं है, इसी बातको समझानेके लिये यह प्रसंग है! परन्तु हमारी बुद्धि इतनी मलिन है कि हमने इस भावको ही एकदम पलट दिया है।

श्रीचैतन्यचरितामृतमें श्रीकृष्णकी उपासनाके सम्बन्धमें लिखा है 'कामबीज, कामगायत्री उनकी उपासना है।' पर यह प्राकृत देहकी कामलीला नहीं है। दुर्बलहृदय लोगोंने इस रहस्यको ठीक हृदयङ्गम न कर सकनेके कारण एक विचित्र और अति हेय साधन-मार्गकी कल्पना कर ली है।

रहस्य बड़ा ही कठिन है। इसे व्यक्त करने लगनेसे जिस भाषामें इसे कहा जा सकता है उसे सुनकर सबसे पहले बुरी ही बातें याद आती हैं, तभी तो गीतगोविन्द पढ़कर बहुतेरे उसके अन्दर 'गोविन्द' को नहीं देख पाते। जिनके अन्दर इस प्रकारका दृष्टिदोष वर्तमान है, जिनकी बुद्धि इस प्रकार मलिन है उनको तो इन सब ग्रन्थोंका स्पर्शतक नहीं करना चाहिये। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि रास-लीलाका गुरुमुखसे ही भलीभाँति उपदेश होना

आवश्यक है, ऐसा किये बिना केवल पढ़नेसे अप्राकृत काम-भावका उदय न होकर उलटा पशुभाव ही बढ़ेगा। श्रीकृष्ण-कामना भी एक प्रकारका काम अवश्य है, परन्तु वह है—अप्राकृत, दिव्य! वह स्थूल शरीरसे स्थूल इन्द्रियोंकी रतिकामना वा आसङ्ग-लिप्सा नहीं है! भगवदनुराग इसीका नामान्तर है। इसमें सांसारिक कामको गन्ध भी नहीं है; धन, पुत्र तथा विषय-प्राप्तिकी प्रत्याशा नहीं है। यह तो आत्मरति—सम्पूर्ण आत्मविसर्जन है। एकमात्र भगवान्‌के संग-लाभकी अनन्य इच्छा है। शास्त्रोंमें इसीको 'भक्ति' कहा है।

सा परानुरक्तिरीश्वरे। (शा० भक्तिसूत्र १।२)

सा कस्मै परमप्रेमरूपा। (नारद० सूत्र २)

भगवान् श्रीकृष्ण ब्राह्मणपत्नियोंसे कहते हैं—

न प्रीतयेऽनुरागाय ह्यङ्गसङ्गो नृणामिह।
तन्मनो मयि युञ्जाना अचिरान्मामवाप्स्यथ॥
स्मरणाद्दर्शनाद्ध्यानान्मयि भावोऽनुकीर्त्तनात्।
न तथा सन्निकर्षेण प्रतियात ततो गृहान्॥

(श्रीमद्भा० १०।२३।३२, ३३)

इस जगत्‌में अंगके साथ अंगका मिलन होनेसे ही सुख या स्नेहकी वृद्धि होती हो, ऐसी बात नहीं है। तुम लोगोंने मुझमें मन समर्पित कर दिया है, अतएव मुझे ही प्राप्त होओगी। मेरे नाम प्रभृतिका श्रवण, मेरा दर्शन, चिन्तन और गुणकीर्तन करनेसे

मुझमें जैसा प्रेम उत्पन्न होता है वैसा प्रेम केवल मेरे निकट रहने-से ही सम्भव नहीं है।

अब रास-लीलाकी बात कहनी है। वसन्त-ऋतुके समय न मालूम किस नैसर्गिक नियमके अनुसार सभी नर-नारियोंके प्राणोंमें आनन्दका एक प्रबल वेग आ उपस्थित होता है। उस समय विश्व-प्रकृतिके अन्दर भी इस आनन्दकी उत्तेजना दिखायी देती है! शीतवायुकी जड़ता मानो स्वप्नकी भाँति अदृश्य हो जाती है, समस्त दिशाएँ निर्मल एवं स्निग्ध मलयसमीरके हिलोर-से नर-नारियोंके हृत्पिण्डके ताल-तालमें उनके मनको भी नचाने लगती है। एक अनिर्वचनीय आनन्दसे उन्हें मतवाला कर देती है। शाखा-प्रशाखामें नवीन मञ्जरी, वृक्षसमूहमें नूतन किसलय, नव कुसुम-कलिकाओंकी शोभा और उसके साथ-साथ सुगन्धका सञ्चार प्राणोंमें एक अपूर्व भावकी जागृति करा देता है! मानो किसीके साथ मिलनेकी, किसीका संग प्राप्त करनेकी आकाङ्क्षासे समस्त चित्त उत्क्षिप्त हो उठता है। प्रेमिक और प्रेमिकाकी चित्त-कलियाँ किसीके संकेतसे मानो विकसित हो उठती हैं, कोई मानो उसका बिल्कुल अपना-सा है, जिसे पानेकी आशामें चित्त उन्मत्त हो उठता है। महाकविकी कुशल-लेखनीके द्वारा उसका क्या ही सुन्दर वर्णन हुआ है—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे
पपौ प्रियां स्वामनुवर्त्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं
मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः ॥

वसन्त-ऋतुकी भाँति शरद्-ऋतुमें भी हमारे देशमें एक नैसर्गिक शोभा होती है। वर्षाके पश्चात् मेघमुक्त निर्मल आकाश ठीक रजस्तमोमुक्त सिद्ध पुरुषके चित्तकी भाँति सुन्दर शुभ्र वर्ण धारण कर लेता है। अजस्र वारि-वर्षासे धरणीतल स्निग्ध हुआ रहता है, और शीतकी प्रचण्ड हिमवर्षी वायुका वहना आरम्भ नहीं होता, समस्त जलाशय जलसे परिपूर्ण हुए रहते हैं, नाना प्रकारके जलज और स्थलज कुसुम मातृक्रोड़में अर्द्ध-प्रवुद्ध शिशुके कोमल हास्यकी भाँति विकसित हो उठते हैं। वेला, चम्पा, हरसिंगार और मौलसिरी मनुष्यकी विशुद्ध प्रज्ञाकी भाँति समस्त नर-नारियोंके चित्तको प्रफुल्लित कर देते हैं। शरद्-रात्रिकी मेघमुक्त शुभ्र कौमुदी प्रियके समागमसे प्रियाके उत्फुल्ल चित्तकी भाँति दीप्त होकर समग्र अवनीतलको प्रफुल्लित कर देती है।

यह आनन्द ही भगवान्‌का रूप है। आनन्द चित्तको हल्का करता है, वन्धनमुक्त करता है, भेदज्ञानको नष्ट कर देता है। इसीसे प्रकृतिकी इस विमुक्त शोभामें, ज्योत्स्नाप्लावित शारदीय पूर्णिमाकी रात्रिमें तरु-लता, पुष्प-वन जब हँस उठे, ठीक उसी समय श्रीकृष्णकी अभिसार-रात्रि निर्दिष्ट हुई। जैसा कि कहा है—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥
(श्रीमद्भा० १०। २९। १)

श्रीकृष्णके प्रतिज्ञास्वरूप वह शारदीया यामिनी आ उपस्थित

हुई और उस सुखमयी रजनीमें मल्लिकापुष्प-समूहको प्रस्फुटित देखकर भगवान्‌ने योगमायाके आश्रयसे विहार करना निश्चय किया।

भगवान् जिस योगमायाको आश्रय करके विहार करना चाहते हैं वह योगमाया कौन है ? वह योगमाया ही उनकी 'स्वां प्रकृतिम्' है। इस योगमायाके बिना भगवान् अपने आपको प्रकाश नहीं कर सकते। जहाँ उनका प्रकाश है, जहाँ उनकी लीला है, वहीं वह सगुण हैं और वहीं उनकी योगमाया है। किन्तु वे मायाश्रित होकर भी मायातीत हैं। वे साधारण जीवकी भाँति मायाधीन नहीं है, बल्कि मायाके अधीश्वर हैं! इस मायासे पृथक् करके उन्हें कोई भी नहीं देख सकता, कोई भी उनसे वार्तालाप करनेमें समर्थ नहीं होता, कोई भी उन्हें निज-जन समझकर उनका समादर तथा उनसे प्रेम नहीं कर सकता। इस मायाके कारण ही तो हम उन्हें नाना रूपोंमें प्रकाशित देखते हैं, और बार-बार इस जगत्-का सृजन और संहार देखते हैं। हमारे सीमाबद्ध इन्द्रिय-ज्ञानमें ऐसा जान पड़ता है कि योगमायाकी सहायतासे ही वे सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयकी लीला किया करते हैं, मानो पुरुष और प्रकृतिका बिल्कुल अलग-अलग कर्तृत्व है, दोनोंमें कोई भी किसीके अधीन नहीं है। एक ईश्वर है और दूसरी ईश्वरी! किन्तु ऐसी बात नहीं है, यह विभिन्न-मुखी लीला दो विभिन्न शक्तियोंसे उत्पन्न हुई मालूम होनेपर भी वे स्वरूपतः एक एवं अभिन्न हैं। भगवान्‌की दो दिशाएँ भावुकजनोंके लिये विचारणीय हैं—एक तो योगीके ध्यानगम्य और ज्ञानीके ज्ञानगम्य, पर इन्द्रियोंके अनधिगम्य मायामुक्त निर्गुणभाव; और

दूसरा मायायुक्त सगुण ईश्वरभाव, जो मन, बुद्धि और इन्द्रियोंको गोचर होता है। निर्गुणभावमें न कोई लीला-विलास है और न कोई प्रकाश। अपने आपसे ही स्तब्ध होकर रहना है, और सगुणभावमें केवल अपना प्रकाश करनेकी चेष्टा है, एक अपनेको ही अनेक रूपोंमें प्रकाश करके अनेकमें उसी एकको उपलब्ध करनेकी चेष्टा है। उसीके फलस्वरूप सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु, प्रकाश-अप्रकाश, आलोक-अन्धकारके एक विराट् अभिनयने सागरके वक्षःस्थलपर होनेवाले तरङ्गराशिके अविश्रान्त नृत्यकी भाँति अखिल जीव-जगत्को चकित कर रक्खा है। यहीं उनकी योगमाया है जो अनिर्वचनीय है! 'इस जगत्की किसने सृष्टि की, क्यों की, किस स्थानसे यह जीवधारा प्रवाहित होकर अन्तमें किस सागर-संगममें जाकर मिलती है?' इन सब प्रश्नोंका उत्तर कौन दे सकता है? सभीके अंदर यह जिज्ञासा है; भूत, भविष्यत् और वर्तमान सभी काल और युगोंमें मानवहृदयका यह एक महा दुर्बोध्य प्रश्न है। किन्तु क्या किया जाय? इस रहस्यको जाननेका कोई उपाय नहीं है! इसीलिये योगमायाके सम्बन्धमें विशेष कुछ कहना धृष्टतामात्र है।

फिर भी साधारणतया उसका एक अर्थ निश्चित कर लिया गया है। जिस समय परमात्मा स्व-स्वरूपमें रहते हैं उस समय यह सब सृष्टि-कार्य कुछ भी नहीं रहता। जीवमात्र सब स्व-स्वरूपमें स्थित रहते हैं, उनके सामने यह जगत्-प्रपञ्च नहीं रहता। उस समय तो एक अवर्णनीय अचिन्त्य अव्यक्त भाव रहता है, इस अवस्थाके साक्षी केवल वही हैं।

इसके पश्चात् जब उनके अंदर 'एकोऽहं बहु स्याम्' यह भाव उत्पन्न होता है तभी सृष्टिका प्रकाश होता है। यह जो इच्छाशक्ति है, जिसके द्वारा वह अनेक रूपोंमें अपनेको प्रकाश करते हैं, यही मूल प्रकृति या आद्याशक्ति माता भगवती हैं। यह शक्ति यहाँ कहीं बाहरसे नहीं आ गयी, यह उन्हींके अंदर थी, उन्हींसे उत्पन्न हुई है। यह माया-शक्ति यदि भगवान्‌की न होती तो यह विचित्र सृष्टि-प्रकाश न होता। तब यह शंका उपस्थित हो सकती है कि वह इस शक्तिके अधीन न होनेपर भी गुणत्रयसे अलग नहीं हैं और इसीलिये हिन्दू दार्शनिकोंमें किसी-किसीने उन्हें निर्गुण सिद्ध करते हुए गुणको प्रकृतिका कार्य और प्रकृतिको उनसे पृथक् समझानेकी चेष्टा की है। यह एक तरहसे ठीक है, सच है; किन्तु प्रकृतिको सम्पूर्णतः पृथक् बतलानेसे ईश्वर दो मानने पड़ते हैं और ऐसा करनेसे फिर उन्हें अनन्त नहीं कहा जा सकता। इसी कारण किसी-किसी दार्शनिक सम्प्रदायका यह मत है कि प्रकृति कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं, वह उन्हींकी स्व-शक्ति है। यद्यपि इसका ज्ञान प्राप्त करते हुए, उन्हें 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्' स्वीकार करना कठिन बतलाकर कोई-कोई आपत्ति कर सकते हैं किन्तु यह आपत्ति समीचीन नहीं है; क्योंकि जलपूर्ण असीम समुद्रमें कहीं बूँदभर मल पड़ जानेसे कोई यह आशंका नहीं कर सकता कि समुद्रका जल निर्मल नहीं रहा। यह सारी उन्हींकी लीला है, ऐसा मान लेनेसे सभी बातें रह जाती हैं। छोटी-छोटी लड़कियाँ जब गुड़ियाँ बनाकर खेला करती हैं, तब वे किसी

गुड़ियाको घरका मालिक बनाती हैं, किसीको मालकिन बनाती हैं। मालिक-मालकिन, पुत्र-कन्या आदिके रूपमें वे गुड़ियाँ ही दीखती हैं। इस खेलमें बेटी-जवाँई, कुटुम्ब-परिवार, दास-दासी किसीका अभाव नहीं होता। पुत्र-कन्याके विवाह, मिलन, भोज आदि किसी बातकी कसर नहीं होती। देखनेसे मालूम पड़ता है मानो एक बहुत बड़े गृहस्थका धन्धा चल रहा है। किन्तु वास्तवमें वे सबकी सब गुड़ियाँ अचेतन हैं, लड़कियाँ अपने इच्छानुसार उनके लिये खाने, पीने, सोने और विवाह-शादी आदिकी व्यवस्था करती हैं। उन सबकी ओरसे उनके सब काम-कार्य लड़कियाँ ही करती हैं। इसी प्रकार हम सब भी भगवान्‌के हाथकी कठपुतली मात्र हैं, उनकी जैसी इच्छा होती है वैसा वह हमारे द्वारा खेल करते-कराते हैं। गुड्डे-गुड़ियोंके खेलमें और इस खेलमें केवल इतना ही अन्तर है कि वह (भगवान्) पूर्ण ज्ञानमय और चैतन्यस्वरूप हैं, और उनके खिलौने भी ज्ञान और चैतन्यसे शून्य नहीं हैं। यह भी उन्हींकी इच्छा है। जब उनके सिवा संसारमें कुछ भी नहीं है तब जीवके स्वरूपका उनसे अत्यन्त भिन्न होना असम्भव है। किन्तु यह चेतना ही, जिससे जीवको सम्पत्तिवान् किया गया है, उसकी विपत्तिका कारण बन गयी है। जो उसके गौरवका कारण है उसीने उसे शृंखलाबद्ध किया है, इसी शृंखलाको तोड़नेकी तीव्र चेष्टामें जीव व्याकुल है।

इस मायारचित संसारमें हम मायिक जीव हैं, हमारा ज्ञान अत्यन्त परिमित है। इन्द्रियाँ ही हमारे ज्ञानका द्वार हैं, और ये

सब इतनी चञ्चल और दोषयुक्त हैं कि इनके सिद्धान्त बहुधा हमें महाभ्रममें डाला करते हैं। इसीलिये इस भ्रमजालसे छूटना असम्भव-सा हो गया है। जिन्हें प्राप्त करनेसे यह मायाका परदा हट सकता है; कहाँ? उन्हें पानेका तो कोई मार्ग नहीं है! यह प्रतीत होता है कि वह सर्वत्र ही हैं परन्तु इसके बाद ही ऐसा जान पड़ता है कि कहीं भी नहीं हैं। इसीलिये बारंबार चित्त सुख-दुःखके भीषण उत्थान-पतनमें क्षुब्ध और उत्क्षिप्त हुआ करता है और बीच-बीचमें चक्कर पड़कर जीव उछलता-डूबता है। इन चञ्चल संसार-तरङ्गोंसे तरनेकी कोई आशा नहीं दिखलायी पड़ती; किसीकी यह शक्ति भी नहीं दीखती जो भवान्ध जीवका उद्धार करे। इसलिये भगवान् समय-समयपर इस जगतीतलपर अपनेको प्रकट करते हैं। यह जो उनका स्थूल इन्द्रियोंके लिये गोचर होनेवाला स्वप्रकाश है यह भी उनकी योगमाया है। नहीं तो उनकी अविद्यमानता तो कहीं भी नहीं है। यदि कहो कि वे मनुष्यकी सूक्ष्म और शुभ बुद्धिके अंदर स्थित होकर भी तो उसके संशयका नाश कर सकते हैं, अवश्य कर सकते हैं, और वे यही तो करते हैं! मुनिगण उनमें संलग्नचित्त होकर अपनी हृदय-गुहामें शुद्ध, बुद्धरूपसे उनके प्रकाशका अनुभव कर सकते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश इतने सूक्ष्मतक पहुँचनेके लिये जिनमें शक्ति नहीं है; पर साथ ही जो उन्हें प्राप्त करना भी चाहते हैं, उन्हींके लिये करुणामय भगवान् अपनेको एक देहकेन्द्रमें केन्द्रीभूत करके प्रकाश करते हैं। ऐसा क्योंकर हो सकता है, इसका उत्तर कोई भी नहीं दे सकता।

उनका यह 'जन्म-कर्म' प्राकृत मनुष्यों-जैसा नहीं है; वह तो 'दिव्य' अलौकिक—मानवीय मन-बुद्धिके अगोचर है। वह जन्म ग्रहण करके भी कभी स्व-स्वरूपसे च्युत नहीं होते। वह समग्र ब्रह्माण्डको अभिव्याप्त करके भी उसके बाहर परिपूर्ण स्वभावसे नित्य विद्यमान हैं और प्रत्येक क्षुद्र बालुका-कणमें भी उसी पूर्ण शक्तिके साथ विराजमान हैं। इसका क्या अर्थ है, सो वही जानते हैं। उनका कोई रूप नहीं, कोई मूर्ति नहीं, साथ ही वह सब रूपों और मूर्तियोंमें पूर्णरूपसे विराजमान हैं। यह उनकी अतुल शक्ति है। वह साकार होकर भी निराकार हैं और निराकार होकर भी साकार हैं। हम उन्हें निराकार समझते हैं, फिर भी उन्हें साकाररूपमें देखनेकी इच्छा करते हैं। सोचते हैं कि जिन्होंने इतने रूप, इतने रस, और इतने गन्धकी सृष्टि की, उनका रूप न मालूम कैसा अनोखा होगा। प्रकृतिके अंदर सर्वत्र ही उनका असीम सौन्दर्य छाया है, और यह भी सत्य है कि उस सौन्दर्यकी शोभाको देखकर हम मुग्ध हो जाते हैं, परन्तु इतनेपर भी हमारी प्राण-पिपासा शान्त नहीं होती।

इस असीम विश्वके आगे क्या अनन्त है और।
प्राणसिन्धु नित दौड़ रहा है, उस विचित्रकी ओर॥

हम उस प्रिय वस्तुको अपने-जैसे रूपमें ही प्राप्त करनेकी इच्छा करते हैं। समझते हैं कि वह हमारे साथ बैठेंगे, हँसेंगे, बोलेंगे, प्यारे सखा—विश्वस्त मित्रकी भाँति हमारे सुख-दुःखमें हिस्सा बटायेंगे। ग्वाल-बालकी भाँति निस्सङ्कोच उनके साथ

खेलने-कूदने तथा व्रजबालाओंकी भाँति अनन्य प्रेमके द्वारा उन्हें तृप्त करके जीवनको कृतार्थ करनेकी इच्छा होती है। इसी प्रकार-की आकांक्षाके फलस्वरूप जब वे 'लीलामानुषविग्रह' रूपमें हमारी स्थूल इन्द्रियोंको गोचर होते हैं, तब हम सजल-जलद-स्निग्ध-कान्त श्यामसुन्दररूपमें उनका दर्शन-लाभ करते हैं। तब वह हमारे साथ भाषण करते हैं, हमारा आदर करते हैं—मीठी-मीठी बातें करते हैं, हमारे भेंट किये हुए पदार्थ ग्रहण करते हैं। ऐसा हुए बिना हम किसे देख और पूजकर तृप्ति-लाभ करें? जो इसे अत्यन्त स्थूल भाव कहते हों, कहें; किन्तु हमारी इन्द्रियोंकी यथार्थ तृप्ति तो इसी प्रकार होती है। जो रूप मोह उत्पन्न करके केवल प्राणों-को पागल बना देता है, जो अन्धता न आने देकर केवल नेत्रोंको सार्थक और शीतल करता है, जो विकारको न लाकर केवल तृप्ति-की प्राप्ति कराता है वह तो मिलना ही चाहिये। 'स मोदते मोदनीयं हि लब्ध्वा' जिसे प्राप्त कर सारी इन्द्रियाँ असीम तृप्ति-लाभ कर कृतकृत्य हो जाती हैं, संसारकी समस्त वासनाएँ पुरानी खालकी भाँति खर जाती हैं, वह रूप यह श्यामसुन्दर मदनमोहन श्रीकृष्णरूप ही तो है।

'लाख-लाख युग हिया माँझ राखनु तबु हिया जूड़न ना गेल।'

जो ऐसे रूपनिधि हैं उन्हें अनन्त कालतक देखते रहकर भी नेत्र देखना बंद नहीं कर सकते। वे किसी भी रूपमें नहीं हैं और सभी रूपोंमें हैं। समस्त रूपोंके अन्दर जो सौन्दर्य है, जो लावण्य स्फुरित हो रहा है, वही पूर्ण घनीभूत होकर इस

सजलजलदाङ्ग त्रिभंगी वंकिमरूपसे भक्तोंके मन-प्राणको हरण करता है। वह समस्त रूपोंका सार है। वह सारे सौन्दर्यका सागर है। तभी श्रीकृष्णरूपमें इतनी माधुरी तथा इतनी मोहिनी शक्ति है। उनके रूपमें इतना आकर्षण न होता तो लोग क्यों संसारको त्यागकर उनके पीछे पागल होते? तत्त्वज्ञानके विचारसे बारंबारके उपदेश और प्रयत्नसे भी जो मन विषयको छोड़ना नहीं चाहता वह विषय-विमूढ़ चित्त भी उनके क्षणिक दर्शनसे अपनेको खो देता है, उनके लिये पागल हो उठता है। श्रीनारद दासी-गर्भसे जन्म लेकर बाल्यावस्थासे ही वैराग्य ग्रहण करके अपने मालिकके घरको छोड़कर व्याकुलतापूर्वक वन-वनमें उन्हें खोजते फिरते थे, परन्तु उस अवस्थामें भी उनकी संसार-वासना सर्वथा निवृत्त नहीं हुई थी। यह देखकर उनके चित्तको एकाएक अपनी ओर आकृष्ट कर लेनेके लिये दयालु भगवान् एक बार निमेषमात्रके लिये उनके हृदयमें प्रकट हो गये। बस फिर क्या था, नारदका मोह नाश हो गया। वह उन्हें जीवनसर्वस्व समझने लगे और फिर उनमें विन्दुभर भी विषयासक्ति नहीं रही। आकाशवाणी हुई—'दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम्' नारदके मोहका बाँध सदाके लिये टूट गया। जिस किसीपर उनकी कृपा होती है, उसे वह इसी प्रकार धन्य और कृतार्थ किया करते हैं।

भगवान्‌के लोकविमोहन रूपकी बात कही गयी है। अब उनकी लोकमनमोहिनी मुरलीकी बात कहनी है। सच्चिदानन्द भगवान्‌को रसास्वादनके लिये प्राकृत जीवकी भाँति किसी बाहरी

वस्तुकी आवश्यकता नहीं होती । वे अपनी ह्लादिनी शक्तिके द्वारा स्वयमेव ही निजानन्दका आस्वादन करते हैं । भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः ।

(गीता १५ । ७)

यह सनातन संसारीरूपसे प्रसिद्ध जीव मेरा ही अंश है । हाँ, मायामोहित है, बस, इतनी ही बात है । जीवके शुद्ध होने-पर फिर उसको कोई भी सांसारिक आकर्षण नहीं रहता । तब उसमें भगवदासक्ति प्रबल और स्वाभाविक हो उठती है । जीव उस समय भी भगवान्‌का अंश ही रहता है, परन्तु उसमें मायाका अंश कम होकर प्रेमका अंश बढ़ जाता है । मायिक जीव भी उन्हीं परमात्माका उपभोग करता है परन्तु वह करता है विषयोंसे प्रलिप्त होकर, इससे भगवान् विषयोंमें ढक जाते हैं । सामने केवल विषय दीखते हैं । शुद्ध जीव भगवत्-स्वरूपका दर्शन पाता है । वह विषयमिश्रित आनन्द नहीं, शुद्ध आनन्दको प्राप्त होता है । यह 'आनन्द' ही जीव और परमात्माका रूप है । अतएव नदी जैसे स्वाभाविक ही समुद्रकी ओर दौड़ती है, वैसे ही शुद्ध जीवकी भगवदानन्द-लिप्सा भी प्रतिक्षण बढ़ती रहती है । समुद्र जैसे आनन्दोन्मत्त हो नदीमें प्रविष्ट होकर नदीको भी तरंगपूर्ण और आनन्दमय बना देता है, वैसे ही वे आनन्दसिन्धु भी करते है । उन आनन्दसिन्धुका रसान्दोलन भी जीव-नदीके अन्दर अजस्ररूप-में सञ्चालित होकर उसे भावोन्मत्त बना भगवत्तन्मय कर देता

है। इसीसे यह कहा जाता है कि जैसे भगवान्‌के लिये भक्त व्याकुल होता है, वैसे ही भगवान् भी भक्तके लिये व्याकुल होते हैं। इसीसे यह देखा जाता है कि भगवान्‌के लिये त्रिलोकीमें कुछ भी प्राप्तव्य पदार्थ न रहनेपर भी, निजानन्दसम्भोगके लिये उनकी स्पृहाका कभी अन्त नहीं होता। इसीलिये गोपियाँ (शुद्ध जीव-चैतन्य) अपने-अपने घरोंमें निश्चेष्ट बैठी रहती हैं, परन्तु वे उन्हें वैसे नहीं बैठने देते। वे बार-बार पुकारते हैं—उनके पुकारनेका न आदि है और न अन्त। वे सभी समय सबको बुला रहे हैं 'अरे आओ, मेरे समीप चले आओ।' परन्तु उनकी इस पुकारको सब न तो सुन पाते और न समझ सकते हैं। माया-बद्ध जीव भगवान्‌की इस पुकारको विषयकी पुकार समझकर विषयकी ओर ही खिंच जाता है। वास्तवमें कौन पुकार रहा है, उसको वह नहीं पहचान सकता। विषयोंमें इतना आकर्षण और इतना आनन्द कहाँसे आया, इस बातको वह नहीं समझ सकता। इसीसे महर्षि व्यासने कहा है—

> दृष्ट्वा कुमुद्वन्तमखण्डमण्डलं
> रमाननाभं नवकुङ्कुमारुणम्।
> वनं च तत्कोमलगोभिरञ्जितं
> जगौ कलं वामदृशां मनोहरम्॥
>
> (श्रीमद्भा० १०। २९। ३)

भगवान् श्रीकृष्ण लक्ष्मीजीके वदनकमलके सदृश लावण्य-युक्त अरुणवर्ण कुमुदविकासी पूर्णचन्द्रको और उसकी सुशीतल

किरणोंसे श्रीवृन्दावनको आलोकित देखकर कमलनयना व्रजाङ्गनाओं-के मन हरण करनेके लिये मधुर स्वरसे गान करने लगे। यह मुरली भगवान्‌की मोहिनी मुरली है। यही उनकी योगमाया (योग+माया) है। इसी वंशीकी ध्वनिसे मोहित होकर जीव इधर-उधर दौड़ रहा है। सभी विश्वमनमोहन आनन्दघन श्रीकृष्ण-को खोज रहे हैं। जो विषयोंमें इस वंशीकी ध्वनिको सुनते हैं, वे भी मुग्ध हो जाते हैं, वे विषयोंके आनन्दमें मग्न रहते हैं। इस योगमायाका आधा भाग माया है। दूसरा अर्धभाग योग है—वह योगरूप वंशी भी न मालूम कितने लोगोंको मुग्ध करती है, परन्तु वह करती है उन्हींको जो 'कृष्णगृहीतमानसा' हैं, दूसरों-को नहीं। जो इन्द्रियसर्वस्व भौतिक शरीरको ही 'मैं' समझते हैं, वे मायाके फन्देमें पड़ते हैं, वे योग-मायाके 'योग' को उपलब्ध नहीं कर सकते।

जगके अति कोलाहलमें वह वाणी है मिल जाती।
योगिजनोंको महाशून्यमें सोई ध्वनि सुन पाती॥

इसीलिये सम्भवतः पूज्यपाद वेदव्यासजीने मूल श्लोकमें 'कलं' शब्द दिया है। 'कलं' का अर्थ है जो मधुर होनेके साथ ही अस्पष्ट है। यह अस्पष्ट मधुर शब्द हमारे कानोंको कितना तृप्त करता है, यह कहा नहीं जा सकता। अस्पष्टभाषी शिशु अपनी तोतली बोलीसे माता-पिताके कानोंमें कितना अमृत बरसाता है। इसी प्रकार पति-पत्नीकी 'कल' भाषा उनको परस्पर आनन्द-विह्वल कर देती है। इसी प्रकार योगी और भक्तके लिये भगवान्‌-

का जो मधुर शब्द गुञ्जायमान होता है, वह भी अस्फुट और मधुर होता है। बाहरके लोग उसको न समझ सकें, इसीलिये वह अस्फुट है, परन्तु भक्त उसे समझता है, भक्तके प्राण तो उसे सुनते ही मोहित हो जाते हैं, वह 'मधुरं मधु' है, मधुरका भी मधु है।

इसीलिये इस मधुर पुकारको भागवतमें 'अनङ्गवर्धन' कहा गया है। 'निशम्य गीतं तदनङ्गवर्द्धनम्'। अर्थात् विषय-काम (ना) तो हमारे हैं ही! श्रीकृष्ण-काम (ना) सहजहीमें नहीं होती, परन्तु इस मधुर ध्वनिके सुनते ही उनके हृदयमें प्रेममयके साथ मिलनेका एक तीव्र वेग उत्पन्न हो गया। इसीलिये भागवतकारने इस वंशीगीतको 'अनङ्गवर्द्धन' गीत कहा है।

यह गान ही भगवन्मुखी आकर्षण है। यह आकर्षण सारे बन्धनोंको तोड़ डालता है। व्यासजी इस अनङ्गवर्धन गीतकी बात कहकर फिर इसका विशेषण देते हैं 'वामदृशां मनोहरम्'।

यह संसार और इस संसारकी सभी वस्तुएँ असार हैं। सार तो केवल वह आनन्दरस-सिन्धु भगवान् ही हैं, पर इस बातको वही समझ सकते हैं जो 'वामदृशा' अर्थात् निर्मल ज्ञान-सम्पन्न हैं। ऐसे निर्मल ज्ञानी पुरुषोंको छोड़कर संसारासक्त सामान्य जीव मनोमोहिनी मुरली कैसे सुन सकेंगे?

इससे यह समझ लेना चाहिये कि गोपियोंका श्रीकृष्णप्रेम कितना अध्यात्म-तत्त्वसे पूर्ण है। इसमें कामगन्धका तो कहीं लेश भी नहीं है। उस विराट् मधुर भावका लोगोंको आस्वादन करानेके

लिये केवल लौकिक कामकेलिके साथ इसे एक करके वर्णन किया गया है। इसमें नाममात्रके लिये भी अंग-संगकी लिप्सा नहीं है। इसीसे शास्त्रने कहा—

प्रेमैव गोपरामाणां काम इत्यगमत् प्रथाम्।
इत्युद्धवादयो ह्येनं वाञ्छन्ति भगवत्प्रियाः॥

व्रजगोपियोंका स्वाभाविक भगवत्-प्रेम ही साधारणतः 'काम' कहा जाता है। भगवान्‌के परमभक्त उद्धवादि महात्मागण भी इन गोपियोंके कामको प्राप्त करनेकी इच्छा किया करते हैं। श्रीकृष्णके द्वारा वृन्दावन भेजे हुए उद्धव गोपियोंकी कृष्णभक्तिका परिचय पाकर भुजा उठाकर कहते हैं—

अहो भाग्यमहो भाग्यं नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।३२)

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६२)

वन्दे नन्दव्रजस्त्रीणां पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां हरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥
(श्रीमद्भा० १०।४७।६४)

अहो! इन नन्दादि व्रजगोपोंके बड़े भाग्य हैं—धन्य भाग्य

हैं, क्योंकि परमानन्दस्वरूप पूर्ण, सच्चिदानन्द ब्रह्म स्वयं उन्हें बन्धुरूपमें प्राप्त हैं।

इन गोपियोंने दुस्त्यज स्वजनोंकी और आर्यधर्मकी परवा न कर वेदोंमें जिसकी खोज होती है उस मुकुन्द-पदवीको पा लिया हैं। ये सर्वथा धन्य हैं। मेरी आकांक्षा है कि मैं अगले जन्ममें इनके चरणकी रज जिनपर पड़ती हैं, उन वृन्दावनकी लता-ओषधि और झाड़ियोंमेंसे कोई-न-कोई अवश्य होऊँ।

मैं इन सब नन्द-व्रजकी सुन्दरियोंकी चरणधूलिको बारंबार नमस्कार करता हूँ। इनके द्वारा गाये हुए हरि-कथा-गीत तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले हैं।

इस गोपीप्रेममें सचमुच त्रिभुवन-पावनी शक्ति भरी है। यह साधारण मानव-मानवीकी कामवेग-जनित आसंग-लिप्सा नहीं है। यह वह काम है जो अन्यान्य सम्पूर्ण कामोंको भस्म करके भक्तको भगवत्-चरणारविन्दका भिखारी बना देता है। इसीसे प्रेमिक कविने गाया है—

स्याम-नामकी मधुरता, अतुल अकथ्य अपार।
रसना रसिका याहितें, नहिं छाँड़त छिन वार॥
काननतें हिय महँ प्रविसि, देख्यो मर्मस्थान।
आतुरता बाढ़ी अमित, भये विकल मम प्रान॥
नाम लेत परबस भई, जाके हे सखि! आज।
कैसे मिलिहैं मोहिं सो, जीवन-धन व्रजराज॥
जाके नाम-प्रतापतें, भई दसा असि मोरि।
परस भये ह्वैहै कहा, कहु सखि! कहौं निहोरि॥

यह तो उनका मधुर नाम और वह आनन्दविग्रह श्यामसुन्दर श्रीकृष्ण ! अहा उस आनन्दके लावण्यसे सना हुआ कृष्ण-रूप जिसने कभी देखा है उसका मन क्या कभी इस संसारके सुखमें रम सकता है ? इसीलिये व्रजगोपियोंने विरहकातर होकर कहा था—

> व्रजजनार्तिहन् वीर योषितां
> निजजनस्मयध्वंसनस्मित ।
> भज सखे भवत्किङ्करीः स्म नो
> जलरुहाननं चारु दर्शय ॥
> (श्रीमद्भा० १० । ३१ । ६)

हे व्रजके दुःखनाशक ! हे वीर ! हे बन्धो ! तुम्हारी मधुरी हँसीको निरखकर उनका अहं-अभिमान मिट जाता है जो तुम्हें अपना निज जन समझते हैं । हम तुम्हारी दासी हैं, हमें ग्रहण करो, अपना सुचारु वदनारविन्द एक बार दिखलाओ । तुम 'प्रणतदेहिनां पापकर्षणम्' हो, तुम्हारे चरण प्रणत-जनोंका पाप नाश करनेवाले और 'प्रणतकामदं पद्मजार्चितं धरणिमण्डनं ध्येयमापदि' उनकी मनोवाञ्छा सिद्ध करनेवाले, ब्रह्माजीके द्वारा सदा पूजित, धरणीके भूषणस्वरूप और मृत्युकालमें (महान् विपत्तिके समय) चिन्तन करने योग्य हैं ।

> सुरतवर्द्धनं शोकनाशनं
> स्वरितवेणुना सुष्ठु चुम्बितम् ।
> इतररागविस्मारणं नृणां
> वितर वीर नस्तेऽधरामृतम् ॥
> (श्रीमद्भा० १० । ३१ । १४)

'हे वीर ! जिसके पान करनेसे समस्त शोक नष्ट हो जाता है, परमानन्दकी वृद्धि होती है, जो सब प्रकारके भोगसुखोंको भुला देता है, तुम्हारा वह मुरली-चुम्बित अधरामृत हमें प्रदान करो ।' इसमें क्या किसी कामोपभोगकी बात समझमें आती है ? यह अधरामृत ही तो सर्वानन्दसार सर्वरसश्रेष्ठ है । अधिक क्या, यह परमानन्दका दिव्य मधुर मिष्टान्न है । इस परमानन्दस्वरूपको लक्ष्य करके ही एक विह्वल भक्त उच्च स्वरसे घोषणा कर रहा है—

नाहं विप्रो न च नरपतिर्नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर्नो वनस्थो यतिर्वा ।
किन्तु प्रोद्यन्निखिलपरमानन्दपूर्णामृताब्धे-
र्गोपीभर्तुः पदकमलयोर्दासदासानुदासः ॥

(सार्वभौमभट्टाचार्यस्य)

तभी तो गोपवनिताएँ उनके रूपपर मुग्ध होकर, उनकी वंशी-ध्वनिसे आकृष्ट हो, उनसे मिलनेके लिये पति, पुत्र, संसार, आत्मसम्मान—सभी कुछ त्याग करके उस गहरी रातके समय वृन्दारण्यके निर्जन प्रदेशके अंदर जाकर उपस्थित हुई थीं । वनमें चारों ओर हिंसक पशु विचरण कर रहे हैं, सैकड़ों दंशक सर्प-बिच्छू रास्ता रोके पड़े हैं, कण्टकाकीर्ण कठोर वनके पथमें पद-पदपर गिरने और काँटे बिंधनेका अंदेशा है; परन्तु इन सब बातोंकी उन्होंने कोई परवा नहीं की । मार्गके विघ्न तथा गृह और धर्मकी बाधाएँ उन्हें श्रीकृष्ण-मिलनके अभिसारसे न रोक सकीं ।

जिस प्रकार नाना दिशाओंसे, विविध बाधा-विघ्नोंको लाँघती हुई नदियाँ समुद्रमें आ मिलती हैं उसी प्रकार गोपाङ्गनाओंकी

हृदय-सरिता श्रीकृष्णके प्रेम-समुद्रमें जाकर मिलनेकी आशासे द्रुतगतिसे उनके समीप दौड़ी आयीं। आत्मीय स्वजनोंकी बातपर कान न देकर, शिशुओंके स्नेहकी उपेक्षाकर, अपने भविष्यकी कोई बात बिल्कुल न सोचकर, मानापमानकी कुछ भी चिन्ता न कर, अपने जीवन-यौवनको श्यामसुन्दरके चरण-कमलोंमें समर्पण करनेके लिये वे टूटे बाँधवाली नदीकी तरह प्रचण्ड वेगसे, आकुल होकर, उनके पास दौड़ी आयीं। अब न उनके लौकिक दृष्टि हैं और न शरीरका ही ध्यान है, समाजकी बाततक सोचनेका उन्हें अवकाश नहीं है। संक्षेपमें अब वे अपने अधिकारमें नहीं रही हैं! यह आकर्षण, यह उन्मत्तता क्या थी, इसे वही समझ सकता है जिसका चित्त सर्वथा शुद्ध और सुनिर्मल हो चुका है। हृदयमें दारुण व्याकुलताके रूपमें इस आकर्षणका प्रथम आविर्भाव समझा जा सकता है। कामार्तका कामिनीमें, भूखेका अन्नमें और कृपण-का धनतकमें भी, मालूम होता है, इतना आकर्षण नहीं है! जब इस प्रकार व्याकुलचित्त होकर गोपाङ्गनाएँ सामने आ खड़ी हुई तब उन्हें देखकर रसिकशेखर श्रीकृष्ण बोले—

'हे महाभागाओ! तुम सब सुखपूर्वक तो आ गयीं? अब तुम्हारा कौन-सा इष्ट साधन करूँ, बतलाओ। व्रजमें कुशल-मंगल तो है? तुम्हारे यहाँ आनेका क्या कारण है? इस समय घोर रात्रि है, इधर-उधर भयंकर जीव घूम-फिर रहे हैं, इसलिये तुम जाओ, व्रजको लौट जाओ। हे सुमध्यमाओ! इस स्थानमें अबलाओं-का रहना उचित नहीं है। तुम्हारे माता-पिता, पुत्र-भ्राता और

पति तुम्हें न देखकर तुमलोगोंको खोज रहे हैं। उनके मनमें आशङ्का उत्पन्न मत करो। कुसुमित कानन पूर्णिमाके चन्द्रकी किरणोंसे रञ्जित हो रहा है। यमुनानिलकी लीलागतिद्वारा कम्पायमान तरुपल्लवोंमें चन्द्रमाकी शोभा छा रही है। तुमलोग यदि यही सब शोभा देखनेके लिये आयी हो तो देख चुकीं, अब घरको लौट जाओ, देर न करो। तुम सती स्त्री हो, घर जाकर अपने-अपने पतिकी सेवा करो। बालक-बछड़े रो-पुकार रहे हैं, जाकर उन्हें दूध पिलाओ। और यदि मेरे प्रति अपने चित्तमें स्नेह होनेके कारण आयी हो, तो भी कोई दोषकी बात नहीं; क्योंकि मुझसे प्राणिमात्रको ही प्रसन्नता होती है। हे कल्याणियो! अपने स्वामी और स्वामीके बन्धुगणोंकी निष्कपट होकर सेवा करना और सन्तानोंका प्रतिपालन करना ही नारियों-का परम धर्म है। अपातकी स्वामी चाहे दुःशील, भाग्यहीन, वृद्ध, जड़ और निर्धन भी क्यों न हो, शुभगति चाहनेवाली पत्नीके लिये उसका त्याग करना कर्तव्य नहीं है। कुल-कामिनियोंको जार-सेवन-कर्म उनके स्वर्गसे गिरनेका प्रधान कारण है और वह अकीर्तिकर, तुच्छ, दुःख-सम्पाद्य, भयदायक तथा सर्वत्र निन्दित है!'

श्रीकृष्णके मुखसे यह सब बातें सुनकर गोपिकाएँ एकटक होकर देखने लगीं। पर श्रीकृष्ण दृढ़ रहे, वे केवल रोने-धोनेसे भुलावेमें आनेवाले नहीं हैं। गोपिकाओंके लिये श्रीकृष्णने जो उपदेश दिया, उससे अधिक मधुर और सुन्दर उपदेश और क्या हो सकता है?

इस उपदेशका उत्तर देना भी साधारण बात नहीं। अतएव भक्तिमती, प्रतिभाशालिनी गोपिकाओंने श्रीकृष्णकी बातोंका कोई प्रतिवाद नहीं किया और न अपने पक्षमें कोई युक्ति ही दिखलानेकी इच्छा की। वे कातरहृदय और व्याकुलप्राणसे अपने हृदयकी वेदना-पूर्ण भीषण व्याकुलताको ही प्रकट करने लगीं। यह व्याकुलता ऐसी अनोखी है कि भक्त-हृदयमें बस, सुधा ही बरसाती है। गोपियाँ कहती हैं—

'हे विभो! इस प्रकारके निष्ठुर वचन कहना तुम्हारे लिये उचित नहीं है। हमने सारे विषयोंका त्याग करके तुम्हारे पाद-मूलका ही भजन किया है। जिस प्रकार देव आदिपुरुष मुमुक्षुजनोंको ग्रहण करते हैं उसी प्रकार तुम भी हमें ग्रहण करो। हे धर्मवित्! तुमने हमें जो यह उपदेश दिया कि पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंकी सेवा करना ही स्त्रियोंका स्वधर्म है, इस उपदेशका पालन तुम्हारी सेवाके द्वारा ही होगा। कारण, तुम्हीं समस्त शरीर-धारियोंके आत्मा और बन्धु हो, अतएव नित्यप्रिय हो। पति-पुत्रादि तो दुःखप्रद हैं, उनसे कोई लाभ नहीं। इसीलिये तो पण्डितजन भी तुम्हींसे प्रेम किया करते हैं। अतएव हे परमेश्वर! हमपर प्रसन्न होओ, हम अनेक दिनोंसे जिस आशाको धारण करती आ रही हैं, उसे भंग मत करो। हमारा चित्त, जो अबतक घरोंमें ही लगा हुआ था, तुमने चुरा लिया है। हमारे दोनों हाथ गृहकार्यमें लगे हुए थे, उन्हें भी तुमने उधरसे अपनी ओर खींच लिया है। हमारे दोनों पैर तुम्हारे पादमूलको छोड़कर एक डग भी

चलना नहीं चाहते । अतः अब हम कैसे व्रजको जायँ और जाकर भी क्या करें ? हे कमलनेत्र ! तुम्हारे चरणतलने लक्ष्मीको भी यदा-कदा आनन्द प्रदान किया है, अरण्यजन तुम्हारे प्रिय हैं । यही सोचकर जबसे हमने तुम्हारा पाद-स्पर्श किया है और तुमने उससे हमें आनन्दित किया है, तबसे अब हममें और किसीके निकट रहनेकी सामर्थ्य नहीं रह गयी है । हे भगवन् ! जिनके कृपा-कटाक्षके लिये अन्यान्य देवगणतक सदा प्रयास किया करते हैं, जिन्होंने तुम्हारे हृदयमें स्थानलाभ किया है, वह लक्ष्मीजी भी तुलसीसहित तुम्हारे भृत्यगणसेवित चरणरजकी ही कामना किया करती हैं; आज उसी प्रकार, लक्ष्मीजीकी भाँति, हम भी तुम्हारी उस पद-रजकी शरण हुई हैं । हे पापनाशन ! हम तुम्हारी उपासना करेंगी, इसी आशासे गृह त्यागकर तुम्हारे चरणोंमें आकर उपस्थित हुई हैं । हे सुन्दर ! तुम्हारे त्रिभुवन-प्रिय रूपका दर्शन कर और दीर्घमूर्छित सुन्दर पद-युक्त वेणुगीतको श्रवणकर तीनों लोकोंमें कौन ऐसी नारी है जो विचलित न होती हो ? हमें यह स्पष्ट ज्ञात हो रहा है कि जिस प्रकार आदिपुरुष भगवान्‌ने देवताओंके रक्षकरूपसे जन्म ग्रहण किया था उसी प्रकार तुमने भी व्रजवासियोंके भय और आर्तताको हरण करनेके लिये जन्म धारण किया है । अतएव हे आर्तजनबन्धो ! तुम हमारे मस्तक और उत्तप्त हृदयपर अपना करकमल स्थापित करो, हम तुम्हारी दासियाँ हैं ।'

गोपियोंकी इस प्रार्थनामें आर्तिभावके साथ भक्तिका कैसा

अपूर्व सम्मिश्रण है। गोपियोंकी इन बातोंका सार मर्म यह है कि 'हे अखिल-जन-बन्धो! हे परम सुन्दर! यदि तुम संग-दान करोगे ही नहीं, यदि क्षणभर दर्शन देकर, सदाकी भाँति छिपे ही रहोगे तब तो दर्शन न देना ही अच्छा था; क्योंकि हमारा मन तो संसारमें खूब रमा हुआ था, वह तुम्हारी वंशीके आवाहन-सुरको सुनकर बिगड़ गया। जिसे चरण-सरोजमें स्थान देनेकी इच्छा नहीं थी उसे अपनी माधुरीका रसास्वादन क्यों कराया? हमने तो तुमसे इस प्रकारकी नजरसे हमारी ओर देखनेको कहा नहीं था! तुम्हारी नजर मामूली नहीं है, वह एक बार जिसपर पड़ती है, उसके संसारको हर लेती है, इस बातको क्या तुम जानते नहीं? क्या तुम नहीं जानते कि जिस क्षण तुमने हमारी ओर देखा था, उसी क्षण हमारा संसार-बन्धन शिथिल हो गया था। हमारे ऊपर अब हमारा कोई अधिकार नहीं रहा, हे छलिया! यह क्या तुम नहीं समझते? तुम्हारे वंशी-स्वरसे फूल-फूलसे सुगन्ध फूट निकलती है, आम्र-मुकुलमें रस भर उठता है, कोयल अपने आपको भूलकर पञ्चम स्वरमें गा उठती है, मयूर पंख फैलाकर ताल-तालपर नाच उठते हैं, वन-लताएँ नवमञ्जरीसे छा जाती हैं, विहग-विहगी आनन्दसे कुञ्जवन-में कलरव करने लगते हैं और भ्रमर-भ्रमरी गुञ्जार आरम्भ कर देते हैं तथा नर-नारियोंका हृदय अकारण ही आनन्दसे सिहर उठता है। इन्द्रियाँ जो किसी प्रकार भी विषयको भूलना नहीं चाहती थीं, तुम्हारे वंशी-निनादसे सब कुछ भूल जाती हैं। इस प्रकार

जगत्‌को उलट-पलट कर देनेवाली अपनी शोभाश्री तुम क्यों प्रकट करते हो ? सारे बखेड़ेकी जड़ तो यही है । इस अवस्थामें तुम्हारे पाससे जाना चाहकर भी क्या हम जा सकेंगी ? ये पैर तुम्हारे निकटसे कहीं भी जाना नहीं चाहते, ये नेत्र तुम्हारे रूपको छोड़-कर और कुछ भी देखना नहीं चाहते, ये कान और कुछ भी सुननेकी शक्ति नहीं रखते, हम क्या करें ? हमारी इन्द्रियाँ क्या अब हमारे वशमें हैं जो वापस जाकर हम गृहस्थीका धन्धा करें ?'

अन्तिम श्लोकमें गोपियोंने श्रीकृष्णसे जो उनके जलती हुई छातीपर हाथ रखनेका अनुरोध किया है, इससे भी गोपिकाओंका प्राकृत काम-भाव प्रकट नहीं होता । वे श्रीकृष्णको कितना चाहती हैं और उनके लिये उनके प्राण कितने व्याकुल हैं, केवल यही बात इससे प्रकट होती है । जब किसी विषयपर हम गम्भीरता-पूर्वक सोचते-विचारते हैं, अथवा किसी वस्तुके लिये हम व्याकुल हो उठते हैं, तो स्वाभाविक ही हमारा मस्तिष्क गर्म हो उठता है; और हृदयकी धुकधुकी भी जल्दी-जल्दी चलने लगती है । जबतक चिन्ताके वेगका ह्रास नहीं होता तबतक न तो माथा ठंडा होता और न हृदय ही शीतल होता है । इसीसे वे कहती हैं कि, तुम्हारे शब्दोंसे हम कितनी अधिक व्याकुल हो गयी हैं, इस बातका पता तुम्हें हमारे मस्तिष्क तथा हृदयपर हाथ रखते ही लग सकता है । इससे अपने प्रति तुम्हारा सदयभाव समझकर भी हम निश्चिन्त हो जायँगी । और फिर तुम्हारा यह मंगल-जनक एवं अभयप्रद कर-कमल, इससे जहाँ तुमने हमें स्पर्श किया, बस, हमारी सारी

शंकाएँ नष्ट हो जायँगी, इस भगवत्कर-स्पर्शसे हृदयमें अपार्थिव आनन्दका सञ्चार होगा। गोपियाँ श्रीकृष्णको साक्षात् भगवान् समझती थीं (इसके प्रमाणस्वरूप उनके द्वारा कथित भागवतके अनेक श्लोक मौजूद हैं) और इसी कारण निष्कपट और निस्संकोच-भावसे सारी बातें उनके सामने प्रकट करनेमें उनके मनमें कोई अटक नहीं हुई। नहीं तो परपुरुषके पास स्त्रियोंको एकत्रित होकर इस प्रकार आत्म-प्रकाश करना किसी प्रकार भी सम्भव न होता। भागवतको भलीभाँति पढ़नेसे भागवतकारका यह प्रतिपाद्य स्पष्ट समझमें आ जाता है कि संसारमें जितने प्रकारके भाव हैं और उन भावोंके अनुरूप जितने प्रकारके सम्बन्ध स्थापित होते हैं वे लौकिक दृष्टिसे कितने ही बन्धनके कारण क्यों न हों, उनके भगवत्सम्बन्धी हो जानेपर वे दोषयुक्त नहीं समझे जाते। जो साधारणतः मुक्तिका विरोधी है वही भगवत्सम्बन्धी होकर मुक्तिका मार्ग खोल देता है। भगवत्स्मरणकी यही तो महिमा है कि अनिच्छा-पूर्वक भी उनका स्मरण करनेसे हृदयग्रन्थि ढीली पड़ जाती है। किसीके काम-भावसे भी उन्हें चाहनेपर वह उसकी कामना पूर्ण करके उसके अन्तःकरणसे चिरकालीन कामनाका मूलोच्छेदन कर देते हैं। जैसे बेजाने भी अग्निमें हाथ पड़नेसे वह जलेगा ही, विष-पान करनेसे उसका असर होगा ही, वैसे ही अपरोक्ष या परोक्ष किसी भी प्रकार भगवान्‌का स्मरण होनेसे संसार-बन्धन टूट जायँगे। जैसे लोहा अङ्गाराम्ल-वायुके संस्पर्शमें आनेसे ही क्षयको प्राप्त होता है वैसे ही इच्छासे हो या अनिच्छा-

से भगवान्‌का स्मरण करनेसे मनुष्यको मुक्ति मिलेगी ही। कामसे, क्रोधसे, द्वेषसे, भयसे, स्नेहसे, भक्तिसे अथवा किसी अन्य सम्बन्ध-से जिनका चित्त अच्युतकी चिन्तामें सदा निविष्ट रहता है उन्हें तन्मयता प्राप्त होती है, यही भागवतकारका गूढ़ अभिप्राय है।

किन्तु मैं पहले ही कह चुका हूँ कि गोपिकाओंकी यह संगमेच्छा स्थूल शरीरकी आसङ्ग-लिप्सा नहीं थी। यह पूर्ण आध्यात्मिक थी। अब यहाँ यह बतलाना चाहता हूँ कि उनकी स्थूल शरीरके सम्बन्धकी इच्छा क्यों नहीं थी। अखिल प्राणियोंके आत्मा, प्रेमपारावार, प्राणकान्त श्रीकृष्णको जब गोपियोंने कान्त-भावसे ग्रहण किया, तब उनके संग-प्रभावसे उनकी सांसारिक बुद्धि शिथिल हो पड़ी, मोहका परदा हट गया, नेत्रोंके सामने अखिलजन-हृदयेश्वरका अनुभव करके वे भूमानन्दमें विभोर हो गयीं, प्रेमानन्द हृदयमें भरकर उछलने लगा। उनका जीवन, मन, श्रवण, नेत्र सभी कुछ विश्वविमोहन, अखिल जगत्‌के प्राण, सर्वभूतात्मा श्रीकृष्णको अर्पित हो गया। वे यह भूल गयीं कि हम कौन हैं। हम स्त्री हैं या पुरुष, यह बात उनके ध्यानमें नहीं रही। इस प्रकार उन्हें शरीर और संसारकी सुधि-बुधि नहीं रही। वे एकदम समाधिमग्न होकर ब्रह्मानन्दमें डूब गयीं। इसका प्रमाण भागवतमें मौजूद है—

ता नाविदन् मय्यनुषङ्गबद्ध-
धियः स्वमात्मानमतस्तथेदम्।
यथा समाधौ मुनयोऽब्धितोये
नद्यः प्रविष्टा इव नामरूपे॥

(श्रीमद्भा० ११। १२। १२)

गीतामें भगवान्‌ने भक्तके जो लक्षण वर्णन किये हैं, उनपर विचार करनेसे समझमें आ जाता है कि भक्त पूर्णशक्तिसम्पन्न होते हैं। अर्थात् भक्तका शरीर, मन तथा उसकी बुद्धि सुचारुरूपसे विकसित होकर उसे अद्भुतकर्मा, असीम तीक्ष्ण बुद्धियुक्त, परदुःखकातर तथा मोहरहित बना देती है। सौभाग्यसे जिनकी इस प्रकारकी अवस्था होती है वे आप्तकाम हो जाते हैं, उनकी कामना जगत्‌के किसी पदार्थ अथवा भोगमें आसक्त नहीं हो सकती। उनकी कामनाका एकमात्र विषय भगवत्-संग ही होता है। हमारी इन्द्रियोंमें जो चञ्चलता है, यह अनामय-अवस्थाकी सूचक नहीं; इससे तो इन्द्रियोंकी दुर्बलताका ही पता लगता है। इन्द्रियाँ अपनी चञ्चलताके छूटनेपर ही सर्वतोभावसे भगवान्‌को पानेके लिये व्याकुल हो सकती हैं, और किसी अवस्थामें नहीं। यही कारण है कि शास्त्र और आचार्यगण इन्द्रियवृत्तियोंके दमन करनेको ही कल्याणकारी बतलाते हैं। वस्तुतः इन्द्रियोंकी वृत्तियोंके दमित हुए विना कोई भी पुरुष आत्मस्थ नहीं हो सकता। आत्मस्थ पुरुषको छोड़कर कोई निष्काम कर्म अथवा व्रज-गोपिकाओंके प्रेमके गूढ़ तत्त्वको नहीं जान सकता। ओज-धातु ही हमारे ज्ञान, भक्ति या निष्काम कर्म—सबका मूल है। यह धातु जिसमें जिस परिमाणमें सञ्चित होती है वह उसी परिमाणमें जीवनमें सफलता प्राप्त करता है। शरीरमें शुद्ध रक्त रहनेसे जैसे शरीर नीरोग रहता है, उसी प्रकार जिस मनुष्यमें जितनी ओज-धातु बढ़ती रहती है उसके चित्तमें उतने ही परिमाणमें बुरे विचार दूर होकर अच्छे

विचार आने लगते हैं। बुरे विचारोंके नाश हुए विना न तो चित्त शुद्ध ही होता है और न ध्यान तथा ज्ञान ही उसमें ठहर सकते हैं। आत्मसंयमरूपी योगाग्निमें शरीरकी प्रधान धातुको और मनको होम देनेसे विशुद्ध सत्त्वमय ओज-धातु उत्पन्न होती है, उसीके प्रभावसे हमारे दिव्य चक्षु खुल जाते हैं, दिव्य शक्तिका विकास और दिव्य ज्ञानका उदय होता है। यदि शरीरकी प्रधान धातु चञ्चलताके कारण नाना प्रकारसे नष्ट हो जाती है तो भगवान्‌को पाना तो दूर रहा, किसी सांसारिक वस्तुके प्राप्त होनेकी भी सम्भावना नहीं रहती। अतएव गोपिकाएँ, जो श्रीभगवान्‌को जान सकी थीं, इसीसे सिद्ध होता है कि वे अकामा थीं, उन्हें सांसारिक भोग-रसोंमें कामना नहीं थी और वे वीर्यवती थीं।

इसके अतिरिक्त भगवान्‌के समीप होनेके कारण उनका हृद्रोग नष्ट हो गया था, सुतरां यह स्पष्ट है कि उनका चित्त विशुद्ध होकर सत्त्वसंशुद्धिकी अवस्थाको प्राप्त हो चुका था। इस अवस्थामें अपने-परायेका भेद नहीं रहता। स्त्री-पुरुषरूप ज्ञान नहीं रहता, जड़-चेतनका गोरखधन्धा नहीं रहता। उस समय तो केवल 'तुम हो और मैं हूँ' ऐसी अवस्थामें बाहरी कामभावना किस प्रकार रह सकती है? योगी लोग कहा करते हैं कि इस अवस्थामें स्थित होनेपर भीतरसे स्वाभाविक ही सूक्ष्मभावसे ओंकारकी ध्वनि उठा करती है। स्थिरचित्तका यही एक विशेष स्वभाव है। मन स्वतः ईश्वरमुखी होकर यदि कहीं रुकने लगे तो उसको वहाँसे हटाकर लौटानेका एक सुन्दर उपाय ओंकारकी ध्वनि ही है। यही श्यामसुन्दरकी

मुरलीकी तान है। ओंकारका जप शुरू हुआ कि मन सब विषयों-से लौटकर आत्मविषयिणी स्थिरा बुद्धिमें प्रवेश करने लगता है। तब प्राणोंकी सौर (सूर्य) ज्योति, मनकी सूक्ष्म चन्द्रज्योति, सूक्ष्मसे भी सूक्ष्म सैकड़ों अंशोंमें विभक्त केशके अग्रभागके समान सूक्ष्म—किन्तु कोटि सूर्यके समान प्रकाश एवं कोटि चन्द्रके समान सुशीतल अग्निज्योतिमें प्रवेश करने लगता है। इतने बड़े विश्वमें भटकनेवाला मन एक अणु-परमाणुके समान सूक्ष्मातिसूक्ष्म बिन्दुके मध्य विलीन होने लगता है। इसीको ब्रह्मानुभूति अथवा ब्रह्मकी प्राप्ति कहते हैं। यही गोपिकाओंका श्रीकृष्णके साथ मिलना वा रमण है। फिर आलिङ्गनका अभिप्राय क्या है? मैं तुमसे अलग नहीं हूँ, तुममें प्रवेश करनेमें, तुम्हारेमें आत्मसमर्पण करनेमें ही मेरी सार्थकता है। बस, यह बोध होने लगता है। तब एक निर्मल आनन्दकी विमल धारा किनारोंतक उमड़ उठती है। इसी विपुल रसके ज्ञानका दूसरा नाम प्रेम है। इसके पश्चात् साधक शब्द और ज्योतिके आगे बढ़कर जिस धाममें प्रवेश करता है वही परमधाम है। वही अव्यक्त अवस्थामें आत्मविसर्जन है। वह सब कुछ भूल जानेवाला देश है। वहाँ पहुँच जानेपर सारा चाहना-पाना मिट जाता है। एक बार जो वहाँ प्रवेश कर पाता है, वह फिर लौटता नहीं। 'यद्गत्वा न निवर्तन्ते', यह श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है। इसीके लिये ही मृत्युपर्यन्त साधना, जन्मजन्मान्तरोंसे न जाने कितने यत्न और कितनी तपस्या करनी पड़ती है।

तुरीय अर्थात् चतुर्थ अवस्थाकी प्राप्ति करनेके लिये साधकको

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओंको लाँघ जाना पड़ता है। इस चतुर्थावस्थाके प्रवेशद्वारपर ही रासरंगका विहार आरम्भ होता है। इसी समय गुरुका दिया हुआ ब्रह्ममन्त्र चैतन्य-लाभ करता है, जन्म-जन्मान्तरकी साधनाका फल फलता है। सर्वत्र ब्रह्मदृष्टि होने लगती है। गुरुदेव साधकको अविकारी देखकर पहले काम-बीज और काम-गायत्रीद्वारा साधनाका आरम्भ कराते हैं। यह साधना जितनी ही सिद्धिके समीप पहुँचने लगती है, उतनी ही भीतर अप्राकृत वस्तुका, अप्राकृत नवीन मदन-रसका आस्वादन मिलने लगता है। इसीका नाम अङ्ग-सङ्ग या विहार है। उस समय साधकके अंगमें हर्ष, स्वेद, कम्प और रोमाञ्चके लक्षण दीखने लगते हैं। अङ्ग-सङ्गका प्रधान फल जिस प्रकार गर्भधारण होता है वैसे ही यहाँ भी वह बीजप्रद पिता भक्त साधकके क्षेत्रमें अमोघ शक्तिका सञ्चार करते हैं, इसके फलस्वरूप साधकके अन्तः-करणमें अनन्त आनन्दका बीज फूट निकलता है।

> भ्रमिते भ्रमिते, कोन भाग्यवान जीव।
> गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्तिलता बीज॥

इस प्रकार वह अप्राकृत रसमय वस्तु हृदयगुहाके अंदर लोकचक्षुकी आड़में ही दिनों दिन बढ़ती जाती है। गर्भावस्था होनेपर जिस प्रकार रमणकी इच्छा नहीं रहती, इसी प्रकार इस सत्त्वयुक्त अवस्थामें जीवकी संसारवासना या भोगेच्छा नहीं रहती। इसके पश्चात् भक्त साधक परम सुकृतिके फलस्वरूप अपनी गोदमें ज्ञानरूप पुत्र अथवा पराभक्तिरूप सुकन्याको प्राप्त करता है।

सम्भोगावस्थामें भी द्वैतभाव एकदम नहीं मिट जाता। एक अखण्ड अद्वैतभावको उस समय परोक्षरूपसे देखा जाता है परन्तु उस समय भी उसका प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता। इसके पश्चात् इन्द्रियोंके साथ मन और अहं-वृत्तिका निरोध होकर पतञ्जलि ऋषिके शब्दोंमें 'सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य' की अवस्था प्राप्त होती है। इसीको संप्रज्ञात समाधि कहते हैं। उसके बाद इस अवस्थासे भी साधक जब और एक स्तर ऊपर उठता है तब 'संस्कारात्मक प्रकृतिरूपता' अवस्थाकी प्राप्ति होती है। यही योगियोंकी असंप्रज्ञात समाधि है—'तदेवाहम्' अर्थात् 'मैं वही हूँ' की अवस्था है। 'मैं वही हूँ' इस अवस्थाके परे इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता। इसके अनन्तर प्रकृतिके परेकी अवस्थामें पहुँचकर पुरुष अपने स्वरूपमें स्थित होता है, यही कैवल्यावस्था है। इस अवस्थामें चित्तमें संस्कारोंके ग्रहण करनेकी शक्ति नहीं रह जाती। माल्म नहीं कि सृष्टिके आरम्भसे आजतक कितने पुरुषोंके भाग्यमें इस अत्यन्त दुर्लभ अवस्थाकी प्राप्ति हुई है। साधारण जीवको संप्रज्ञात समाधि ही पर्याप्त होती है। क्योंकि 'अहं' भावके मिट जानेपर ही बहुत कुछ आगे बढ़ना हो जाता है। परन्तु यह भी बाह्य अवस्था है। किन्तु भक्त प्रेमी इस 'अहं' को छोड़ना नहीं चाहते। इसे छोड़नेमें उनके प्राणमें मानो एक प्रकारकी व्यथा होती है तो इसका अर्थ क्या यह नहीं है कि 'मैं' 'अपने' को अब भी छोड़ना नहीं चाहता? शरीर, मन, प्राण सबको प्रभुके चरणोंपर न्योछावर कर दिया गया है, यह सच है,

अब कोई भी अहंकार चित्तको मलिन नहीं कर सकता। यह भी ठीक है कि जगत्‌के किसी पदार्थ—किसी वाञ्छित वस्तुके प्रति बिल्कुल आकर्षण नहीं रहा है। तथापि तुम्हारा दास होकर तुम्हारी सेवा करना चाहता हूँ। यहाँ दूसरी कोई आकांक्षा नहीं रहती। केवल तुम्हारी प्रसन्नतामें ही मैं कृतार्थ हूँ। बस, इस अभिलाषाको मिटा देनेकी इच्छा नहीं होती। यद्यपि यहाँ 'न तु कामाय कल्पते' का भाव रहता है, तथापि सूक्ष्मभावसे इसमें जो कामना है उसे अस्वीकार करनेका भी कोई कारण नहीं है। यही निर्गुण और सगुण अवस्थाका भेद है। 'दूसरी कोई आशा नहीं है। कारण, तुम्हीं हमारे सब कुछ हो, हमारे सर्वस्वधन हो। किन्तु हे नाथ! तुम्हारे दर्शन-स्पर्शका जो आनन्द है उससे कभी वञ्चित न करना।' इसीका नाम सगुण है। यह अत्यन्त उच्च अवस्था है, परन्तु सूक्ष्मभावसे यहाँ भी 'अहं अभिमान' रह जाता है। भक्तगण यहाँ आकर अड़ जाते हैं, यहाँसे हिलना नहीं चाहते। महाज्ञानी या प्रेमिक (जो कैवल्य अथवा निर्गुण-भक्तिको प्राप्त करते हैं) इतना अभिमान भी नहीं रखना चाहते। वे कहते हैं कि 'सब' रहनेपर 'तुम' नहीं रहोगे। ऐसा तो है नहीं। सबके अंदर वह 'तुम' ही तो प्रकट हो रहे हो। किन्तु यहाँ उनके अस्तित्वके साथ एक 'सब' का अस्तित्व मानो अलग रह जाता है, 'सब' उसमें मिलकर एक नहीं हो गया। 'इष्ट एवात्मनीश्वरे' 'हमारे' भीतर 'वही' दीखेंगे। तमालके पेड़को 'श्रीकृष्णके समान' समझना एक बात है और उसे 'श्रीकृष्ण ही' मानकर आलिंगन करना तथा

उससे श्रीकृष्णके स्पर्शामृतका आस्वादन करना बिल्कुल ही दूसरी बात है। उसका अभिप्राय यही है कि सब मिट जाय, सब छूट जाय, केवल 'तुम्हीं' रह जाओ। तुम्हारी महिमाके प्रकाशित करनेमें 'मेरी' 'मैं' जो एक महान् बाधा है—उसे दूर करना ही होगा। मुझे तुम्हारी महिमा प्रकाशित करनेके लिये यन्त्रस्वरूप बनानेपर भी अपनी स्वाभाविक अयोग्यताके कारण मैं उस महिमा-को प्रकट नहीं कर सकूँगा। जल स्वभावतः निर्मल होनेपर भी जिस रास्तेसे बहता है, वह रास्ता यदि दोषयुक्त हो तो उस जलकी निर्मलताका प्रकट होना असम्भव है। इसी प्रकार 'मैं' के रहनेसे ही, तुम्हारी महिमामें, तुम्हारे नित्य निर्मल स्वरूपमें मलिनता आ जायगी। इसको मैं सहन नहीं कर सकता। अतएव यह 'मैं' मर जाय—मेरी मृत 'मैं' के ऊपर तुम्हारी निष्कलङ्क ज्योत्स्नासे धुली हुई महिमा और भी अधिक उज्ज्वलरूपसे विकसित हो उठे। कोई देखनेवाला न रहे। इससे हानि ही क्या है? द्रष्टा और दृश्य दोनों पृथक् नहीं, इन दोनों अवस्थाओंमें व्याप्त होकर एक प्रज्ञानघन 'तुम्हीं' विराजमान हो रहे हो। इस प्रकार अपने 'मैंपन' अभिमानको निमग्न और निःशेष कर डालना ही प्रेमियों और ज्ञानियोंकी विशेषता है। इसीको पराभक्ति या ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं। यही पराकाष्ठा और परागति है। यही यथार्थ ब्राह्मी स्थिति है।

पराभक्ति अरु ज्ञानमें, तनिक नहीं कछु भेद।
'नारायण' सुख प्रेम है, कहैं संत अरु वेद॥
पराभक्ति वाकों कहैं, जित तित स्याम दिखात।
'नारायण' सो ज्ञान है, पूर्ण ब्रह्म लखात॥

रासरसके विलासमें गोपियाँ द्वैतानन्दके रसमें उन्मत्त हैं, किन्तु यह द्वैतानन्द पूर्ण अद्वैतमुखी है। यह नदी और सिन्धुका सङ्गमस्थल है। सुतरां यह अति पवित्र और परम तीर्थस्वरूप है। गोपिकाओंकी दूसरी कोई लौकिक दृष्टि नहीं, प्रगाढ़ ध्यानावस्थामें जो कुछ होता है, उनकी ठीक वही अवस्था है। देह-सम्बन्ध नष्ट हो चुका, इसलिये लोक-लज्जा अथवा और कोई अभिमान नहीं है। स्त्री-पुरुषका ज्ञान भी छूट गया है। अब तो प्रियतम प्राणस्वरूप श्रीकृष्ण ही वर्तमान हैं, और कुछ भी नहीं है। सारी इन्द्रियाँ उन्हें प्राप्त करके व्यस्त हैं, अन्य कुछ भी स्मरण करनेका उन्हें अवसरतक नहीं है। नाम-रूप मिट गये हैं, द्वन्द्व छूट गया है।

गोपियाँ कहती हैं—

तव कथामृतं तप्तजीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्।
श्रवणमङ्गलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः॥

(श्रीमद्भा० १०। ३१। ९)

तुम्हारा कथारूपी अमृत संतप्त पुरुषोंको जीवन प्रदान करता है, वह अमृतसे भी श्रेष्ठ है। ज्ञानियोंमें अग्रगण्य ब्रह्मादि देवगण उसकी स्तुति करते हैं, उससे काम्य कर्मोंका नाश हो जाता है, सुनते ही वह मंगल प्रदान करता है, तथा वह कर्ण-रसायन सुशान्त और मत्त बनानेवाला है। जो तुम्हारे कथारूपी

अमृतका पान करते हैं वे बहुदाता हैं अर्थात् अनेकोंको जीवन प्रदान करते हैं।

यहाँ गोपिकाओंके चित्तरूपी नदीसे नित्य प्रेमिक, नित्य लावण्यमय, साधन-दुर्लभ, सारे चित्तोंके पापोंको हरनेवाले, जगजन-मन-मोहन श्रीकृष्णके दिव्य हाव-भावकी तरंगें ही उच्छ्वसित हो रही हैं। उसीमें गोपिकाएँ विभोर हैं। विषयका कोई भी उन्माद वहाँ नहीं है। वे अत्यन्त शान्तचित्त हो गयी हैं, अतएव उनमें कामीजनोंके समान चञ्चलता नहीं है। यह जो प्रियतमके साथ आनन्द-सम्भोग है, इस आनन्दसे वे वञ्चित होना नहीं चाहतीं। कोई चाहे भी कैसे? इस प्रकारके सुन्दरका संग प्राप्त होनेपर यदि कुछ 'अहं' भी है, तो वह रहे। इसमें किसको आपत्ति होती है? यहाँ प्रेम भलीभाँति सुपक्व, रसयुक्त और उपादेय है परन्तु अभी उसका पूर्ण विकास नहीं हो सका है। निर्गुण-भक्ति और कैवल्य ज्ञान ही—प्रेम और ज्ञानकी पूर्ण परिणति है। वहाँ ज्ञान और प्रेमको चुनकर अलग नहीं किया जा सकता। दोनों एकमें ही मिल जाते हैं। वही पूर्ण अद्वैत तत्त्व है। इतना साधकको समझना ही होगा, नहीं तो साधना और भाव अपूर्ण रह जायँगे।

भगवान् ही एक अद्वितीय अखण्ड पुरुष हैं, यह तत्त्व हृदयमें अङ्कित कर देनेके लिये ही रासलीलाकी अवतारणा हुई है। भागवतमें वस्तुतः सत्य ही लिखा है कि इससे हृदयकी मलिनता सदाके लिये छूट जाती है। यह अद्वितीय भाव कितना स्पष्ट है,

इसे एक वार देखिये। जव भगवान् गोपियोंके साथ क्रीड़ा करने लगे, तब प्रत्येक गोपीने श्रीकृष्णको अपने साथ देखा। हम भी यही देखते हैं! जितने जीव हैं सब शिव हैं! जीव अनेक हैं परन्तु शिव वह एक ही हैं। जीवका जीवत्व भी तो इस शिवके ही कारण है, शिवके विना जीवकी कल्पना भी असम्भव है। इसलिये वास्तवमें जीव और शिव एक हैं। आधार भी आधेयसे अलग नहीं। वास्तविक वात तो यह है कि वहुत-से घड़ोंमें जल भरकर सूर्यके सामने रखनेसे प्रत्येक घड़ेमें सूर्य दीखता है, इससे क्या सूर्य अनेक हो जाते हैं? परमात्मा श्रीकृष्ण—सूर्य वह एक ही हैं। तथापि पात्र पृथक्-पृथक् हैं, इसीसे प्रत्येकके अन्तराकाशमें श्रीकृष्ण पृथक्-पृथक् प्रतीत होते हैं। जो पृथक् पात्रके अस्तित्वको भूलकर—एक अखण्ड पात्रमें—अविशेष क्षेत्रमें सूर्यको देखता है, उसकी दृष्टि विकसित होती है और जो इस अविशेष क्षेत्रस्थ सूर्यको प्रतिविम्बरूपमें समझ सकता है वही सम्यक्दर्शी है। इसके वाद जव यह समझा जाता है कि घट, जल और प्रतिविम्ब यह सभी उस सत्य सूर्यका ही प्रकाश और महिमा है, उसके विना इनमेंसे किसीका भी अस्तित्व नहीं तव तो जो कुछ है, सव उनका है या वही सव कुछ हैं। उन्हींकी शक्ति घट और घटस्थ जलके रूपमें एवं उसके अंदर प्रतिविम्बरूपमें प्रकाशित हो रही है। तुम, हम, घट, पट, जल आदि आवरणमात्र हैं। स्वप्नके समान, जाग्रदवस्थामें किसी अस्तित्वका पता नहीं लगता। जवतक अभिमान है, तवतक ही यह 'नानात्व' दिखलायी देता है। चित्तरूपसे द्रष्टाका दृश्यरूपमें रहना छूटते

ही सबका अन्त हो जाता है। तब केवल एक अखण्ड अद्वैत परमात्मा श्रीकृष्ण, सबको अपनी महिमामें व्याप्त किये हुए रह जाते हैं—केवल एक द्रष्टा सूर्यमात्र रहता है। यही मायाके परेकी कैवल्य अवस्था है। इस अवस्थाके उदय होते ही रासलीला-का अवसान हो जाता है। यही परमात्माका अपने स्वरूपमें स्थित होना है।

रासलीला क्या है? चक्राकारमें नृत्य करना, परन्तु यदि हमलोग चक्राकारमें नृत्य करें तो उसका नाम रासलीला नहीं होगा। श्रीकृष्णको केन्द्रमें रखकर जो नृत्य होता है, बस, वही असली रासलीला है। यह रासलीला नित्य है। इसका अन्त कहाँ है? नित्यवृन्दावनमें नित्यरासलीला हो रही है—पर 'भाग्य-वान जन कोई देखन पावे' किन्तु अनित्य रासलीला भी काल-प्रगतिके साथ हो रही है, मालूम नहीं इसका भी कब अन्त होगा? सभी जीव उस परमदेवको केन्द्र बनाकर क्या अलग-अलग एक-एक रासचक्रमें नहीं प्रवृत्त हो रहे हैं? यह संसार-चक्र भी तो वही रासचक्र है, परन्तु दृष्टि ही उलटी है। परमात्मा सब अवस्था-ओंमें केन्द्र होनेपर भी जीवका लक्ष्य उलटा हो गया है, इसीसे वे इस रासचक्रमें परमात्माके दर्शनजनित ब्रह्मानन्दको प्राप्त न कर संसारके आनन्दरहित (दुःखमय) स्रोतमें बहे जा रहे हैं। जबतक भोगेच्छा रहेगी तबतक यही उलटी रासलीला चलती रहेगी।

सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे इस रासचक्रकी भी

भिन्नता दिखलायी पड़ती है। जिसमें तामस और राजस भाव प्रबल हैं, उनकी वासना और भोग भी उसी प्रकारके हैं। किन्तु श्रीकृष्णके बिना रास तो हो ही नहीं सकता। मोहमें पड़े हुए जीव उस परमात्मा श्रीकृष्णको लेकर ही लीला करते हैं किन्तु उनकी दृष्टि बहिर्मुख होनेके कारण वह रासलीला न होकर संसार-लीला हो जाती है। इसी संसारके रासचक्रमें पड़कर जीव अस्थिर हैं। क्योंकि इसमें केवल भटकना-ही-भटकना है। केवल अपनी इन्द्रियोंके चरितार्थ करनेकी ही इच्छा है। जिनका चित्त शुद्ध है, जो सत्त्वगुण-सम्पन्न हैं उनका चक्र विशुद्ध रासचक्र है। वहाँ अपनी इन्द्रियोंको तृप्त करनेकी कामना नहीं है। वहाँ तो सब कुछ श्रीकृष्णकी प्रीतिके लिये है, इसलिये वह तापहीन और मोहरहित है। इसी प्रकारकी अवस्था प्राप्त करनेके लिये भगवान्-ने उद्धवको उपदेश दिया था—

त्वं तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं स्वजनबन्धुषु।
मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृग् विचरस्व गाम्॥

(श्रीमद्भा० ११।७।६)

प्रत्येक गोपी इसी प्रकार रासमण्डलकी प्रवर्तिका है। उनके सभी केन्द्रोंमें रासेश्वर श्रीकृष्ण विराजमान हैं—इस बातको वे जानती हैं। समस्त संसारलीला उन्हींके आश्रयसे हो रही है—इस बातको अच्छी तरह जाननेके कारण ही वे शान्त और आनन्द-रसमें विभोर हो रही हैं। क्योंकि सब कार्योंमें, सब विषयोंमें वे अपने प्राणनाथ श्रीकृष्णको देख मोहशून्य हो गयी हैं। इसीलिये

इस संसारलीलामें भी उन्हें द्वेषबुद्धि नहीं है। सारे चक्र घूम रहे हैं, समस्त गोपियाँ नाच रही हैं, किन्तु उनको कोई भय नहीं। उन्हें अशोक और अभय पद मिल गया है। हम भी घूम रहे हैं परन्तु श्रीकृष्णका मुखारविन्द नहीं देखते हैं, इसीसे हमें अभय नहीं मिला, केवल घूमते-घूमते व्याकुल हो रहे हैं। हम बहिर्मुख हैं, वे अन्तर्मुखी थीं, उनके समस्त चक्रोंके मध्यविन्दु श्रीकृष्ण स्थिर हैं। इसीसे सारे कर्म करते रहनेपर भी, सर्वदा संसारचक्रमें नृत्य करते घूमते हुए भी उनको कोई कष्ट नहीं, क्योंकि वे सभी सब समय सब कामोंमें उसी प्रभुको देखती हैं। ये सब रासचक्र विशिष्ट (Individual) हैं और सर्वप्रधान गोपीके साथ जो रासचक्र है वही अविशेष (Universal) है। वहाँ एक महाप्रकृति, एक निर्गुण पुरुष, एक महाज्योतिर्मय मण्डल, एक 'तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः' पुरुष हैं। वहाँ एकमात्र परम प्रेममयी श्रीराधिका एवं एकमात्र सच्चिदानन्दघनविग्रह राधावक्षविहारी श्रीकृष्ण हैं। एक महाविश्व और एक महान् विश्वात्मा हैं। इनके रासचक्रमें समस्त विशिष्ट रासचक्र 'सूत्रे मणिगणा इव' संयुक्त हैं। इस अनन्त विराट् रासचक्रके आनन्दसे सारे विशिष्ट रासचक्र उच्छ्वसित, निघूर्णित और आनन्दित हो रहे हैं। जिस प्रकार एक विराट् सूर्यकी किरणोंके प्रतापसे पृथ्वी, चन्द्र और अन्यान्य ग्रहादि आलोकित होते हैं वैसे ही इस महाज्योतिचक्रमें स्थित रासेश्वर श्रीकृष्ण और रासेश्वरी श्रीराधिकाकी अंगज्योतिसे त्रिलोक ज्योतिर्मय, प्राणमय और चेतनमय हो रहा है। उनके आनन्दसे त्रिलोकमें आनन्द समाता नहीं है। 'एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि

मात्रामुपजीवन्ति' । उनके आनन्दसे, नृत्यसे जगत्‌में महा-महोत्सव हो रहा है । कौन कह सकता है कि इसका अन्त कहाँ होगा ?

आओ, हम इन जगज्जननी रास-रासेश्वरी श्रीराधिकाको प्रणाम करें । माँ ! तुम महाशक्ति हो, तुम्हीं महाविद्या हो, और माता ! तुम्हीं महामोहमयी भी हो । माता ! तुम्हारे ही चक्रमें यह विश्वचक्र घूम रहा है । तुम्हारी ही इच्छासे सुख-दुःखके अतीत नित्य स्थिर परमात्माका आनन्दरूप प्रकाशित है । जिस प्रकार बिजली बादलके भीतरसे चमककर रूपहीन और अन्तहीन महाकाशको दिखलाकर फिर उसी अनन्तके वक्षमें अदृश्य हो जाती है, उसी प्रकार हे माता ! कब तुम कृपाकर परमात्माको हमें अपनी नजरोंसे दिखलाकर स्वयं उसमें विलीन हो जाओगी । माँ ! तुम्हारा आनन्दनृत्य जबतक चलता रहेगा, जबतक इस लीलाको देखता रहूँगा तबतक तो सदा स्थिर नित्य निर्मल अप्रमेय अच्युतको लक्ष्य नहीं कर सकूँगा । एक बार इस नृत्यको रोको माँ, तुम्हारे स्थिर हुए बिना कुछ भी स्थिर न होगा । तुम नाचती हो इसीलिये सारा विश्व एक चञ्चल बालकके समान नाचता हुआ दिखायी देता है । इसीसे सर्वत्र ही चञ्चलता है, इस विक्षेपकी लीलाको देखकर चित्त घूम रहा है, मनकी चञ्चलता, जन्म-मरणकी चञ्चलता और सुख-दुःखके चञ्चलताने सारे संसारको चञ्चल बना दिया है । जो इसे देखना सीख गया है, जिसके नेत्रोंका मल धुल गया है, वह

तुम्हारे इस नृत्यको देखकर आनन्दित होता है और तुम्हारे इस आनन्दमें सहायता करता है। वह देखता है—

नाचे नाचे रम्यताले नाचे।
तपन-तारा-नाचे, नदी-समुद्र-नाचे,
जनम-मरण नाचे, युग-युगान्त-नाचे
भक्तहृदय नाचे, विश्वच्छन्दे मातिये।
प्रेमे प्रेमे नाचे॥

माँ! हमारे भी ज्ञान-नेत्रोंको खोल दो, जिससे हम भी कह सकें कि, 'न त्वं नाहं नायं लोकस्तदपि किमर्थं क्रियते शोकः'। इस मायाके परदेको उठा देना तो तुम्हारे ही हाथकी बात है—

देवि प्रपन्नार्तिहरे प्रसीद
प्रसीद मातर्जगतोऽखिलस्य।
प्रसीद विश्वेश्वरि पाहि विश्वं
त्वमीश्वरी देवि चराचरस्य॥
आधारभूता जगतस्त्वमेका
महीस्वरूपेण यतः स्थितासि।
अपां स्वरूपस्थितया त्वयैत-
दाप्याय्यते कृत्स्नमलङ्घ्यवीर्ये॥
त्वं वैष्णवी शक्तिरनन्तवीर्या
विश्वस्य बीजं परमासि माया।

संमोहितं देवि समस्तमेतत्
त्वं वै प्रसन्ना भुवि मुक्तिहेतुः ॥
(मार्कण्डेय० ८८ । २—४)

एक बार सारे चक्रोंने तुम दोनोंको देखकर, और तुम दोनों ही-जो एक हो-इस बातको अच्छी तरह समझकर हम मनुष्य-जीवनको सार्थक करें । तुम दोनों रास-रसमें मग्न रहो और हम स्थिर चित्तसे उसे देख सकें । हमें तुम्हारे चरण-कमलोंकी भक्ति प्राप्त हो, जिससे तुम्हारे अनुगामी होकर तुम्हारी रासलीलामें सहायक बन सकें । हमें अपने अलग रासकी अब आवश्यकता नहीं है । इस रासचक्रके परमदेवता परमात्मा श्रीकृष्ण और तुम श्रीराधा ही इस महापूजाके सर्वप्रधान पुरोहित हो । हमें इतना ही अधिकार दो कि हम तुम्हारी पूजाके सामान्य उपकरणोंको पूजामण्डपमें सजाकर रख सकें । गङ्गाजलसे गङ्गापूजाकी भाँति तुम्हारी शक्तिसे ही तुम्हारी पूजा समाप्तकर जीवनको सफल कर सकें ।

श्रीमद्भगवद्गीताका सार और प्रचार

गीताका विशेषत्व

यह एक मुख्य प्रश्न है । इस सम्बन्धमें मेरी जो कुछ धारणा है उसे गीता-सम्बन्धी आलोचना करते हुए संक्षेपमें प्रकट करता हूँ । हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि यह रसास्वादमय गीता-दुग्ध उपनिषद्-रूप गो-समूहोंके दुग्धाधार (स्तनों) से दोहन किया गया है और उसके दोहनेवाले स्वयं 'गोपालनन्दन श्रीकृष्ण' हैं । गीता समस्त शास्त्रोंका सार है, इससे यह श्रद्धालु और आस्तिक-बुद्धि-सम्पन्न पुरुषोंके लिये सर्वथा आदरणीय और ग्रहणीय है, इसमें विषयोंकी अवतारणा अत्यन्त गम्भीर और बड़े ही ऊँचे ढंग-की है । शास्त्रके गम्भीरतम मर्मस्थलको स्पर्शकर उसके अन्तरतम

लक्ष्यको सुस्पष्ट भाषामें प्रकट किया गया है, इसीसे इसने साधक और प्रवीण ज्ञानियोंकी उच्चतम श्रद्धाको अपनी ओर खींच लिया है। यदि इसमें सुन्दरसे सुन्दर तीक्ष्ण युक्तियोंद्वारा शास्त्रका यथार्थ रहस्य खोलनेकी शक्ति न दीखती, तो केवल भगवत्-वाक्य-के नामपर सम्भवतः अधिकांश लोगोंका इतना आकर्षण नहीं किया जा सकता। इसके दार्शनिक विश्लेषण ऐसे युक्तियुक्त हैं कि जिससे आस्तिक-नास्तिक दोनों प्रकारके मनीषियोंकी श्रद्धा इसकी ओर खिंच गयी है। इसमें आलोच्य विषय हैं—योग, ज्ञान, कर्म और भक्ति। सभी वेद-विज्ञान-सम्मत और अखण्ड युक्तियोंके आधार-पर सुप्रतिष्ठित हैं। गीतामें साम्प्रदायिकताको स्थान नहीं है, साथ ही इसमें एकदेशदर्शिताका भी पूर्णरूपसे अभाव ही दिखायी देता है। जिस समय देशाचार, धर्मानुष्ठान और उनके अनुकूल-प्रतिकूल मत क्रमशः विद्रोही होने लगे थे, ठीक उसी समय गीताने प्रकट होकर जगत्‌की बहुत-सी जटिल समस्याओंकी मीमांसा कर दी। प्राचीन और नवीन तन्त्रोंके मतोंकी भलीभाँति आलोचना कर गीताने यह निर्भ्रान्तरूपसे बतला दिया कि उनमें कौन-सा कहाँ-तक ग्राह्य और त्याज्य है। सनातन वेदशास्त्रोंके प्रति अनास्था न हो और उनके अन्तरतम भावोंके प्रति लोगोंका लक्ष्य च्युत न हो, उनके प्रति लोगोंकी अटूट श्रद्धा बनी रहे, इसके लिये भगवान्-ने अपने वक्तव्यका वेद-वाणीसे समर्थन किया। जिन साधन-तत्त्वोंकी इससे पहले, उन्हें कठोर श्रमसाध्य समझकर उपेक्षा की जाती थी, और 'वह सबको मिलनेकी वस्तु नहीं है' ऐसा समझ-कर प्रवीण साधकमण्डलीने एक प्रकारसे हताशाके कठोर तस

श्वाससे मनुष्यके चित्तक्षेत्रको उत्तप्त और विषाद-युक्त बना दिया था, गीताने प्राचीन तन्त्रकी उस अन्ध और विषादमयी चिन्ताको चूर्णकर साधनाकी निर्जन अरण्यस्थलीको पारिजात-गन्ध-मोदित नन्दन-काननकी अपूर्व सुरभिसे पूर्ण कर उत्सुक जनसमुदायको अध्यात्मचिन्तनका एक नवीन मार्ग दिखला दिया तथा भीत, विषादग्रस्त और हताश जीवनको आशाका आलोक दिखलाकर उसके प्राणोंमें पुनः नवीन बल और उत्साहका सञ्चार कर दिया। हम उस सर्वजनवन्दित गीताको साष्टाङ्ग प्रणाम करते हैं और प्राचीन कवियोंके सुरमें सुर मिलाकर फिरसे कहते हैं—

> गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
> या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता॥
>
> (महाभा० भीष्म० ४३। १)

यही गीताका विशेषत्व है।

वृन्दावनके कोकिल-काकलि-मुखरित, घन-वृक्ष-छाया-मण्डित, मधुर-निकर-गुञ्जित निकुञ्ज काननमें एक दिन जिस मुरलीकी ध्वनिने बजकर गृह-कर्म-संलग्न गोप-ललनाओंका मन हरणकर उन्हें सदाके लिये श्रीकृष्णाभिसारिणी बना दिया था, वही सुमधुर वंशी बजानेवाला ही पार्थ-सारथिके वेशमें इस गीतार्थ संगीत-तत्त्वका गायक और उपदेष्टा है। कुरुक्षेत्रके भीषण समरांगणमें अर्जुन और श्रीकृष्णका अत्यद्भुत कथोपकथन ही गीताशास्त्रके नामसे प्रसिद्ध है। यही श्रीकृष्ण-द्वैपायन-प्रणीत सर्व-जन-प्रशंसित महाकाव्य महाभारतके अन्तर्गत भीष्मपर्वका एक अंश है।

गीतामें क्या है ? अर्जुनने श्रीकृष्णसे क्या पूछा, श्रीकृष्णने उन्हें क्या समझाया और उसे अर्जुन समझ सके या नहीं ? यह जाननेके लिये सभीको उत्सुकता होना सम्भव है । हम संक्षेपमें इसी विषयपर आलोचना करते हैं । अर्जुनने गीता सुनकर क्या समझा, इसकी आलोचना करनेके बाद दूसरी बातोंपर विचार किया जायगा । भगवान्‌ने अर्जुनके पूछे बिना पूछे नाना प्रश्नोंका उत्तर देकर, युक्ति-पूर्ण अनेक ज्ञानगर्भ उपदेश देकर और साधन-प्रणाली बतलाकर अन्तमें पूछा—'क्यों भाई ! तुम्हारा अज्ञान नष्ट हुआ तो ?' 'कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय'—इसीसे गीता-की उत्पत्तिका कारण समझमें आ जाता है । अर्जुनके अज्ञान-सम्मोहका नाश करना ही इस गीताशास्त्रका मूल तत्त्व है । अर्जुनके उत्तरसे भी इसीका समर्थन होता है—

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥

(गीता १८ । ७३)

आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया, मुझे आत्मस्मृति प्राप्त हो गयी, धर्माधर्मविषयक सन्देह जाता रहा, मैं आत्मस्वरूपके वरणीय भावमें स्थित हो गया । अब आपकी आज्ञाका पालन करूँगा ।

श्रीकृष्णका परम भक्त होकर भी अर्जुन इससे पहले उनकी आज्ञा-पालनके लिये तैयार नहीं हुआ । आत्मामें निश्चय हुए बिना किसी भी विषयको कोई मान नहीं सकता । अपने उपदेष्टाके प्रति हमारी श्रद्धा यथेष्ट होनेपर भी उनकी बातें हम पूरी नहीं मान

सकते । इसीसे अर्जुनको समझानेके लिये भगवान्‌को अनेक युक्तियोंकी कल्पना करनी पड़ी, जब भगवान्‌की तीक्ष्णधार युक्ति-पूर्ण बातोंसे अर्जुनकी स्वाभाविक सुतीक्ष्ण बुद्धिने हार मान ली, अर्जुन जब उनकी यथार्थ धारणा कर सके, तब अर्जुनका स्वाभाविक प्रेम भगवान् श्रीकृष्णके प्रति और भी सौगुना बढ़ गया । इसीसे गीता-श्रवणके अन्तमें अर्जुनका यह कथन सुनायी देता है— "करिष्ये वचनं तव ।"

गीताके कर्मका रहस्य

इसीलिये किसी-किसीने गीतामें केवल कर्म-विमुखचित्तमें कर्मके लिये उत्तेजना उत्पन्न करनेवाले अपूर्व मन्त्रको ही खोज पाया, परन्तु कर्मके लिये उत्साह प्रदान करना ही गीताका एकमात्र लक्ष्य है, ऐसा कहनेसे सम्भवतः गीताके लिये उचित बात नहीं कही जाती । अवश्य ही इसमें कर्मका प्रसंग है, और प्रसंग-क्रमसे कर्म-रहस्यकी मीमांसा भी करनी पड़ी है परन्तु गीतामें भगवान्‌ने अर्जुनको जिन विषयोंका उपदेश दिया है, कर्म उनका एक अंशमात्र है । फिर गीता क्या है ? गीता है, 'भव-व्याधिकी अज्ञान-नाशक महामहौषध ।' अज्ञानजनित ताप इस संसारको सतत तप्त कर रहा है । वह तप्त-हृदय कैसे शीतल हो ? गीताका प्रत्येक अध्याय इसी प्रश्नके समाधानकारक तत्त्वोंसे पूर्ण है । इन तत्त्वोंको समझानेके लिये सबसे पहले भगवान्‌ने आत्माका अविनाशी, सदा एकरस, पाप-पुण्य-शून्य और निर्विकार रूप बतलाया 'न जायते म्रियते वा कदाचित्' आदि । वास्तविक आत्मज्ञान-

की उत्पत्ति हुए बिना जीवके क्लेश शान्त नहीं होते, परन्तु जबतक चित्त वासनाद्वारा विक्षुब्ध रहता है, तबतक आत्मसाक्षात्कार नहीं हो सकता। कुशलतासे कर्मफलमें आसक्ति त्यागकर कर्म करनेसे कर्मका बन्धन नहीं होता। इस प्रकार जन्मरूप बन्धनसे मुक्त होकर साधक सर्वोपद्रवरहित होकर मोक्ष प्राप्त करता है। 'जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।' भगवान्‌ने इस मोक्षपदप्राप्त स्थितप्रज्ञ पुरुषके लक्षण बतलाते हुए इशारेसे समाधि-साधन आदि अनेक बातें ही अर्जुनको समझा दीं।

जीवकी भोगवासनाके कारण ही इस विशाल विश्वकी स्थिति होती है। मनमें यह भोगवासना संस्काररूपसे रह जाती है और जबतक वह संस्कार रहता है तबतक जन्म-मरणरूप गमनागमनका विराम नहीं होता। इसीलिये ब्रह्माभ्यासकी आवश्यकता है। इस ब्रह्माभ्यासके बलसे क्रोध, भय, अनुराग आदि जीवभाव नष्ट हो जाते हैं। परन्तु इसके लिये अप्रमत्त होकर निरन्तर इन्द्रिय-दमनके लिये सचेष्ट रहना होगा। इन्द्रियदमनके लिये तीन विषयोंपर लक्ष्य रखना आवश्यक है। (१) विचारद्वारा विषयोंको हेय समझकर उनके प्रति अनिच्छा, (२) चित्तको एकाग्रताद्वारा निरुद्ध भूमिमें ले जाना और (३) 'मत्परायणता' अर्थात् मुझसे प्रेम करना, मेरे (भगवान्‌के) लिये ही सब कुछ करना। भगवान्‌का यही उपदेश है 'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।' जीवनके चरम लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये मनुष्यको क्या-क्या करना चाहिये सो सब भगवान्‌ने अति स्पष्ट भाषामें समझा दिया। इन

सब परमतत्त्वकी बातोंको सुननेपर अर्जुनके मनमें इच्छा हुई कि 'यदि आत्मसाक्षात्कार ही जीवनका शेप लक्ष्य है तब फिर संसारयात्राके लिये इन सब घोर कर्मोंके करनेसे क्या लाभ है? इसपर भगवान्‌ने कहा—'अर्जुन! ज्ञान-समाधि आदि सर्वोत्तम हैं, बहुत ऊँचे विषय हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं, परन्तु तुम्हारा उस ज्ञानमें अधिकार कहाँ है? ज्ञानकी प्राप्तिके लिये जिस वैराग्यकी आवश्यकता है, वह वैराग्य तो तुममें नहीं है। वैराग्य देखादेखी नहीं होता—स्वाँग धरनेसे नहीं होता। यदि विना ही अधिकार ज्ञानी सजना चाहोगे तो नैष्कर्म्य-अवस्था प्राप्त नहीं होगी। केवल 'अकर्म' में ही आसक्ति बढ़ेगी। आजकल संसारमें वैराग्यका 'स्वाँग' बहुत बढ़ गया है। 'मैंने भगवान्‌के लिये संसार छोड़ दिया है,' कहनेवालोंने संसारको छोड़ा कहाँ है? फिर इस संसार-सागरसे पार होनेका उपाय क्या है? कर्मसे तो बन्धन कटता नहीं, उलटा होता है।' जीवके मनमें यह एक घोर सन्देह है। इसी स्थलपर भगवान् एक अद्भुत उपाय बतलाते हैं,—'कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, कर्म-संन्यासमें नहीं।' कर्म और संन्यास परस्पर विरोधी हैं परन्तु यही कर्म किस प्रकारसे नैष्कर्म्य-भावको ला सकता है सो ध्यानपूर्वक सुनो—'आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।' अवश्य ही नैष्कर्म्य या संन्यास जीवनका शेप लक्ष्य है और उसीको प्राप्त करना है, परन्तु काँटेसे काँटा निकालनेकी भाँति पहले कर्मसे चित्तशुद्धि करो। यह न समझो कि कर्म चित्तशुद्धि नहीं कर सकते। आसक्तिरहित हो परमेश्वरके अर्पण करके कर्म करनेसे कर्ता पुण्य-पापसे लिप्त नहीं होता—

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

(गीता ५। १०)

सब कुछ उन्हींके लिये करना होगा, किसी भी कर्मके करते समय सर्वप्रथम उनका स्मरण हो जाना चाहिये। जैसे विश्वासी सेवक स्वामीके लिये कर्म करता है, उसी प्रकार कर्म करनेसे चित्तशुद्धि होती है—

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये॥

(गीता ५। ११)

यहाँ फिर योगकी बात आ गयी, 'मुझे योगी होना पड़ेगा, योगी होकर कर्म करना होगा।' क्यों? योगी होनेके लिये शरीर और बुद्धिद्वारा कर्मको अभिनिवेशसे रहितकर इन्द्रियद्वारा फल त्यागकर कर्म करनेसे चित्तकी शुद्धि होती है। चित्त शुद्ध हुए बिना न तो ज्ञान ही उत्पन्न होता है और न भगवत्-प्राप्ति ही होती है। गीतोक्त कर्मका लक्ष्य किस ओर है, भगवान्‌ने यहाँपर उसीका संकेत किया। इसीलिये अर्जुनको यह भी बता दिया कि—

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥

(गीता ५। २२)

यह इन्द्रियोंके सभी सुखभोग दुःखोंके कारण हैं, इसलिये विवेकी पुरुष इनमें आसक्त नहीं होते। इस कथनसे यह स्पष्ट हो

गया कि मनुष्य-जीवनकी सार्थकताके लिये किस वस्तुका ग्रहण और किसका परित्याग करना चाहिये ? माटी खोदने, कल-कारखाना बनाने, व्यवसाय करने या अन्य किसी कार्यके लिये दौड़धूप करनेसे ही भगवदुक्त कर्म नहीं होता। अवश्य ही शरीरकी रक्षाके लिये इस प्रकारके कर्म भी आवश्यक हैं। परन्तु ये सब कर्म जीवनके शेष लक्ष्य नहीं बन जाने चाहिये। यह विश्व वासुदेव है, अतएव इस जगत् और जीवोंकी आवश्यकताके अनुसार कभी-कभी अति दारुण सुदुष्कर कर्म भी करना पड़ता है परन्तु वह आत्मसुख या निजेन्द्रियोंकी तृप्तिके लिये नहीं। भगवत्-प्राप्तिके पथका यह केवल एक आनुषंगिक प्रयोजन है, मूल प्रयोजन नहीं! मूल प्रयोजनका तो गीताके छठें अध्यायमें स्पष्टरूपसे वर्णन है! दूसरा उद्देश्य होता तो, योगीको किस प्रकार बैठना होगा, कैसे सोना होगा, क्या खाना होगा आदि बातें कहकर व्यर्थ प्रसङ्ग बढ़ानेकी क्या आवश्यकता थी। भगवान् कहते हैं—

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति॥

(गीता ६। १५)

इस तरह सर्वदा चित्तको समाहित करके संयमशील योगी निर्वाण-प्रदायिनी मेरी (भगवान्की) स्वरूपस्थितिरूप शान्तिको प्राप्त होता है।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा॥

(गीता ६। १८)

जब अच्छी तरहसे वशमें किया हुआ चित्त आत्मामें स्थित हो जाता है, तब किसी भी काम्य विषयमें स्पृहा नहीं रहती। ऐसा निस्पृह पुरुष ही योगयुक्त कहा जाता है। इसके बाद युक्त अवस्थाका और भी कुछ श्लोकोंमें वर्णन है।

सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते॥
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(गीता ६। २१-२३)

योगके ऐसे सुन्दर लक्षण बतलाकर भगवान् कहते हैं—इस योगका हताशाशून्य चित्तके द्वारा निश्चय ही अभ्यास करना चाहिये 'सः योगः अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः।'

सारांश यह कि, भगवद्-भजन ही गीतोक्त कर्मका मुख्य लक्ष्य है। इसीसे भगवान् कहते हैं 'आसुरी भावके नीच मनुष्य मुझे नहीं भजते', 'आसुरं भावम् आश्रिताः नराधमाः मां न प्रपद्यन्ते', आर्त, अर्थार्थी जिज्ञासु और ज्ञानी भक्त ही मुझे भजते हैं। आर्त और अर्थार्थी भी सुकृति पुरुष हैं, क्योंकि वे भगवान्का भजन करते हैं। भगवान्ने गीतामें कर्मकी जो सुन्दर व्याख्या की है, उसका उल्लेख करना यहाँ अप्रासंगिक नहीं होगा। अर्जुनके 'किं कर्म ?' प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं—

भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः॥

जीवोंकी उत्पत्ति और उनकी क्रमसे वृद्धि जिस त्यागरूप यज्ञसे होती है, उसका नाम 'कर्म' है। कर्मकी ऐसी व्याख्या और कहीं नहीं मिलती। पाश्चात्य जगत्के मनीषि कहते हैं—'कर्म और कुछ भी नहीं है, आन्तरिक सुप्त भावसमूहोंको जगा देना ही कर्म है।' गीता कहती है, इस भावराशिको तो जगाना होगा ही परन्तु उसे देवताके लिये त्याग भी कर देना पड़ेगा। तभी वह ठीक कर्म होगा, नहीं तो अकर्म हो जायगा। इस बातको इन दृष्टान्तोंसे समझिये—धन कमाना, खेती करना, पढ़ना, सेवा करना आदि सभी कर्म हैं, कर्म करनेमें शक्तिका व्यय (Expenditure of energy) करना ही पड़ता है। परन्तु यह शक्ति जबतक देवताके लिये व्यय नहीं होती, तबतक वह कर्म नहीं होता। शरीरको बलवान् बनाना चाहिये परन्तु यदि वह दुर्बलकी रक्षा न करके उसे पीड़ा पहुँचाता है तो वह कर्म नहीं है। घरमें धन है, खाने-पीनेकी प्रचुर सामग्री है, इनके संग्रहमें बहुत शक्ति खर्च हुई है। परन्तु हमारा वह कष्टोपार्जित धन-धान्य दूसरेके दुःख दूर करनेमें नहीं लगता तो गीताके अनुसार वह 'कर्म' नहीं है। खूब मेहनत करके विद्या पढ़ी है, पर यदि वह दूसरेके अज्ञानान्धकारको दूर नहीं कर सकती तो हमारा वह परिश्रम व्यर्थ ही है। त्यागके द्वारा पवित्र हुए बिना कर्म 'कर्म' नहीं होता। स्त्रीसङ्ग भी कर्म है, उसमें भी शक्तिका व्यय होता है परन्तु वह केवल कामोपभोगकी चरितार्थताके लिये है तो वह भी कर्म नहीं है।

'कर्म' शब्दसे क्या समझना चाहिये, यह बात समझमें आ

गयी होगी। इस प्रकार देवोद्देश्यसे कर्म करते-करते प्रवृत्तिकी प्रबलता शान्त हो जाती है। अन्तःकरण शुद्ध होता है और उस शुद्ध अन्तःकरणमें ही आत्मसाक्षात्कार होता है। भगवान्‌ने अर्जुनसे कहा—'उनमें (भगवान्‌में) मन-बुद्धि अर्पण करना होगा, तदर्पित चित्तसे कर्म करना होगा, पर अपने लिये नहीं, सर्वभूतस्थित भगवान्‌की प्रीतिके लिये। बस, 'सर्वलोकहिताय' ही कर्म करना होगा।' निरन्तर उनके स्मरण रहनेका अभ्यास चित्त-शुद्धि बिना नहीं होता। अतएव चित्त-शुद्धिके लिये ही स्वधर्मका आचरण करना चाहिये।

परमगतिके साधन

इस तरह भगवान्‌में चित्त लगानेका अभ्यास करते-करते संकल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका बुद्धि भगवान्‌में अर्पित हो जाती है। तभी वे मिलते हैं। इसीसे भगवान्‌ने उपाय बतलाया 'अभ्यासयोगयुक्त' होना। यानी स्वजातीय प्रत्ययका प्रवाह न होनेपर 'योगयुक्त' नहीं हुआ जाता। अतएव जिससे सजातीय प्रत्ययका प्रवाह अविच्छिन्न धारामें चलता रहे, निरन्तर वही अभ्यास करना चाहिये। चित्तमें किसी भी विषयका चिन्तन न होगा तभी अनन्यचित्तसे भगवच्चिन्तन हो सकेगा। इस तरह अनन्यचित्तसे परमार्थ-चिन्तन करनेकी शक्ति प्राप्त होते ही समाधि समीप आ जाती है। प्रतिदिन नियमपूर्वक दीर्घकालतक अभ्यास किये बिना संस्कार नहीं जमते। दृढ़ संस्कार हुए बिना बाह्य प्रकृतिपर किसीका भी आधिपत्य नहीं चल सकता। भगवच्चिन्तन करते-करते

ही जीवका जीवभाव कटकर भगवदीय संस्कारोंकी वृद्धि होती है। भगवदीय संस्कार जितने बढ़ते हैं, उतनी ही परमात्मस्वरूपमें स्थितिकी अवस्था समीप आती है। 'देहात्मबोधरूप बन्धन ही जीवभाव है।' स्वरूपसाक्षात्कार हुए बिना यह जीवभाव नहीं मिटता। जीवनकालमें या उसके बाद परमात्मस्वरूपमें अटल स्थिति ही जीवन्मुक्ति या ब्राह्मी स्थिति है। इस अवस्थामें मोह नहीं रहता। माया सदाके लिये वहाँसे विदा हो जाती है। दृढ़ अभ्यासशील पुरुषके लिये मुक्ति पानेका दूसरा उपाय भी है। निदिध्यासनयुक्त पुरुष कम-से-कम अन्तकालमें भी उसे पा सकता है। भगवान्ने कहा है—

प्रयाणकाले मनसाचलेन
भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक्
स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
(गीता ८। १०)

अन्तकालमें (१) भक्तियुक्त, (२) अचलमानस (विक्षेप-रहित मन) होकर, (३) योगबलसे सुषुम्नामार्गद्वारा प्राणको भृकुटिके मध्यमें स्थापित करके जो प्रयाण करता है वह दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है। श्रीमद्आनन्दगिरिजी इसकी टीकामें कहते हैं—'चित्तको विषयोंसे हटाकर पुण्डरीकाकार परमात्म-स्थानमें स्थापन करके, हृदयसे निकली हुई इडा और पिङ्गला नामक दोनों नाडियोंको रोककर हृदयसे ऊर्ध्व-गमनशील सुषुम्ना नाडीद्वारा प्राणोंको लाकर ('ऊर्ध्वगामिनाड्या भूमिजयक्रमेण भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य'—शंकर।) उसी सुषुम्नामार्गसे प्राणोंको भृकुटिके

मध्यमें आविष्ट करके ब्रह्मरन्ध्रद्वारा निष्क्रमण कराना चाहिये।' श्रीधर स्वामी कहते हैं, भक्तियुक्त और विक्षेपरहित मनके द्वारा परमात्माका स्मरण करना चाहिये। मनकी निश्चलताके कारण ही योगबलसे सुषुम्नामार्ग होकर प्राण भ्रूकुटिमें प्रवेश कर सकते हैं। इस तरह ब्रह्मरन्ध्रद्वारा उत्क्रमण करते ही दिव्य परम पुरुषकी प्राप्ति हो जाती है।

दो प्रकारकी गति

इसी अष्टम अध्यायमें भगवान्ने उत्तरायण-दक्षिणायन-मार्ग या शुक्ल-कृष्णा गतिका वर्णन किया है। प्रकाशमयी अर्चिरादि और अन्धकारमयी धूमादि गति—दोनों ज्ञान और कर्मके अधिकारी भेदसे सनातन हैं। इनके सम्बन्धमें भी यहाँ कुछ आलोचना की जाती है।

जो ब्रह्मज्ञानी या नित्यमुक्त हैं, उनकी गति-अगति कुछ भी नहीं है। उनके तो प्राण उत्क्रमण ही नहीं करते! उनके प्राण ब्रह्मलीन रहते हैं, अतएव उनके लिये 'सब कुछ' ब्रह्मय है। वास्तवमें 'सब' कहना भी भूल है। कारण, उनके लिये 'सब' नहीं रहता, 'सब' एक हो जाता है। भिन्न-भिन्न अनेक पदार्थोंकी समष्टिका नाम ही 'सब' है। उनके लिये एक अविभक्त रहता है, सब मिटकर एक बन जाता है। इस अवस्थाको प्राप्त पुरुषकी तो मुक्ति सर्वदा सेवा किया करती है।

जो इतनी ऊँची स्थितिपर नहीं पहुँचे हैं, परन्तु परमात्माकी उपासना करते हैं, योगाभ्यासी हैं, उन्हींके लिये शास्त्रोंमें क्रम-

मुक्तिका वर्णन देखा जाता है। ऐसे ही पुरुष प्रयाणकालमें अग्निर्ज्योतिका प्रकाश देखते हैं। यह प्रकाशमय देवमार्ग है, अतएव जड नहीं है पर चैतन्ययुक्त है। इस मार्गका विभाग इस प्रकार किया जा सकता है (१) अर्चिःदेवता, (२) अहः-देवता, (३) शुक्लपक्ष-देवता, (४) उत्तरायण-देवता, (५) संवत्सर-देवता, (६) देवलोक, (७) वायु-देवता, (८) आदित्य-देवता, (९) चन्द्र-देवता, (१०) विद्युत्-देवता। ये सभी भिन्न-भिन्न देवलोक हैं। यहाँतक पहुँचनेपर एक अमानव पुरुष आकर उसको ब्रह्मलोकमें ले जाता है। उस ब्रह्मलोकमें बहुत समयतक निवास करनेपर कल्पक्षयके अन्तमें वह मुक्त हो जाता है। उसका जन्मान्तर नहीं होता—'अनावृत्तिम् याति'। यही देवयानमार्ग है। इस मार्गसे प्रयाण करनेके उपाय भी भगवान्‌ने धीमान् अर्जुनको बतला दिये हैं।

> सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
> मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्॥
> (गीता ८। १२)
>
> ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
> यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम्॥
> (गीता ८। १३)

अर्थात् (१) समस्त इन्द्रियोंका प्रत्याहार—इन्द्रियोंके द्वारा किसी विषयका ग्रहण न करना, (२) मनका हृदयमें निरोध—मनमें किसी विषयकी चिन्ता या सङ्कल्प न रहना,

(३) भृकुटिमें प्राणोंको ले जाना (यह अवस्था दीर्घकालतक प्राणायाम करनेसे साध्य है), (४) योगधारणा—योगाभ्यासके कारण चित्तका स्वतः ही स्थिर हो जाना इस प्रकार होकर, (५) ब्रह्मवाचक या ब्रह्मस्वरूप ॐ का स्मरण और जप करते हुए जो देहत्याग करता है, वह इसी अर्चिरादि गतिको प्राप्त होता है ।

इसके विपरीत मार्गका नाम ही पितृयान है, उसीको कृष्णा गति या दक्षिणायन भी कहते हैं. इसमें जाकर जीव पुण्यभोगके अनन्तर कर्मानुसार जन्मान्तरको प्राप्त होता है, 'अन्ययावर्तते पुनः ।'

भक्ति और उसमें सबका अधिकार

इन सब साधनोंको बहुत कठिन समझकर लोग हताश न हो जायँ; इसीसे भगवान् विषादग्रस्त लोगोंको अभयदान देते हुए कहने लगे—

> अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।
> तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥
> (गीता ८ । १४)

'बस, अनन्यचित्त होकर सदा-सर्वदा मेरा स्मरण करते रहो तो बड़ी सुलभतासे प्राप्त हो सकूँगा ।' इस श्लोकपर विचार करना है । चित्तको अनन्य करना होगा, यानी चित्तमें अन्य किसी भी प्रत्यय-प्रवाहके लिये स्थान नहीं रहना चाहिये । केवल 'वे' रह जायँगे । किसी तरह कायाक्लेश सहकर एक बार ऐसी स्थिति होनेसे ही काम चल जायगा तो ? नहीं ! यह अनन्यचित्तका भाव सतत और नित्यशः होना चाहिये । स्मरणस्रोत निरन्तर बहना

चाहिये, कहीं-कभी उसका विच्छेद न हो, होना भी चाहिये जीवनभर। शंकर कहते हैं—'सततमिति नैरन्तर्यमुच्यते। नित्यश इति दीर्घकालत्वमुच्यते, न षण्मासं संवत्सरं वा यावज्जीवम्।'

साधनभजनका उद्देश्य ही है 'अनन्यचित्त' होना। श्रीचैतन्यदेवने भी 'अनन्यचित्त' से भगवत्-स्मरण करनेकी ही बात कही थी। कबीरने भी अनन्यचित्तकी ओर ही इशारा किया है—

माला तो करमें फिरै जीभ फिरै मुखमाहिं।
मनुआँ तो चहुँदिसि फिरै यह तो सुमिरन नाहिं॥

यह अनन्यचित्त ही भक्तिका मूल उपादान और यही भक्तिका शेष लक्ष्य है। वाञ्छितके प्रति अत्यन्त अनुराग ही भक्तिका नामान्तर है। प्रेमसे भी चित्त निरुद्ध और एकाग्र होता है। हमारी प्रकृतिकी कुछ विरुद्ध भावनाएँ इस अनन्यभावको नहीं आने देतीं। इसीलिये 'अनन्यचित्त' होनेके निमित्त प्राणायाम कर्मयोगादिके अभ्यासकी आवश्यकता है। प्राणायामादिद्वारा प्राण निश्चल हो जानेपर मन, बुद्धि भी व्युत्थान-रहित हो जाते हैं। बुद्धिकी निश्चलतासे ही शुद्ध बुद्धि उत्पन्न होती है। जिसकी बुद्धि जितनी विशुद्ध हो जाती है, उसका भगवत्-प्रेम भी उतना ही बढ़ता है।

इस भक्तिभावके दृढ़ हो जानेसे आत्मतृप्ति, संतोष और संयम भी बढ़ जाते हैं और अन्तमें मन-प्राण प्रियतमके चरणकमलोंमें अर्पित हो जाते हैं। इसी अवस्थामें साधक 'आत्मन्येव च सन्तुष्टः'

हो जाता है यानी उसे फिर सुखके लिये किसी वाहरी वस्तुकी अपेक्षा नहीं रहती। 'तस्य कार्यं न विद्यते।' यहाँपर कर्माकर्म और धर्माधर्म सब शेष हो जाते हैं। यही 'योगारूढ' या ज्ञानीके लक्षण हैं। ज्ञान या भक्तिकी प्राप्तिके लिये वास्तवमें बहुत परिश्रमकी आवश्यकता नहीं है, न उसके लिये बहुत धन-संग्रह करनेकी ही जरूरत है। विना ही प्रयत्नके प्राप्त पत्र, पुष्प, फल, जल आदि भक्तिके साथ अर्पण किये जानेपर वे ग्रहण करते हैं। यदि इनका भी कोई संग्रह न कर सके, तो जो कुछ मनमें सोचे या करे, उसीको उनके अर्पण कर देनेसे काम चल जाता है। भगवान्‌के प्रति समर्पित हो जानेपर फलका सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिये उन कर्मोंका शुभाशुभ फल कर्त्ताको भोग करना नहीं पड़ता। इस भक्तियुक्त आत्मसमर्पणसे केवल पापोंसे ही छुटकारा नहीं मिलता, वह अति शीघ्र धर्मात्मा भी हो जाता है। यानी उसमें ज्ञानका उदय हो जाता है। ज्ञानोदयके साथ ही अविद्याकी निवृत्ति होकर उसे शाश्वती शान्ति मिल जाती है। सम्यक् प्रकारसे त्यागका जो फल होता है वही भक्तको भी प्राप्त होता है। भगवान् कहते हैं कि 'अर्जुन! तुम छाती ठोककर यह वात सबसे कह दो कि मेरे भक्तका नाश नहीं होता।' इतना वड़ा महान् सत्य और क्या होगा? शरणागत भक्तको भगवान् किसी तरह भी नष्ट नहीं होने देते और ऐसी भक्ति करनेका सबको समान अधिकार है। अध्ययनरहित स्त्री-शूद्रादि और अन्त्यज जाति भी इस भक्तिके द्वारा परमोच्च गति प्राप्त कर सकते हैं। गीतामें यही सबसे उत्तम वात है। यही भगवान्‌का जीवमात्रके प्रति अभयदान है।

वर्णाश्रम-धर्म

इसके लिये जीवको किसी असाध्य साधनकी भी आवश्यकता नहीं है। अपने-अपने अधिकार या वर्णाश्रमके अनुसार विहित कर्म करते-करते ही मनुष्य ज्ञान-प्राप्तिके लिये योग्य बन जाता है। इसलिये सबसे पहले अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्म करना ही सबके लिये श्रेयस्कर है।

आजकल वर्णाश्रमका नाम सुनते ही लोग चौंकने लगते हैं परन्तु उनको जानना चाहिये कि वर्णाश्रमके कर्ता स्वयं श्रीभगवान् हैं।—'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।' बहुत लोगोंकी यह धारणा है कि भगवान्‌ने सबको समान बनाकर ही उत्पन्न किया था। मनुष्यने ही स्वार्थान्ध होकर उच्च-नीच वर्णके भेदकी कल्पना कर ली है। अथवा मानवसमाजका संगठन होनेपर जिसने जैसा कर्म किया, उसकी वैसी ही जाति बन गयी। यज्ञ-याग करनेवाले ब्राह्मण, युद्ध करनेवाले क्षत्रिय, व्यापार करनेवाले वैश्य और सेवादि करनेवाले शूद्र कहलाये। ऐसा समझना भी एक कल्पना ही है, सत्य नहीं है। ये सभी भेद प्रकृतिमें वर्त्तमान हैं। भगवान्‌को इच्छा या कल्पना करके इनको बनाना नहीं पड़ा। प्रकृति अनादि और त्रिगुणमयी है। सारी भिन्नता प्रकृतिका उल्लास है यह मनुष्यकृत नहीं है। वरं इसको न मानना ही मनुष्यका घमंड है। सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय जिन मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पत्थर या वृक्षोंकी स्फुरणा हुई वे सभी सत्त्वगुणसे पूर्ण हैं, यानी ब्राह्मण हैं। इसके बाद उस कुलमें जिनकी उत्पत्ति हुई

वे भी ब्राह्मण हुए। इसी प्रकार सत्त्व-रज-मिश्रित शक्तिसे जो भाव स्फुरित हुए, वे ही शौर्य-वीर्यादिका विकास करनेवाले क्षत्रिय कहलाये। यह क्षात्रभाव भी मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, वृक्ष, पाषाणादि सभीमें है। इसी क्रमसे वैश्य और शूद्र भी हुए। इससे यह सिद्ध होता है कि वर्णभेद 'अनादि सिद्ध' है। वह मनुष्यकी कपोलकल्पना या स्वार्थ-बुद्धि-निर्मित नहीं है। और न यही बात है कि एक वर्ण दूसरे वर्णका स्वामी है, सभीका परस्पर भ्रातृत्व-सम्बन्ध है। जैसे कनिष्ठ ज्येष्ठकी और शिष्य गुरुकी सेवा करते हैं, वैसे ही शूद्रादि भी द्विजातिकी सेवा करते हैं। एक ही कालमें सभी बड़े नहीं हो सकते। किसीको छोटा और किसीको बड़ा होकर *ही जन्म लेना पड़ता है*, यह ईश्वरकृत असामञ्जस्य नहीं है, परन्तु प्रकृतिका गुणकर्मविभाग है। इसलिये मनुष्यको अपने-अपने वर्णाश्रमके अनुसार कर्म करना चाहिये। ऐसा करना सहज भी खूब है।

> यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः॥
>
> (गीता १८। ४६)

'जिस अन्तर्यामी भगवान्‌से जीवोंके हृदयमें इस संसारकी प्रवृत्ति उत्पन्न होती है, उस ईश्वरकी अपने वर्णाश्रमोचित या प्रवृत्तिके अनुयायी कर्मोंद्वारा पूजा करनेसे जीव ज्ञान प्राप्त करता है।'

पराभक्ति

अतएव जो मनुष्य ज्ञान या संन्यासको सर्वश्रेष्ठ समझकर

अपना कर्त्तव्य-कर्म पालन न कर बिना ही अधिकार कर्म छोड़ देते हैं, वे ज्ञान-लाभकी योग्यता कभी प्राप्त नहीं कर सकते। 'जो कुछ करता हूँ सो उन्हींकी आज्ञासे करता हूँ, या उन्हींको 'गतिर्भर्ता प्रभु' समझकर इन्द्रियोंद्वारा जो कुछ कर्म किया जाता है, सो कर्तृत्वाभिमान त्याग करके उन्हींके चरणोंमें समर्पण करता हूँ।' इस बुद्धिसे कर्म करनेपर भी मनुष्य कृतार्थ हो सकता है। क्योंकि भगवान्‌के स्मरणसहित कर्म करते-करते कर्ममेंसे ममत्व-बुद्धि नष्ट हो जाती है। पुनः-पुनः प्रेमसे उन्हें स्मरण करनेपर चित्तमें 'मेरा' नहीं रहता। सब 'उनका' हो जाता है। इस प्रकार 'तच्चित्त' होते ही सांसारिक सुख-दुःखोंका अन्त हो जाता है। 'मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।' भगवत्प्रसादसे भक्तकी सारी 'दुःख-दुर्गति' समाप्त हो जाती है। फिर वह 'असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह' हो जाता है। तदनन्तर ही ब्रह्मकी प्राप्ति हो जाती है। इसके लिये मनुष्यको किन-किन नियमोंका पालन करना चाहिये? भगवान् बतलाते हैं—

> बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
> शब्दादीन्विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च॥
> विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
> ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः॥
> अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
> विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
>
> (गीता १८। ५१—५३)

सात्त्विकी बुद्धिसे युक्त होकर और सात्त्विकी धृतिद्वारा मनको निश्चल करके, शब्दादि विषयोंको परित्यागकर, रागद्वेषको मनमें न आने देकर निर्जन स्थानमें निवास करना, मिताहारी होना, शरीर-मन-वाणीको सदा संयत रखना, निरन्तर ध्याननिष्ठ रहकर ब्रह्मसंस्पर्शकी प्राप्तिके लिये सदा तत्पर रहना और इसके लिये दृढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर अहंकार (अपनी बड़ाई या अभिमान), बल (खूब बड़े होनेके लिये प्रबल चेष्टा), दर्प (मैं ब्रह्मविद् हूँ, मैं योगबलसे बलवान् हूँ), काम (अप्राप्त विषयोंको प्राप्त करनेकी इच्छा), क्रोध, परिग्रह, ममता (मेरा शरीर, मेरे प्राण) आदि भावोंको विशेषरूपसे त्याग देना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करते-करते मनुष्य 'शान्त' यानी उपराम हो जाता है। ऐसी उपरामता-से युक्त पुरुष ही ब्रह्मस्वरूप होनेकी योग्यता प्राप्त करता है—'ब्रह्मभूयाय कल्पते'—इस ब्रह्मभूत पुरुषमें जिन लक्षणोंका विकास होता है, उनको भगवान् बतलाते हैं—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥
(गीता १८।५४)

ब्रह्मभूत पुरुष सदा प्रसन्न-चित्त रहता है, न तो उसे नष्ट वस्तुके लिये शोक होता है, और न अप्राप्त वस्तुके लिये उसका चित्त व्याकुल ही होता है। समस्त भूतोंमें उसकी आत्मदृष्टि हो जाती है। ऐसे समदर्शनयुक्त, रागद्वेषादि विक्षेपशून्य चित्तमें पराभक्तिकी उत्पत्ति होती है। चतुर्विध भक्तोंमें भगवान्ने ज्ञानीको

ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है, क्योंकि पूर्णरूपसे अभेदभाव हुए बिना भक्तिकी पराकाष्ठा नहीं होती । प्रीति ही भक्तिका नामान्तर है— 'सा परानुरक्तिरीश्वरे ।' (शाण्डिल्यभक्तिसूत्र १ । २) यह प्रीति जितनी आत्मामें होती है, उतनी और किसी भी वस्तुमें नहीं हो सकती । इस आत्माको जो जानते हैं, उनसे बढ़कर भक्त और कोई भी नहीं हो सकता । इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें ज्ञानीको 'आत्म' सदृश बतलाया है । क्योंकि ज्ञानीका देह-मन-प्राण आदि किसी भी पदार्थमें अभिमान नहीं रहता । उसकी, भगवान्‌के मिलनेकी सारी बाधाएँ मिट जाती हैं, इसीसे ज्ञानी सर्वश्रेष्ठ भक्त है । इस पराभक्तिसे पहले भक्तिके जो भाव रहते हैं सो केवल उनसे मिलनेकी इच्छा करनेवाले हैं । परन्तु मिलनकी आकांक्षा ही मिलन नहीं है । पराभक्तिसे आत्मा कृतकृत्य होकर स्वयं परमानन्दरूप हो जाता है । भगवान् कहते हैं—

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥
(गीता १८ । ५५)

इस पराभक्तिके द्वारा, मैं जैसा सर्वव्यापक, नित्य सच्चिदानन्दघन हूँ, वैसा तत्त्वसे जानकर वह मुझमें प्रवेश करता है यानी स्वयं परमानन्दस्वरूप हो जाता है । उसका अहंज्ञान और भेदभाव सदाके लिये मिट जाता है । भागवतमें कहा है—

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ॥

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ॥
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि दृष्ट एवात्मनीश्वरे ॥
(१।२।१९—२१)

'उस समय रज और तमके भाव काम-लोभादिसे चित्त नहीं विधता । उसकी स्थिति सत्त्वगुण यानी ब्रह्मचिन्तनमें रहती है । ऐसा पुरुष आनन्दका भोग करता है । इस भगवद्भक्ति और प्रसन्न-मनसे दो लाभ होते हैं । (१) भगवत्तत्त्वका विज्ञान और (२) मुक्तसंग होना । फिर देहात्मबुद्धिरूप हृदयग्रन्थि टूट जाती है, समस्त संशय नष्ट हो जाते हैं, प्रारब्ध-कर्म नष्ट हो जाते हैं, इस-लिये वह जन्ममरणादि भवबन्धनसे सदाके लिये छूट जाता है ।'

इसीलिये भगवत्-शरणागतिकी इतनी ऐकान्तिक आवश्यकता है । परन्तु यह ऐकान्तिक भाव कर्मशुद्धि विना नहीं होता । सौभाग्यसे निष्काम कर्मद्वारा जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, वह 'सर्वभाव' से भगवान्की शरण ग्रहणकर 'भगवत्-प्रसाद' से उत्तम शान्ति और शाश्वत परम धामको प्राप्त होता है—'तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।'

पुरुषोत्तम भाव

गीतामें प्रकृति, आत्मा, पुरुष प्रभृति शब्दोंका जो व्यवहार हुआ है, उनमें दर्शनशास्त्रका मेल होनेपर भी कुछ विशेष है । भगवान्ने पुरुष तीन बतलाये हैं—क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम ।

ये क्षर-अक्षर ही सांख्यदर्शनके प्रकृति-पुरुप हैं। परन्तु गीताका 'पुरुषोत्तम' भाव एक नवीन तत्त्व है और वह पूर्णरूपसे गीताका ही निजस्व है। ये क्षर-अक्षर पुरुप ही तेरहवें अध्यायके क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ हैं। इस क्षेत्रज्ञसे पुरुषोत्तम अभिन्न है—क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत। आठवें अध्यायमें भी इसीकी प्रतिध्वनि है—'अक्षरं ब्रह्म परमम्।' यह क्षेत्रज्ञ या अक्षर पुरुष द्रष्टा, निर्विकार और साक्षीमात्र है। आत्माकी उत्पत्ति या विनाश नहीं है। गीता कहती है, 'जन्म-मरणादि परिवर्तन देहके सम्बन्धसे हैं। आत्मा तो अव्यक्त, अचिन्त्य और निर्विकार है, देह, मन और बुद्धिका अविषय है।' आत्मा शरीरस्थ होकर भी वास्तवमें सुख-दुःखादिका भोग नहीं करता। वह तो द्रष्टामात्र है। आत्मामें कर्त्ता-भोक्तापन न होनेपर भी उसमें सुखदुःखादि भोग और कर्मादिकी चेष्टा क्यों प्रतीत होती है? इसीलिये होती है कि उस समय वह सुखदुःखादिका भोग करता है।—कारण, 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञ-संयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।' यही सांख्यका मत है। वेदान्तने इसको 'अध्यास' या माया बतलाया है। अध्यास मनकी मिथ्या प्रतीतिका नाम है, सत्य नहीं है। परन्तु गीताके 'पुरुषोत्तम' भावकी आलोचना करनेसे मालूम होता है कि 'जीवका भ्रमजन्य ज्ञान ही जगत्की उत्पत्ति आदिका कारण नहीं है। यह सभी कुछ है 'भगवत्-इच्छा'। कारण, गीताने भगवान्को केवल 'उपद्रष्टा' ही नहीं कहा, 'अनुमन्ता' यानी अनुमोदन करनेवाला भी बतलाया है और यह भी कहा है कि वही 'भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः' भी है।

द्रष्टा या साक्षीरूपसे निर्लेप होनेपर भी ईश्वरभाव होनेके कारण वह समस्त जीवोंका पालन-कर्त्ता है। श्रुति भी इसका समर्थन करती है—'एष सर्वेश्वर एष भूताधिपतिरेष भूतपालः।' बृह० ४। ४। २२) और गीताके मतसे भी भगवान्—

भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।
(१३। १६)

सर्वतःपाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतःश्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥
(१३। १३)

सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्॥
(१५। १५)

—'सारे जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हैं, उन्हींसे जीवकी स्मृति और ज्ञान होता है तथा उन्हींमें विलोप होता है। वेदोंके द्वारा वे ही वेद्य हैं, वे ही समस्त वेदोंके जाननेवाले और वेदान्त-सम्प्रदायके प्रवर्तक—ज्ञान-गुरु हैं।' इन ज्ञान-गुरु वेदान्त-वेद्य पुरुषके भजनसे ही जीव सर्वज्ञ होता है यानी ब्रह्मस्वरूपताको प्राप्त होता है।

जब सभी एक है (ईशावास्यमिदꣳ सर्वम्) तब जड़-चेतनका भेद क्यों है ? चेतन और जड़ केवल व्यावहारिक हैं, क्योंकि कोई भी वस्तु पूर्णरूपसे जड़ नहीं हो सकती, इसीलिये गीताने उच्चस्वर-से घोषणा की है—

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्॥
(१३।१५)

जैसे कनक-कुण्डलके बाहर-भीतर स्वर्ण-ही-स्वर्ण है, वैसे ही चराचर भूतोंके भीतर-बाहर केवल ब्रह्म ही विराजमान हैं। सूक्ष्म होनेसे उनका स्पष्ट बोध नहीं होता। वे विद्वान्‌के सदा समीप हैं और अज्ञानीको बहुत दूर प्रतीत होते हैं। 'सत्' 'असत्' जो कुछ भी अनुभवमें आता है, ब्रह्म उससे विलक्षण है। इसीलिये मन आदि इन्द्रियाँ उन्हें नहीं समझकर हार मान लेती हैं। वे ही अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सर्वात्मक भी हैं। जडत्व, विकृति और परिणाम यानी नामरूपादि उनमें नहीं है तो भी गाढ़ी ध्यान-समाधिमें वे 'बुद्धिगोचर' होते हैं, यद्यपि वहाँ केवल 'अस्ति' मात्र ही बोधका विषय होता है, तथापि कातर प्राणोंसे जब भक्त उन्हें पुकारता है, तब वे तुरन्त उसकी आवाज़ सुनते हैं और मनुष्यकी तरह ही उसका जवाब भी देते हैं। इन्हीं आँखोंसे हम उन्हें देख सकते हैं, उनके साथ बातचीत कर सकते हैं, प्रेमालाप करते हैं, यहाँतक कि वहाँ फिर मान-अभिमान भी चलता है। परम प्रेमिक-का हृदय लेकर ही वे भक्तके निकट आविर्भूत होते हैं। उस समय वे हमारा कितना आदर करते हैं, कितना त्रिभुवन-मोहन नृत्य दिखलाते हैं, कैसे हमारी दी हुई वस्तुएँ ग्रहण करते हैं और न मालूम कितनी बातें कह-सुनकर हमारे तप्त और अतृप्त हृदयको शीतल और तृप्त करते हैं। यह 'महतो महीयान् सर्ववरेण्य' भाव

हाँ उनका 'पुरुषोत्तम' भाव है । यह तर्क या विचारका विषय नहीं है । यह केवल अनन्य और विशुद्ध भक्तिके द्वारा ही जाना जा सकता है । समस्त विरुद्ध शक्तियोंने उनमें कैसी अपूर्व एकता प्राप्त की है—श्रुति कहती है—'परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते ।' (श्वे० ६ । ८)

भगवान्‌में अनेक भाव हैं । जिस समय वे ब्रह्मस्वरूपमें स्थित रहते हैं, उस समय सृष्टि, स्थिति, प्रलय नहीं होता; जड़-अजड़का कोई भेद नहीं रहता; जन्म-मृत्युकी पहेली नहीं होती; कर्ता-भोक्तापनका कोई विकार नहीं रहता । यह अवस्था व्यवहारसे सर्वथा परे की है । परन्तु कोई-कोई इसका भी पता लगा लेते हैं—'तू तू करते तू भयो तुझमें रह्यो समाय ।' यह एक भाव है ।

दूसरा एक व्यावहारिक भाव है । एक ओर वे जैसे माया-मुग्ध जीव और जगत्‌के रूपमें प्रकट हैं, दूसरी ओर वैसे ही 'मदनमोहन' वेशमें प्रकट होकर सारे विश्वके जीवोंको मुग्धकर अपने चरणोंमें बुला लेते हैं । त्रिताप-तप्त माया-मुग्ध जीव फिर मानो उनका कण्ठ-स्वर सुन पाता है, उनकी मुरलीध्वनि सुनकर वह अपनेको और इस जगत्‌को भूलकर उनकी ओर अभिसार करता है । परन्तु जबतक वे स्वयं नहीं पुकारते, तबतक इस सुखकी ओर चलनेकी शक्ति जीवमें नहीं है । जीवके प्रति उनकी यह जो करुणा है—जो दया-भाव है, यही उनका ईश्वरत्व या 'पुरुषोत्तम' भाव है । यह जड़-अजड़से अतीत चिन्मय आनन्दघन भाव है ।

तीसरा भाव है, इस विश्वके रूपमें उनका प्रकाश। इस भावसे वे सारे विश्वमें अपनेको व्याप्त कर, समस्त जगत्में प्रविष्ट होकर रहते हैं। स्वर्णालङ्कारमें अलङ्कार भी है, परन्तु है वह स्वर्णमय। इस स्वर्णको न देखकर केवल अलङ्कारको देखनेसे ही जीवकी दृष्टिमें भ्रम होता है। यही जीवका बद्ध-भाव है।

उनको स्पर्श करने, पकड़ने या समझनेकी शक्ति न रहनेपर भी उनकी कुछ-कुछ पहचान तो हो ही जाती है। क्योंकि वे 'प्राण' रूपसे समस्त जगत्में प्रविष्ट हो रहे हैं। यह 'प्राण' ही उनकी मुख्य प्रकृति या प्रकाश है। इस 'प्राण' से ही समस्त विश्वकी उत्पत्ति होती है। 'प्राण' के आधारपर ही विश्व स्थित है। बाहरसे देखनेपर यह अन्ध, या जड़-सा प्रतीत होता है परन्तु बात ऐसी नहीं है। इस 'प्राण' में ही विश्वकी चैतन्यशक्ति निहित है। यह 'प्राण' ही उनकी विश्वविमोहिनी माया या पञ्चबाण है। इस 'प्राण' की उपासनासे ही साधकके सामने प्राणकी विद्या-मूर्ति प्रकट होती है। तब साधक उन्हें जगद्धात्रीके रूपमें देखकर भक्तिभावसे प्रणाम करता है। इस प्राणकी उपासना करके ही जीव भवबन्धनसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है।

गीताशास्त्रकी पर्यालोचनासे मेरे मनमें इसी भावका उदय हुआ है कि 'मैं' 'मेरा' आदि देहात्मबुद्धिरूप मोहके नाशके लिये ही ज्ञानकी सर्वापेक्षा अधिक आवश्यकता है। क्योंकि ज्ञान बिना स्व-रूपमें स्थिति नहीं हो सकती, परमात्माका यथार्थ परिचय नहीं मिलता। इस ज्ञानके प्रकाशके लिये श्रद्धा-भक्तिकी आवश्यकता

है। आत्मसमर्पण विना भक्ति विशुद्ध नहीं होती। साथ ही भाव-संशुद्धिके लिये कर्म-शुद्धि भी आवश्यक प्रतीत होती है। कर्म-शुद्धिके उपायोंकी गीतामें विस्तृत आलोचना है, संक्षेपमें मैं उनका वर्णन पहले कर चुका हूँ।

गीताका सार

इस 'परम' ज्ञान या वास्तविक 'सोहमस्मि' भावमें विचारसे भी डूबा जा सकता है, विचारकी सहायता लेनी ही चाहिये। परन्तु केवल विचारका मार्ग सहज नहीं है। इसीलिये दयामय भगवान्‌ने दीनार्त भक्तको अभय प्रदान करते हुए कहा है—

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।

(गीता १८। ६४)

सब गुह्य विषयोंसे भी अत्यन्त गोपनीय इस परम वाक्यको सुनो, और इसे दृढ़तासे मनमें अङ्कित कर रक्खो। यदि तुम मेरे भक्त होओगे तो तुम्हें विचार-वितर्कके घोर अरण्यमें दौड़-धूप करनेकी कोई आवश्यकता न होगी। 'मैं' ही सब हूँ, 'मैं' ही जीवका सर्वस्व हूँ, यह समझकर—

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।

(गीता १८। ६५)

'किसी भी आश्रयकी ओर न ताककर एकदम कूद पड़ो, मेरे अन्दर डूब जाओ।' यही यथार्थ आत्मसमर्पण है। एक वार भक्तिपूर्ण हृदयसे अपनेको उनके चरणोंमें अर्पण करके कहो 'हे

स्वामी ! हे प्रभो ! हे मेरे हृदयके नाथ ! मेरे और कुछ भी नहीं है ! मेरे और कोई भी नहीं है, मुझे तुम ग्रहण करो, मुझे अपने अन्दर छिपा लो !' जो प्राण भरके इतने शब्द कह सकता है, उस शरणागत व्यथित कातर भक्तको वे तुरन्त कहते हैं—

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'

(गीता १८ । ६६)

चिन्ता न करो, तुम्हें सारे पापोंसे मैं मुक्त कर चुका !

तस्मात्त्वमुद्धवोत्सृज्य चोदनां प्रतिचोदनाम् ।
प्रवृत्तञ्च निवृत्तञ्च श्रोतव्यं श्रुतमेव च ॥
मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।
याहि सर्वात्मभावेन मया स्या ह्यकुतोभयः ॥

(श्रीमद्भा० ११ । १२ । १४ । १५)

अतएव हे उद्धव ! श्रुति, स्मृति, प्रवृत्ति, निवृत्ति, श्रोतव्य और श्रुत सब कुछ छोड़कर मैं जो सब देहियोंका आत्मा हूँ, उसकी शरण ग्रहण करो, इसीसे निर्भय हो जाओगे !

यही गीताका सार है । इसीसे इसका इतना प्रचार है ।

माताका स्नेह और मातृपूजा

हम क्या प्रेम कर सकते हैं, प्रेम करनेवाले वे प्राण ही हमारे अन्दर कहाँ हैं? तन-मनकी सुधि भुला देनेवाले और जगत्की विस्मृति करा देनेवाले भावमें डूबनेके लिये हमारे प्राणोंका वह आकर्षण ही कहाँ है? इसीसे हम न तो प्रेमका स्वरूप ही जान सकते हैं और न प्रेम कर ही सकते हैं? हम इस संसारमें जो प्रेम करते हैं, वह तो मानो राक्षसी प्यार है, वह प्रेम तो हम करते हैं प्रेमास्पदको खा डालनेके लिये, उसे पददलितकर उसके सारे सौन्दर्यको नष्ट कर डालनेके लिये और लोकमें उसे घृणाका पात्र बना देनेके लिये। छिः छिः, क्या इसीका नाम प्रेम है? प्रेमका स्वरूप समझे बिना प्रेम करनेसे वह असली प्रेम नहीं होता, वह तो केवल इन्द्रिय-चरितार्थता होती है।

जिस प्रेमका उद्देश्य इन्द्रिय-चरितार्थता है, वह कभी विशुद्ध नहीं हो सकता। इसीलिये संसारमें अन्ततक किसीके साथ प्रेम करके सुख नहीं मिलता। हमसबोंके अन्दर जैसे देवता निवास करते हैं, वैसे ही पशु भी हैं। सभी समय हमारे हृदय-सिंहासनोंपर केवल देवता ही विराजित नहीं रहते। अधिकांश समय तो हमारे अन्दर रहनेवाले पशु (पशुवृत्ति) ही छिपकर प्रेमके सिंहासनपर बैठ जाते हैं और समय-असमय धीरजके बाँधको तोड़कर वे अपने असली रूपमें प्रकट हो जाते हैं। इसीसे संसारमें इतना हाहाकार मच रहा है, और इसीसे जगत्में इतनी अशान्ति फैल रही है!

इस संसारमें प्रेमका यत्किञ्चित् स्वरूप समझना या देखना हो तो माताके समीप जाओ। वहाँ बहुत कुछ विशुद्ध प्रेमका स्वरूप देख सकोगे। यह माता भी हमारी उस जगज्जननीका ही अंश है, उस त्रिलोकप्रसविनी नित्यमाताका ही स्वरूप है, उसीका प्रतिबिम्ब है, इसीसे इससे जो प्रेम मिलता है वह इतना सुन्दर और इतना निर्मल है, ठीक मानो पुण्यसलिला भागीरथीकी पवित्र धाराके समान अत्यन्त स्वच्छ, अत्यन्त शुद्ध और परम पवित्र है। जो इस माताकी भक्ति कर सकता है, दिल खोलकर 'माँ' 'माँ' पुकार सकता है, वह शीघ्र ही उस चिन्मयी माताको भी पहचान सकेगा। वह सर्वचराचररूपिणी जगन्मयी हमारी माँ कितने रूपोंमें, कितने भावोंमें और कितने स्वाँगोंमें सजकर हमें अनवरत कितना आनन्द दे रही है। हम कभी आँखें खोलकर उसे देखते हैं? माँ जैसे बच्चेको गोदमें उठाकर नचाती है, वैसे ही वह सच्चिदानन्दमयी

माँ हमें कितने नाच नचा रही है ! उसके नित्य नवीन मनोहर नृत्यकी भाव-भंगियोंमें न मालूम हमारे कितने जन्म और हमारा कितना रूपान्तर हो जाता है । उस माँकी हम क्या पूजा करेंगे ? कितना समय उसकी पूजामें लगावेंगे ? वह तो प्रतिक्षण ही हमें लाड लडा रही है, हमारी पूजा कर रही है । हम उसके मातृ-हृदयको तृप्त करनेके लिये 'माँ' 'माँ' पुकारें । हमारे मुखसे इस 'माँ' शब्द-को सुननेके लिये ही वह न मालूम कितने दिनोंसे कान लगाये बाट देख रही है । कितने युग बीत गये, बाट देखते-देखते कितनी बार सृष्टि, स्थिति और प्रलय हो चुके, तब भी हम 'माँ' 'माँ' पुकारकर उसके हृदयको सुखी नहीं कर सके । हाय दुर्भाग्य ! हाय रे पाशविकता ! हमारी उस माँका हृदय अनन्त प्रेमका निर्झर है, इसीसे वह हमारा पीछा नहीं छोड़ रही है । इतनी उपेक्षा करनेपर भी वह हमारी अपेक्षा कर रही है । हमारे लिये न मालूम कितने युगोंसे माताके वक्षःस्थलसे स्तन्य-सुधाकी अनवरत धारा बह रही है । उस प्रेम-सुधा-धारासे आजतक न मालूम कितनी प्रेम-नदियाँ और कितने प्रेम-समुद्र बन गये, परन्तु हमारे अभागे हृदय-पाषाणका एक कण भी नहीं बहा । यह जीवनकी कैसी विडम्बना है ? हम किस अभिमानके पहाड़की चोटीपर बैठे हैं ? वह अनन्त प्रेम-धारा कितने हृदयोंको धोकर चली गयी, पर क्या उसने हमारे हृदयतीरको स्पर्श ही नहीं किया ? नहीं, निश्चय ही उसने स्पर्श किया है । हम सोच-समझकर इस बातको नहीं देखते । वह तो रोज-रोज ही स्पर्श कर जाती है, परन्तु हम उसे दिल लगाकर

नहीं देखते । हम तो अपने मनके आवेगमें ही मस्त हुए बैठे हैं, न मालूम किस-किस काल्पनिक सुखके नशेमें चूर हो रहे हैं, फिर उसकी पुकार हमारे कानोंमें कैसे प्रवेश कर सकती है, कौन सुने उसकी बातें ? सुननेवाला तो स्वयं पागल हो रहा है । जगत्‌में न मालूम कितनी तरहके पागल हैं ।

किसी-किसी पागलको ऐसा ख़याल होता है कि हम माताकी बड़ी पूजा करते हैं, उसके लिये अनेक साधन करते हैं, वह हमारे इस भजन-साधनसे आकर्षित होकर हमपर कृपादृष्टि करेगी । हाय रे मूर्खता ! हाय रे पागलपन ! इस बातको सुनते ही हँसी आती है । हम उसे आकर्षित कर सकें, ऐसी हमारे अन्दर कौन-सी शक्ति है ? तब भी हमारी वह माँ हमारी व्याकुलता देखकर पुकार उठती है, यह उसकी हमपर असीम कृपा है । हम उसको कहाँ पुकारते हैं ? वह माँ ही तो हमें पुकारती है । हम क्या धूल उसकी पूजा करते हैं, वही तो हमारी पूजा करती है । खिलौने सजकर खिलाड़ीको आनन्द देते हैं यों खिलाड़ी ही खिलौनोंको सजाकर उनसे आनन्द प्राप्त करता है ?

उसकी पूजाके लिये बड़ी भारी तैयारी चाहिये, विराट् आयोजन होना चाहिये । ऋषि-मुनियोंने भक्तिविह्वल चित्तसे इस बातको समझा था, इसीसे वे मनुष्योंकी भाषामें मनुष्योंके लिये कुछ-कुछ प्रकट कर गये हैं । हम अज्ञानी यदि कभी उसे समझ सकेंगे, हम अन्धोंकी भी किसी दिन आँखें खुल जायँगी तो पता लगेगा । अहा ! ऋषियोंकी कितनी दया है, व्यथित पीड़ित

आर्तोंके लिये उनके हृदयमें कितनी सहानुभूति है ? क्यों न हो ? माताके सच्चे सुपूत तो वही हैं. उन्होंने ही माँको समझा है; वही माँके मनकी बात जान सके हैं । हमारी वह माँ नित्य आर्त्तत्राण-परायणा है, सन्तानवत्सला है ! पर हम ऐसे कुपूत हैं, ऐसे पाषाण-हृदय हैं कि ऐसी माताकी ओर भी एक बार आँख उठाकर नहीं देखते । हम जिस जमीनपर बैठे हैं, जिसपरसे चल-फिर रहे हैं, सो रहे हैं, उठते-बैठते हैं और जिसका रस प्रतिदिन फलफूलोंके रूपमें, नाना प्रकारके अन्नके रूपमें हमें तृप्त कर रहा है, वह कौन है ? अरे, वही तो हमारी माँ है, माँको दूसरी जगह ढूँढ़ने कहाँ जाओगे ? रोज ही तो नन्हेंसे शिशुकी तरह उसके हृदयपर चढ़कर शक्तिभर उसका रस खींचकर पी रहे हो, उसीसे तो तुम पुष्ट हो, वही तो हमारी करुणामयी है, वही तो धरणी है—हमारी माँ ! 'महीस्वरूपेण यतः स्थितासि ।' रोज जो प्याससे व्याकुल होकर कुल्कुल करते हुए जल पीते हो और उससे प्राण बचे समझते हो; जानते हो उस जलके अंदर जीवनीशक्ति कौन है ? जल पीकर क्यों तृप्त होते हो ? इस जीवनरूपमें भी जगत्की जीवनस्वरूपा हमारी वह माँ ही है, 'अपां स्वरूपस्थितया त्वयैतत् ।' यह जो मन्द-मन्द सुखभरी हवा चल रही है, जिससे शरीर और मन शान्त हो रहे हैं, यह उसीका तो स्पर्श है । जो इतना सुख देती है, इतनी स्पष्टताके साथ तुम्हारे सामने सदा खड़ी रहती है—तुम उसको कहाँ पहचानते हो ? कहाँ समझते हो ? अरे, तुम तो समझनेकी चेष्टा भी नहीं करते । इतनेपर भी यह कहनेमें नहीं सकुचाते कि

वह कहाँ है ? उसके दर्शन कहाँ हो सकते हैं ? उसको प्राप्त करना केवल बात-ही-बात है तुम समझते हो मानो माँ सदा छिपी ही रहती है। उसे खोज निकालनेका भार मानो तुम्हारे ही ऊपर पड़ा हुआ है, इसीसे तुममेंसे कोई माला खटकाते हैं तो कोई फूँ फूँ करते हुए प्राणायाम करते हैं और सोचते हैं कि माँ हमारे साधन-जालमें फँस गयी हैं; क्यों ? पर यह सब कुछ भी नहीं है। बात तो ठीक इससे उलटी है। हम उसे नहीं खोजते हैं, वही हमें खोज रही है। न जाने कितने दिनोंसे, कितने युग-युगान्तरोंसे वह अपना मातृस्नेहपूर्ण वक्षःस्थल लिये हमारे पीछे-पीछे दौड़ रही है, और पुकार रही है, 'बेटा आ ! चला आ, दौड़ आ, एक बार मेरी छातीसे लग जा; अरे चञ्चल, अरे अबोध, मेरे लाल, चला आ, छोड़ दे भटकना, चला आ, एक बार फिर माँकी गोदमें !'

वही हमें हिलाती है, चलाती है, उठाती है, बैठाती है, खिलाती-पिलाती है और सुलाती है। हमारे लिये वह कितने रोने-हँसनेके खेल खेलती है, तब भी हम अपनी उस माँको याद नहीं करते ! उसको पुकारने और साधना करनेका अब और क्या आयोजन कर रहे हो भाई ? वही तो तुम्हारी सब कुछ है, वही तो तुम्हारे भीतर-बाहर है, वही तो अस्थि-मांसमय शरीर है, वही तो तुम्हारे प्राण-मन-बुद्धि है, वही तो तुम्हारा प्रिय अन्तरतर है, अरे वही तो तुम्हारा आत्मा है। उसकी स्तुतिप्रार्थना भी क्या करते हो ? उसकी भेंट भी क्या चढ़ाओगे ? वह न हो तो तुम्हारी जबान ही नहीं खुले। जो कुछ है सो तो उसीका है, किसकी चीज किसे दोगे ? इतना-सा ज्ञान होनेपर ही

तो सारे साधन-भजनका अन्त हो जाता है। अवश्य ही, इतना तो हमें अवश्य करना ही पड़ेगा, जिससे उसकी स्मृतिधारा बहती रहे। कैसे अचरजकी बात है ? इतनी उधेड़-बुन कर रहे हो, परन्तु उसे याद नहीं करते। लोगदिखाऊ जो उसका ध्यान करते हो, वह भी कितनी देर ? फिर उसमें भी न मालूम कितनी बार अन्यान्य विषयोंका चिन्तन करते हो ? यह न तो उसका असली स्मरण है और न साधन ही है। उसका निरन्तर चिन्तन करना पड़ेगा, प्रत्येक बोधमें उसीका अनुभव करना होगा। क्या तुम इस बातको जानते हो कि इन्द्रियोंके द्वारा यह मन जो असंख्य खेल खेलता है, वह क्या अपनी शक्तिसे खेलता है ? जितने भी बोधके विषय हैं उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं है जिसका विकास उस मांके पदनिक्षेपके बिना हो सकता हो। क्या तुमने कभी इस बातपर विचार किया है ? मन जो इन्द्रियोंके द्वारा दौड़ता-फिरता है, इसके प्रत्येक वेगमें जो कल्पना या चिन्तना रहती है वह उस माँके ही चरण-कमलोंसे प्रस्फुटित होती है। इसके सिवा अंट-संट और जो कुछ होता है सो सब तो भूतकी बेगारके ढोनेके समान है। उसमें कोई भी लाभ नहीं है। उठो, जागो। नींदमें ही उठकर इधर-उधर हाथ मारनेसे कोई लाभ नहीं होगा। भलीभाँति जग उठो, सब छोड़कर एक बार जगकर बैठ जाओ। जो कुछ है, सब उसीका है, वही सब है, इस स्मृतिको स्पष्ट कर डालना होगा। इसीका नाम यथार्थ साधना है, इसके अतिरिक्त और सब तो गुड़ियोंके खेल हैं। इसी साधनासे मातृस्नेहका आदर कर माताकी यथार्थ पूजा करो।

शिवका यथार्थ स्वरूप

अचिन्त्यमव्यक्तमनन्तरूपं
शिवं प्रशान्तममृतं ब्रह्मयोनिम् ॥ ८ ॥
तमादिमध्यान्तविहीनमेकं
विभुं चिदानन्दमरूपमद्भुतम् ।
उमासहायं परमेश्वरं प्रभुं
त्रिलोचनं नीलकण्ठं प्रशान्तम् ॥ ९ ॥
ध्यात्वा मुनिर्गच्छति भूतयोनिं
समस्तसाक्षिणं तमसः परस्तात् ॥१०॥
पुरत्रये क्रीडति यश्च जीव-
स्ततस्तु जातं सकलं विचित्रम् ॥१६॥
आधारमानन्दमखण्डबोधं
यस्मिँल्लयं याति पुरत्रयं च ॥१७॥

स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यं सनातनम् ।
ज्ञात्वा तं मृत्युमत्येति नान्यः पन्था विमुक्तये ॥११॥
(कैवल्योपनिषद्)

उपर्युक्त श्लोकोंसे शिवसम्बन्धी समस्त जाननेयोग्य विषयोंका स्पष्टीकरण हो जाता है । 'शिव' शब्दसे शास्त्रोंने परब्रह्मका ही निर्देश किया है । यह शिव ही परम कल्याणरूप तथा जीवकी परमा गति हैं । यह शिवतम रस ही 'ब्रह्मानन्दरूपममृतं यद्विभाति' है जिसके अत्यन्त सामान्यतम अंशको पाकर देवता, मनुष्य तथा समस्त जीव परमानन्दका उपभोग करते हैं । यह आनन्द ही समस्त जीवोंका जीवन है । यह आनन्द ही शिवका स्वरूप है और इसी कारण शिवका एक नाम 'सदानन्द' है । इन शिवस्वरूप परब्रह्मके दो रूप हैं—एक सगुण, दूसरा निर्गुण । जब वह मायोपहित होते हैं तभी सगुण ब्रह्म या ईश्वर कहलाते हैं, तथा जब वह मायोपाधिसे शून्य होते हैं तब निर्गुण कहलाते हैं । यही सच्चिदानन्द शिव जब प्रकृतिको स्वीकार करते हैं तब उनसे अनूपरूप अनिर्वचनीय एक महाशक्तिका प्रादुर्भाव होता है । यही महाशक्ति सृष्टिका मूल उपादान है । इस शक्तिसंयुक्त शिवसे ही महत्तत्त्व या नाद उत्पन्न होता है और उससे अहङ्कार या बिन्दुकी उत्पत्ति होती है । यह प्रकृति और ब्रह्म अभिन्नभावसे मिलकर अखिल संसारको बारंबार उत्पन्न और ध्वंस करते हैं । इनमें चैतन्य और अहङ्कार अङ्गाङ्गीभावसे प्रकाशित रहते हैं । इसी कारण इनके युगलभावकी शास्त्रोंमें 'अर्द्धनारीश्वर' नामसे व्याख्या की गयी है । चैतन्ययुक्त अहङ्कार एवं अहङ्कारयुक्त चैतन्य, इन्हीं दो भावोंमें इनकी

पूजाकी व्यवस्था भी शास्त्रोंमें वर्णित है । जो चैतन्ययुक्त अहङ्कारकी उपासना करते हैं वे इनको पुम् देवता शिवादिके रूपमें, तथा जो अहङ्कारयुक्त चैतन्यकी उपासना करते हैं वे स्त्री देवता गौरी आदिके रूपमें इनकी कल्पना करते हैं । वस्तुतः ये स्त्री या पुरुष नहीं हैं; ये तो उभयात्मक होते हुए भी इन उभय अवस्थाओंसे अतीत रूपमें नित्य विराजमान रहते हैं । शारदातिलकमें लिखा है—

> निर्गुणः सगुणश्चेति शिवो ज्ञेयः सनातनः ।
> निर्गुणः प्रकृतेरन्यः सगुणः सकलः स्मृतः ॥

सच्चिदानन्द ब्रह्मयुक्त आद्याशक्तिसे नाद या महत्तत्त्व उत्पन्न होता है और उस नादसे अहङ्कार-तत्त्वकी उत्पत्ति होती है, यह पहले ही कहा जा चुका है । यह विन्दु अथवा अहङ्कार सात्त्विक, राजस और तामस-भेदसे तीन प्रकारका है । इसीलिये शिवकी भी तीन अवस्थाएँ कही जाती हैं । पुनः यह तीनों मिलकर जब एक हो जाते हैं तब वही परम विन्दु या परम शिव कहलाता है । सुतरां वह परम शिव कभी सत्त्वगुणयुक्त अथवा चिन्मय पुरुषरूपमें, कभी तमोगुणयुक्त अर्थात् प्रकृतिमय, एवं कभी रजोगुणयुक्त अर्थात् उभयात्मक शिवशक्तिमयरूपमें प्रतीत होते हैं । इन्हींको ज्ञानशक्ति, इच्छाशक्ति और क्रियाशक्तिके नामसे पुकारते हैं । इन्हीं तीन भावोंसे भावित हो यह शक्तित्रय गौरी, ब्राह्मी और वैष्णवी नामसे पुकारी जाती हैं ।

इन्हीं तीन शक्तियोंसे त्रिगुण और गुणत्रयके अधीश्वर ब्रह्मा, विष्णु और शिव उत्पन्न होते हैं । गुणत्रयके साथ ब्रह्मा, विष्णु और

शिव जब अभेदरूपसे मिल जाते हैं तभी वह 'महेश्वर' कहलाते हैं। यह महेश्वर ही महाप्रणव हैं। प्रणवमें जैसे अकार, उकार, मकार, नाद, बिन्दु, कला और कलातीत यह सात अङ्ग हैं उसी प्रकार शिवके प्रकाशित (व्यक्त) पञ्चमुख तथा अन्य दो अप्रकाशित (अव्यक्त) मुख हैं, यह सप्तमुख ही प्रणवके रूप हैं।

शिवका प्रथम मुख अकार है, इसे 'तत्पुरुष' कहते हैं, द्वितीय मुख उकार या 'अघोर' है, तृतीय मुख मकार या 'सद्योजात' है, चतुर्थ मुख नाद या 'वामदेव' है, पञ्चम मुख बिन्दु या 'ईश्वर' है, षष्ठ मुख कला या 'नीलकण्ठ' है, सप्तम मुख कलातीत या चैतन्य है। यह सप्तम मुख ही कलातीत अव्यक्त अथवा अनिर्देश्यस्वरूप है। ब्रह्मा ही महाप्रणवके रूपमें शिवके प्रथम रूप हैं। इन्हीं ब्रह्मासे चतुर्वेद प्रकाशित होते हैं। विष्णु द्वितीय मुख हैं। रुद्र तृतीय मुख हैं, ईश्वर चतुर्थ मुख हैं, महेश्वर पञ्चम मुख हैं, परशिव षष्ठ मुख हैं तथा सप्तम मुख शिवशक्तिसम्मिलित महा महेश्वर अथवा कलातीता माहेश्वरीरूप है।

यही सर्वप्रथम ब्रह्माके रूपमें वेदका प्रकाशकर जगत्को ज्ञानदान करते हुए उसके लिये मुक्तिके मार्गका निर्देश करते हैं। यही जगद्गुरु शिवके रूपमें स्वयं साधक बन जगत्के जीवोंको साधनाकी शिक्षा देकर उनके लिये मुक्तिपथका द्वार खोल देते हैं। परमब्रह्मके साथ जीव जितने प्रकारोंसे योगयुक्त हो सकता है उन समस्त योगमार्गोंका निर्देशकर वह सब योगोंके आचार्यके रूपमें अपनेको प्रकट करते हैं।

शिवके सप्तमुख ही सप्त आम्नायके गुरु हैं। प्रथम आम्नायका ज्ञेय कुण्डलिनी या प्रकृति है। उसकी साधना है मन्त्रयोग और हठयोग। द्वितीय आम्नायका ज्ञेय परमात्मा है, उसकी साधना भक्तियोग और लययोग है। तृतीय आम्नायका ज्ञेय काल है, उसकी साधना है क्रियायोग और लक्ष्ययोग। चतुर्थ आम्नायका ज्ञेय विज्ञान है, उसकी साधना ज्ञानयोग है। पञ्चम आम्नायका गम्य शून्य है, उसकी साधना परायोग और संन्यास है। षष्ठ आम्नायका गम्य ब्रह्म है, उसकी साधना शाम्भवी और अमनस्कयोग है। सप्तम आम्नायका गम्य परम ब्रह्म है, उसकी साधना सहज या मोक्षयोग है।

ये शिव जगत्‌के ज्ञानदाता गुरुके रूपमें जीवोंके लिये सहज ही प्राप्त हैं। अन्य देवताओंकी आराधनामें बहुत प्रयासकी जरूरत है, परन्तु इनकी पूजामें बहुत-से आयासका प्रयोजन नहीं होता। ये क्षिति, अप्, तेज, मरुत्, व्योम, मन, बुद्धि, अहङ्कार—इन अष्टमूर्तियोंको धारण कर जीवोंका नाना प्रकारसे प्रतिपालन करते हैं। हम जिधर देखते हैं, जो कुछ करते हैं, जो कुछ सोचते हैं अथवा उपभोग करते हैं, यह समस्त द्रव्य या भाव इन्हींके प्रकटित (व्यक्त) चैतन्यसे पूर्ण हैं अथवा इनके चैतन्यके ही परिणाम हैं। यही दयानिधि जगत्‌के पिता-माता सदाशिव जीवके कल्याणके लिये भिखारीका वेष धारणकर प्राणियोंके लिये भुक्ति और मुक्तिकी भिक्षा माँगते हैं। किससे भिक्षा माँगते हैं? वे माँगते हैं अन्नपूर्णासे, जिनमें शरीर, प्राण, मन, बुद्धिके सर्व प्रकारके अन्न वर्तमान रहते हैं। परन्तु जो शिवगणोंसे आत्ममन्त्रको प्राप्तकर शिवस्वरूप हो

गये हैं वे ही इस सर्वशक्तिके केन्द्र महामाया जगदम्बाके निकट जगत्के जीवोंके लिये हाथ पसार सकते हैं। इसमें उनके अपने प्रयोजनकी सिद्धिका कोई उद्देश्य नहीं होता। वे 'बहुजनहिताय' उन जीवोंके सब प्रकारके दारिद्र्य और भयको हरनेवाली जगदम्बासे अञ्चल पसारकर भिक्षा माँगते हैं—

जाया सुतः परिजनोऽतिथयोऽन्नकामा
भिक्षां प्रदेहि गिरिजे क्षुधिताय मह्यम्।

भक्तकी यह भूख केवल अपने प्रयोजनकी सिद्धिसे ही नहीं मिटती। उनकी दृष्टि महान् होती है, अतः वह केवल स्त्री-पुत्रके लिये ही प्रार्थना करके निश्चिन्त नहीं होते; परिजन, अतिथि एवं पृथिवीमें जहाँ जो कोई भी अतृप्त जीव व्याकुल होकर प्राणोंकी भूख मिटानेके लिये छटपटा रहे हैं, उन सबके लिये अन्नकी व्यवस्था किये बिना भक्त स्थिर नहीं हो सकते। इसी कारण शिवको शास्त्रोंमें जगद्गुरु कहा है। वह साधकोंकी साधनाका धन होते हुए भी, किस प्रकार इष्टसाधनमें प्राणपणसे प्रयत्न किया जाता है, किस प्रकार मनुष्य संसारमें ही असंसारी हो सकता है, किस प्रकार अभावकी दारुण दावाग्निमें पड़कर भी ध्यानमग्न हो सकता है, इसका दृष्टान्त भी अपने ही अन्दर हमें देते हैं। इसी कारण शिव जगद्गुरु कहलाते हैं। वह देवोंके देव होते हुए भी, जीव जिससे उनका अनुकरण करके कृतार्थ हो सके ऐसा विचारकर गृही, भिखारी और योगी बनकर हमारे समक्ष दृष्टान्तरूपसे

उपस्थित हैं। जीवोंका ऐसा उपकार करनेवाला दूसरा कोई देवता नहीं है। पाठक जानते हैं कि शिव परमदेव होते हुए भी श्मशानमें अस्थिमाला पहनकर क्यों बैठे हैं? जो श्मशानमें रहेगा उसे अस्थियोंकी माला पहननी ही पड़ेगी। देहकी अस्थियोंमें, विशेषतः मेरुदण्डके बीच अजस्र प्राणप्रवाहिका नाड़ियोंमें प्राणरूपसे शिव ही विराजमान हैं। पुनः यह प्राण जब शोधित होकर स्थिर, अचञ्चल हो जाते हैं तब देहाभिमानके संयोगसे नाना वासनाएँ जीवको व्याकुल नहीं कर सकतीं, तब उसका मन अमन हो जाता है, अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है, सांसारिक वासनाएँ प्रज्वलित ब्रह्माग्निमें भस्म हो जाती हैं, तब उसी भस्मका लेपकर जीव शिव बन जाता है, तब यह महाशून्य ही उसका आवासस्थान हो जाता है। यह महाशून्य ही श्मशान है। वहाँ नाम नहीं है, रूप नहीं है, अहङ्कार नहीं है, देहाभिमान नहीं है, सुख-दुःख-भोग नहीं है। अनन्त महाशून्यमें सर्वशून्यरूपमें आत्मा प्रतिष्ठित है। यही परमव्योम अथवा शिवरूप सच्चिदानन्दब्रह्मकी मूर्ति है।

वह अलिङ्ग होते हुए ही लिङ्गस्वरूप हैं, नहीं तो मोहान्ध जीव उनको प्राप्त ही कैसे कर सकता? इस लिङ्गशब्दसे केवल जननेन्द्रियका ही बोध नहीं होता—

> आकाशं लिङ्गमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका।
> आलयं सर्वदेवानां लयनाल्लिङ्गमुच्यते॥

अणिमादि अष्टगुण तथा समस्त देवता जिसमें शयन अथवा अवस्थान करते हैं वही 'शिव' है। यह आकाश ही उसका लिङ्ग है और पृथिवी उसकी पीठिका है। मन इस आकाशमें विलीन होनेपर ही परमा सिद्धिको प्राप्त हो सकता है। पीठस्थान पृथिवी अथवा मूलाधार है। इस मूलाधार या पृथिवी-तत्त्वसे आकाशतत्त्वपर्यन्त जीवभाव और देवभाव है, उसके बाद जब 'शून्ये विशति मानसे'—अर्थात् मन महाशून्यमें मिलकर सर्वशून्य हो जाता है, तो उस अवस्थाको ही श्मशान कहते हैं। इस श्मशानमें जानेपर जीव फिर जीव नहीं रह जाता, उस समय उसका कोई चिह्न, या लिङ्ग नहीं रहता, वह अलिङ्ग हो जाता है। यह अलिङ्ग ही ब्रह्मपद है।

इसके बाद यह कहना है कि शिव त्र्यम्बक और त्रिपुरारि क्यों कहलाते हैं? सूर्य, चन्द्र और अग्नि यही उनके तीन नेत्र हैं। सूर्य प्राणस्वरूप है, चन्द्र मनस्वरूप है और अग्नि बुद्धिस्वरूप है, इन तीनोंके एकत्वकी ही जीवसंज्ञा है। जब साधनाके द्वारा प्राण शुद्ध हो जाता है तथा प्राणकी शुद्धिसे मनःशुद्धि होती है एवं मनकी शुद्धिसे बुद्धि विशुद्ध होती है, तभी अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेसे प्रज्ञानेत्र खुल जाते हैं। यह प्रज्ञानेत्र जिनके स्वतः ही स्फुरित हैं वे ही त्र्यम्बक या शिव हैं।

जीवमात्रके स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीररूप त्रिपुर विद्यमान

हैं। स्थूल देहकी अवस्था जाग्रत् है, सूक्ष्मकी स्वप्न है और कारण-शरीरकी अवस्था सुषुप्ति है। इसी त्रिपुरसे अभिमानयुक्त होकर जीव त्रिपुरासुर बन बैठा है। शिवशक्तिके सहयोगसे जो समरस उत्पन्न होता है उसी समरसमें समस्त देवशक्ति निहित रहती है। इस समरस-भावापन्न साधकको फिर स्थूल, सूक्ष्म और कारण-शरीरमें अहंबोध नहीं रहता। साधनके बलसे इस अवस्थाके प्रकटित होते ही वह शिवस्वरूप हो जाता है और साथ-साथ उसके अनादि जन्म-मरणका बीज कारण देह एवं तत्सम्भूत सूक्ष्म, स्थूल देहोंके पुनः-पुनः आगमनका निरोध हो जाता है। जो साधक अपने कारणादि त्रिपुरमें आगमनका निरोध कर सकते हैं वही त्रिपुरारि हैं। यह त्रिपुरारि सर्वदेवपूज्य हैं। अखिलात्माके साथ तब वह एकात्मता प्राप्तकर महेश्वररूपमें पूजित होते हैं।

श्रीहरिः

गीताप्रेस, गोरखपुर

की

पुस्तकों और चित्रोंकी

सूची

माघ १९९२

मिलनेका पता—

गीताप्रेस, गोरखपुर

पुस्तकों और चित्रोंके बड़े सूचीपत्र मुफ्त मँगाइये।

कुछ ध्यान देने योग्य बातें—

(१) हर एक पत्रमें नाम, पता, डाकघर, जिला बहुत साफ देवनागरी अक्षरोंमें लिखें। नहीं तो जवाब देने या माल भेजनेमें बहुत दिक्कत होगी। साथ ही उत्तरके लिये जवाबी कार्ड या टिकट आना चाहिये।

(२) अगर ज्यादा किताबें मालगाड़ी या पार्सलसे मँगानी हों तो रेलवे स्टेशनका नाम जरूर लिखना चाहिये। आर्डरके साथ कुछ दाम पेशगी भेजने चाहिये।

(३) थोड़ी पुस्तकोंपर डाकखर्च अधिक पड़ जानेके भयसे एक रुपयेसे कमकी वी० पी० प्रायः नहीं भेजी जाती, इससे कमकी किताबोंकी कीमत, डाकमहसूल और रजिस्ट्री-खर्च जोड़कर टिकट भेजें।

(४) एक रुपयेसे कमकी पुस्तकें बुकपोस्टसे मँगवानेवाले सज्जन ।) तथा रजिस्ट्रीसे मँगवानेवाले ।=) (पुस्तकोंके मूल्यसे) अधिक भेजें। बुकपोस्टका पैकेट प्रायः गुम हो जाया करता है; अतः इस प्रकार खोयी हुई पुस्तकोंके लिये हम जिम्मेवार नहीं हैं।

कमीशन-नियम

समान व्यवहारके नाते छोटे-बड़े सभी ग्राहकोंको कमीशन एक चौथाई दिया जायगा। ३०) की पुस्तकें लेनेसे ग्राहकोंके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री-डिलीवरी दी जायगी। परन्तु थोड़ी अन्य प्रकारकी पुस्तकें भी लेनी होंगी, केवल गीता नहीं। ३०) की पुस्तकें लेनेवाले सज्जनोंमेंसे यदि कोई जल्दीके कारण रेलपार्सलसे पुस्तकें मँगवावेंगे तो उनको केवल आधा महसूल बाद दिया जायगा। फ्री-डिलीवरीमें बिल्टीपर लगनेवाला डाकखर्च, रजिस्ट्रीखर्च, मनीआर्डरकी फीस या बैंकचार्ज शामिल नहीं होंगे, ग्राहकोंको अलग देने होंगे। नवीन रेटके अनुसार चित्रोंके दाम कम हो जानेके कारण पुस्तकोंके साथ चित्रोंकी फ्री-डिलीवरी नहीं दी जायगी। पुस्तकोंके साथ चित्र मँगानेवालोंको चित्रोंके कारण जो विशेष भाड़ा लगेगा वह देना होगा।

गीताप्रेस, गोरखपुरकी पुस्तक-सूची

श्रीमद्भगवद्गीता-[श्रीशांकरभाष्यका सरल हिन्दी-अनुवाद] इसमें मूल भाष्य तथा भाष्यके सामने ही अर्थ लिखकर पढ़ने और समझनेमें सुगमता कर दी गयी है। श्रुति, स्मृति, इतिहासोंके उद्धृत प्रमाणोंका सरल अर्थ है। पृष्ठ ५१९, ३ चित्र, मू० २।।), बढ़िया जिल्द ... ... २।।।)

श्रीमद्भगवद्गीता-मूल, पदच्छेद, अन्वय, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान और सूक्ष्म विषय एवं त्यागसे भगवत्प्राप्ति-सहित, मोटा टाइप, कपड़ेकी जिल्द, पृष्ठ ५७०, बहुरंगे ४ चित्र, मू० १।)

श्रीमद्भगवद्गीता-गुजराती टीका, गीता नम्बर १की तरह, मू० ... १।)

श्रीमद्भगवद्गीता-मराठी टीका, हिन्दीकी १।) वालीके समान, मूल्य १।)

श्रीमद्भगवद्गीता-प्रायः सभी विषय १।) वालीके समान, विशेषता यह है कि श्लोकोंके सिरेपर भावार्थ छपा हुआ है, साइज और टाइप कुछ छोटे, पृष्ठ ४६८, मूल्य ।।ꣳ), सजिल्द ... ।।।=)

श्रीमद्भगवद्गीता-बंगला टीका, गीता नं० ५ की तरह। मू० ... ।।।)

श्रीमद्भगवद्गीता-श्लोक, साधारण भाषाटीका, टिप्पणी, प्रधान विषय, साइज मझोला, मोटा टाइप, पृष्ठ ३१६, मूल्य ।।), स० ... ।।ꣳ)

गीता-मूल, मोटे अक्षरवाली, सचित्र, मूल्य ।-), सजिल्द ... ।ꣳ)

गीता-साधारण भाषाटीका, पाकेट-साइज, सभी विषय ।।) वालीके समान, सचित्र, पृ० ३५२, मूल्य ≈)।।, सजिल्द ... ꣳ)।।

गीता-भाषा, इसमें श्लोक नहीं है। अक्षर मोटे हैं, १ चित्र, मू० ।), स० ।≈)

गीता-मूल ताबीजी, साइज २ × २।। इञ्च, सजिल्द, मू० ... =)

गीता-मूल, विष्णुसहस्रनामसहित, सचित्र और सजिल्द, मू० ... =)

गीता-७।। × १० इञ्च साइजके दो पन्नोंमें सम्पूर्ण, मू० ... -)

गीता-डायरी-सन् १९३६ की, मू० ।) सजिल्द ... ... ।-)

गीता-सूची (Gita-List)—संसारकी (भिन्न-भिन्न ३१ भाषाओंकी) अनुमान २००० गीताओंका परिचय, मूल्य ।।)

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीविष्णुपुराण—हिन्दी-अनुवादसहित, ८ चित्र, एक तरफ श्लोक और उनके सामने ही अर्थ है, पृष्ठ ५४८, मूल्य २॥), कपड़ेकी जिल्द ... ... २॥।)

अध्यात्मरामायण—सटीक, ८ चित्र, एक तरफ श्लोक और उनके सामने ही अर्थ है, दूसरा संस्करण छप गया है। मू० १॥।), स० २)

प्रेम-योग—सचित्र, लेखक—श्रीवियोगी हरिजी, पृष्ठ ४२०, बहुत मोटा एण्टिक कागज, मूल्य अजिल्द १।), सजिल्द ... १॥)

श्रीतुकाराम-चरित्र—९ चित्र, पृष्ठ ६९४, मूल्य १≡) सजिल्द ... १॥)

श्रीकृष्ण-विज्ञान—श्रीमद्भगवद्गीताका मूलसहित हिन्दी-पद्यानुवाद। दो चित्र, पृष्ठ २७५, मोटा कागज, मू० ॥।), स० १)

विनय-पत्रिका—सरल हिन्दी-भावार्थ-सहित, ६ चित्र, अनु०—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, दूसरा संस्करण, भावार्थमें अनेकों आवश्यक संशोधन किये गये हैं तथा परिशिष्टमें कथाभागके २७ पृष्ठ और जोड़ देनेपर भी मूल्य १), सजिल्द १।)

गीतावली—सटीक अनु०—श्रीमुनिलालजी, इसमें रामायणकी तरह सात काण्डोंमें श्रीरामचन्द्रजीकी लीलाओंका भजनोंमें बड़ा ही सुन्दर वर्णन है। पृष्ठ ४६०, ८ चित्र, मू० १) सजिल्द १।)

भागवतरत्न प्रह्लाद—३ रंगीन, ५ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ ३४०, मोटे अक्षर, सुन्दर छपाई, मूल्य १) सजिल्द ... १।)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड १)—सचित्र, श्रीचैतन्यदेवकी बड़ी जीवनी। पृष्ठ ३६०, मू० ॥।=), सजिल्द १=)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड २)—सचित्र, पहले खण्डके आगेकी लीलाएँ। पृष्ठ ४५०, ९ चित्र, मूल्य १=), सजिल्द १।=)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ३)—पृष्ठ ३८४, ११ चित्र, मूल्य १), सजिल्द १।)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ४)—पृष्ठ २२४, १४ चित्र, मूल्य ॥=), सजिल्द ॥।=)

श्रीश्रीचैतन्य-चरितावली (खण्ड ५)-पृष्ठ २८०, १० चित्र, मू० ।।।) स० १)

मुमुक्षुसर्वस्वसार-भाषासहित, पृष्ठ ४१४, मूल्य ।।।-), सजिल्द १-)

श्रीमद्भागवतान्तर्गत एकादश स्कन्ध-यह स्कन्ध बहुत ही उपदेश-पूर्ण है, सचित्र, सटीक, पृष्ठ ४२०, मूल्य केवल ।।।), स० १)

देवर्षि नारद-२ रंगीन, ३ सादे चित्रोंसहित, पृष्ठ २४०, सुन्दर छपाई, मूल्य ।।।), सजिल्द ... ... १)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग १-सचित्र, ले०-श्रीजयदयालजी गोयन्दका, इसके मननसे धर्ममें श्रद्धा, भगवान्‌में प्रेम और विश्वास एवं नित्यके बर्तावमें सत्य व्यवहार और सबसे प्रेम एवं शान्तिकी प्राप्ति होती है। पृष्ठ ३५०, मूल्य ।।=), स० ।।।-)

तत्त्व-चिन्तामणि (भाग १)-छोटे आकारका संस्करण लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका, सचित्र, पृष्ठ ४४८, मू० ।-) सजिल्द ।=)

तत्त्व-चिन्तामणि भाग २-सचित्र, इसमें लोक और परलोकके सुख-साधनकी राह बतानेवाले सुविचारपूर्ण सुन्दर-सुन्दर लेखोंका अति उत्तम संग्रह है। पृष्ठ ६३२ मूल्य ।।।=) सजिल्द ... १=)

इस २रे भागका भी छोटे आकारका संस्करण छप रहा है, शीघ्र प्रकाशित होगा।

नैवेद्य-श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके २८ लेख और ६ कविताओंका सचित्र नया सुन्दर ग्रन्थ, पृ० ३५०, मू० ।।=), स० ... ।।।-)

श्रीज्ञानेश्वर-चरित्र-दक्षिणके प्रसिद्ध, सबसे अधिक प्रभावशाली भक्त ('श्रीज्ञानेश्वरी गीता' के कर्ता) की जीवनदायिनी जीवनी और उनके उपदेशोंका नमूना। सचित्र, पृष्ठ ३५६, मू० ।।।-)

शरणागतिरहस्य-सचित्र, पृष्ठ ३६०, मूल्य ।।≤)

विष्णुसहस्रनाम-शांकरभाष्य हिन्दी-टीका-सहित, सचित्र; भाष्यके सामने ही उसका अर्थ छापा गया है। पृष्ठ २७५, मूल्य ।।=)

आनन्दमार्ग-सचित्र, पृष्ठ ३२४, मूल्य ।।-)

श्रुतिरत्नावली-लेखक—स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी, एक पेजमें मूल श्रुतियाँ और उसके सामनेके पेजमें उनके अर्थ हैं, पृष्ठ २८४, मू० ।।)

स्तोत्ररत्नावली-हिन्दी-अनुवादसहित, सचित्र, मूल्य ... ।।)

तुलसीदल—लेखक—श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, इसमें छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष, आस्तिक-नास्तिक, विद्वान्-मूर्ख, भक्त-ज्ञानी, गृहस्थी-त्यागी, कला और साहित्य-प्रेमी सबके लिये कुछ-न-कुछ उन्नतिका मार्ग मिल सकता है। पृष्ठ २९२, सचित्र, मू० ॥), स०॥=)

श्रीएकनाथ-चरित्र—ले०—हरिभक्तिपरायण पं० लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर, भाषान्तरकार—पं० श्रीलक्ष्मण नारायण गर्दे। हिन्दीमें एकनाथ महाराजकी जीवनी अभीतक नहीं देखी, मूल्य ... ॥)

दिनचर्या—(सचित्र) उठनेसे सोनेतक करनेयोग्य धार्मिक बातोंका वर्णन। नित्य-पाठके योग्य स्तोत्र और भजनोंसहित। मूल्य ॥)

विवेक-चूडामणि—(सानुवाद, सचित्र) पृष्ठ २२४, मू० ।=), स० ॥=)

श्रीरामकृष्ण परमहंस—(सचित्र) इस ग्रन्थमें इन्हींके जीवन और ज्ञानभरे उपदेशोंका संग्रह है। पृ० २५०, मूल्य ... ।=)

ईशावास्योपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ ५०, मू० =)

केनोपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १४६, मूल्य ॥)

कठोपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १७२, मूल्य ।-)

मुण्डकोपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १२२, मू० ।=)

प्रश्नोपनिषद्—सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित, सचित्र, पृष्ठ १३०, मूल्य ।=)

उपरोक्त पाँचों उपनिषद् एक जिल्दमें सजिल्द (उपनिषद्-भाष्य खण्ड १) मूल्य २।-)

माण्डूक्योपनिषद् भी छप रहा है।

भक्त-भारती—७ चित्र, कवितामें ७ भक्तोंकी सरल कथाएँ, मू० ।=)

भक्त बालक—गोविन्द, मोहन आदि बालकभक्तोंकी कथाएँ हैं, मू० ।-)

भक्त नारी—स्त्रियोंमें धार्मिक भाव बढ़ानेके लिये बहुत उपयोगी कथाएँ हैं।-)

भक्तपञ्चरत्न—यह पाँच कथाओंकी पुस्तक सद्गृहस्थोंके लिये बड़े कामकी है।-)

आदर्श भक्त—राजा शिवि, रन्तिदेव, अम्बरीष आदिकी कथाएँ, ७ चित्र, मू०।-)

भक्त-चन्द्रिका—भगवान्के प्यारे भक्तोंकी मीठी-मीठी बातें, ७ चित्र, मू०।-)

भक्त-सप्तरत्न—सात भक्तोंकी मनोहर गाथाएँ, ७ चित्र, पृष्ठ १०६, मू० ।-)

भक्त-कुसुम—छोटे-बड़े, स्त्री-पुरुष सबके पढ़ने योग्य प्रेमभक्तिपूर्ण ग्रन्थ ।-)

प्रेमी भक्त–६ चित्रोंसे सुशोभित, मूल्य ... ।-)

यूरोपकी भक्त स्त्रियाँ–३ चित्रोंसे सुशोभित, मूल्य ... ।)

गीतामें भक्ति-योग–(सचित्र) लेखक–श्रीवियोगी हरिजी, मू० ।-)

प्रेम-दर्शन–(नारद-रचित भक्तिसूत्रकी विस्तृत टीका श्रीहनुमान-
प्रसादजी पोद्दारकृत) पृष्ठ २००, मूल्य ... ।-)

उपनिषदोंके चौदह रत्न—पृष्ठ १००, चित्र १०, मूल्य ।=)

तत्त्वविचार–सचित्र, पृष्ठ २०५, मूल्य ।=)

परमार्थ-पत्रावली–श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके ५१ कल्याणकारी
पत्रोंका संग्रह, पृष्ठ १४४, एण्टिक कागज, मूल्य ... ।)

माता–श्रीअरविन्दकी अँगरेजी पुस्तक (Mother) का अनुवाद, मू० ।)

श्रुतिकी टेर–(सचित्र) लेखक–स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी, मू० ।)

ज्ञानयोग–श्रीभवानीशंकरजीके ज्ञानयोगसम्बन्धी उपदेश, पृष्ठ १२४, मू० ।)

कल्याणकुञ्ज–सचित्र, पृष्ठ १६४, मूल्य ।)

व्रजकी झाँकी–वर्णनसहित लगभग ४० चित्र, मूल्य ... ... ।)

श्रीबदरी-केदारकी झाँकी–सचित्र, मूल्य ... ... ।)

प्रबोध-सुधाकर–(सानुवाद, सचित्र) इसमें विषयभोगोंकी तुच्छता
दिखाते हुए आत्मसिद्धिके उपाय बताये गये हैं, मूल्य ≡)॥

मानव-धर्म–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, पृष्ठ ११२, मूल्य ≡)

गीता-निबन्धावली–गीताकी अनेक बातें समझनेके लिये उपयोगी
है। यह गीता-परीक्षाकी मध्यमाकी पढ़ाईमें रक्खी गयी है, मू० =)॥

साधन-पथ–ले०–श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार, सचित्र, पृष्ठ ७२, मू० =)॥

वेदान्त-छन्दावली–ले०–स्वामीजी श्रीभोलेबाबाजी, मू० =)॥

अपरोक्षानुभूति–मूल श्लोक और अर्थसहित, सचित्र, मूल्य ... =)॥

मनन-माला–यह भावुक भक्तोंके बड़े कामकी चीज है, मू० ... =)॥

The Story of Mira Bai—Page 96. As. 10

Mind: Its Mysteries and Control—By Swami Siva-
nanda Saraswati, page 200, price As. 8

The Immanence of God—By Pandit Malaviya... As. 2

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

शतश्लोकी-हिन्दी-अनुवादसहित मू०=)	विष्णुसहस्रनाम मूल मू०)।।।, स० –)।।	सन्ध्या हिन्दी-विधिसहित)॥
चित्रकूटकी झाँकी =)	गोविन्द-दामोदर-स्तोत्र (सार्थ) पृष्ठ ३७, मू० –)।।	बलिवैश्वदेवविधि)॥
भजन-संग्रह प्र०भा०=)	ईश्वर-मूल्य –)।	प्रश्नोत्तरी सटीक)॥
,, द्वितीय भाग =)	मूलरामायण –)।	सेवाके मन्त्र)॥
,, तृतीय भाग =)	मूल गोसाईं-चरित –)।	सीतारामभजन)॥
,, चतुर्थ भाग =)	गीताका सूक्ष्म विषय –)।	श्रीहरिसंकीर्तनधुन)।
,, पञ्चम भाग =)	मनको वश करनेके उपाय, सचित्र –)।	गीता द्वितीय अध्याय सटीक)।
स्त्रीधर्मप्रश्नोत्तरी =)	सत्य-महाव्रत –)	पातञ्जलयोगदर्शन मूल)।
सच्चा सुख और उसकी प्राप्तिके उपाय –)।।	समाज-सुधार –)	धर्म क्या है ?)।
गीतोक्त सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोग –)।।	ब्रह्मचर्य –)	दिव्य सन्देश)।
मनुस्मृति द्वितीय अध्याय अर्थसहित–)।।	श्रीप्रेमभक्तिप्रकाश –)	कल्याण-भावना)।
गोपी-प्रेम सचित्र, पृष्ठ ५०, मूल्य –)।।	भगवान् क्या हैं ? –)	नारद-भक्ति-सूत्र (सार्थ गुटका))।
हनुमानबाहुक सचित्र सटीक –)।।	आचार्यके सदुपदेश –)	लोभमें पाप आधा पैसा
आनन्दकी लहरें सचित्र, मू० –)।।	एक संतका अनुभव –)	गजलगीता ,,
	त्यागसे भगवत्प्राप्ति –)	सप्तश्लोकी गीता ,,
	रामगीता सटीक)।।।	रामायणांक २।।≡)
	हरेरामभजन२माला)।।।	
	,, १४ माला ।–)	

चित्र-सूची

सुन्दर सस्ते धार्मिक दर्शनीय चित्र

कागज-साइज १५×२० इञ्चके बड़े चित्र।

सभी चित्र बढ़िया आर्ट पेपरपर सुन्दर छपे हुए हैं।

इतने बड़े रंगीन चित्र हिन्दुस्तानके छपे हुए प्रायः बहुत कम मिलते हैं। प्रचारकी दृष्टिसे दाम बहुत ही सस्ते रखे गये हैं।

सुनहरी—नेट दाम प्रत्येकका ⌐)॥

युगलछवि

रंगीन—नेट दाम प्रत्येकका ⌐)

श्रीराधेश्याम
श्रीनन्दनन्दन
गोपियोंकी योगधारणा
श्रीवृन्दावनविहारी
श्रीविश्वविमोहन
भगवान् श्रीकृष्णरूपमे
श्रीव्रजराज
श्रीकृष्णार्जुन
चारों भैया
राम-रावण-युद्ध
रामदरबार
श्रीरामचतुष्टय
लक्ष्मीनारायण
श्रीविष्णुभगवान्
श्रीलक्ष्मीजी
कमला
सावित्री-ब्रह्मा
श्रीविश्वनाथजी
श्रीशिवपरिवार
शिव-बरात
शिव-परिछन
शिव-विवाह
प्रदोषनृत्य
श्रीजगज्जननी उमा
श्रीध्रुव-नारायण
श्रीमहावीरजी
श्रीचैतन्यका संकीर्तन-दल
महासंकीर्तन
नवधा भक्ति
जडयोग

१२ चित्रोंतक मँगानेपर पैकिंगमें चोंगा लगाना पड़ता है, जिससे डाकखर्च बढ़ जाता है। सोचकर मँगाना चाहिये। अधिक मँगानेमें ही डाकखर्चका सुभीता है।

कागज-साइज १०×१५ इञ्च

(छोटे ब्लाकोंसे ही केवल बड़े कागजपर बार्डर लगाकर छापे हैं)

सुनहरी चित्र, नेट दाम)॥ प्रतिचित्र

युगलछवि
तन्मयता

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)।= प्रतिचित्र

कौसल्या-नारायण	कमलापति-स्वागत
श्रीरामचतुष्टय	लक्ष्मीनारायण
अहल्योद्धार	देवदेव भगवान् महादेव
वृन्दावनविहारी	शिवजीकी विचित्र बारात
मुरली-मनोहर	शिव-परिछन
गोपीकुमार	शिव-परिवार
राधाकृष्ण	पञ्चमुख परमेश्वर
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें	लोककल्याणार्थ हलाहलपान
व्रज-नव-युवराज	गौरीशंकर
कौरव-सभामें विराट् रूप	जगज्जननी उमा
श्रीशेषशायी भगवान् विष्णु	देवी कात्यायनी
श्रीश्रीमहालक्ष्मी (चतुर्भुजी)	पवन-कुमार
श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)	ध्रुव-नारायण
श्रीविष्णु भगवान्	श्रीश्रीचैतन्य महाप्रभु
	श्रीगायत्रीके तीन रूप

कागज-साइज ७॥×१० इञ्च

सुनहरी चित्र, नेट दाम)।= प्रतिचित्र

श्रीरामपञ्चायतन	बँधे नटवर
क्रीडाविपिनमें श्रीराम-सीता	वेणुधर
युगलछवि	बाबा भोलेनाथ
कंसका कोप	मातङ्गी
	दुर्गा

बहुरंगे चित्र, नेट दाम)। प्रतिचित्र

सदाप्रसन्न राम	भगवान् श्रीरामकी बाललीला
कमललोचन राम	भगवान् श्रीराम और काकभुशुण्डि
भगवान् श्रीरामचन्द्र	अहल्योद्धार
श्रीरामावतार	गुरु-सेवा

पुष्पवाटिकामें श्रीसीताराम
स्वयंवरमें लक्ष्मणका कोप
परशुराम-राम
श्रीसीताराम [वनगमनाभिलाषिणी सीता]
रामकी कौसल्यासे विदाई
रामवनगमन
कौसल्या-भरत
श्रीरामके चरणोंमें भरत
पादुका-पूजन
ध्यानमग्न भरत
अनसूया-सीता
श्रीराम-प्रतिज्ञा
राम-शबरी
देवताओंद्वारा श्रीरामस्तुति
वालिवध और ताराविलाप
विभीषणहनुमानमिलन
ध्यानमग्ना सीता
लंका-दहन
श्रीरामका रामेश्वरपूजन
सुवेल-पर्वतपर श्रीरामकी झाँकी
राम-रावण-युद्ध
नन्दिग्राममें भरत-हनुमान-भेंट
पुष्पकारूढ श्रीराम
मारुति-प्रभाव
श्रीरामदरबार
श्रीरामचतुष्टय
श्रीसीताराम (शक्तिअंक)
श्रीसीताराम (योगांक)
श्रीशिवकृत राम-स्तुति
श्रीसीताजीकी गोदमें लव-कुश
भगवान् श्रीकृष्णरूपमें

श्रीकृष्णार्जुन
भगवान् और उनकी ह्लादिनी शक्ति राधाजी
राधाकृष्ण
श्रीराधेश्याम
व्रजराज
वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
बाँकेविहारी
श्रीश्यामसुन्दर
मुरलीमनोहर
भक्तमनचोर
श्रीनन्दनन्दन
आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र
गोपीकुमार
व्रज-नव-युवराज
भक्त-भावन भगवान् श्रीकृष्ण
देवकीजी
साधु-रक्षक श्रीकृष्ण (वसुदेव-देवकीको कारागारमें दर्शन)
गोकुल-गमन
मथुरासे गोकुल
दुलारा लाल
तृणावर्त-उद्धार
वात्सल्य
गोपियोंकी योगधारणा
माखन-प्रेमी बालकृष्ण
गो-प्रेमी श्रीकृष्ण
मनमोहनकी तिरछी चितवन
भवसागरसे उद्धारक भगवान् कृष्ण
बकासुर-उद्धार
अघासुर-उद्धार

कृष्ण-सखा-सह वन-भोजन
वर्षामें श्रीकृष्ण-बलराम
राम-श्यामकी मथुरा-यात्रा
योद्धा श्रीकृष्ण
बन्धन-मुक्तकारी भगवान् श्रीकृष्ण
सेवक श्रीकृष्ण
जगत्-पूज्य श्रीकृष्णकी अग्रपूजा
शिशुपाल-उद्धार
समदर्शी श्रीकृष्ण
शान्ति-दूत श्रीकृष्ण
मोह-नाशक श्रीकृष्ण
भक्त (भीष्म)-प्रतिज्ञा-रक्षक श्रीकृष्ण
अश्व-परिचर्या
श्रीकृष्णका अर्जुनको पुनः ज्ञानोपदेश
जगद्गुरु श्रीकृष्ण नं० २
नृग-उद्धार
व्याधकी क्षमा-प्रार्थना
योगेश्वरका परम प्रयाण
ध्यानमग्न शिव
सदाशिव
योगीश्वर श्रीशिव
पञ्चमुख परमेश्वर
योगाग्निसे सती-दाह
मदन-दहन
शिव-विवाह
उमा-महेश्वर
गौरीशंकर
जगज्जननी उमा
शिव-परिवार
प्रदोष-नृत्य

शिव-ताण्डव
हलाहल-पान
पाशुपतास्त्रदान
श्रीहरि-हरकी जल-क्रीड़ा
श्रीविष्णुरूप और श्रीब्रह्मारूपके द्वारा श्रीशिवरूपकी स्तुति
भगवान् विष्णुको चक्रदान
श्रीकृष्णकी शिव-स्तुति
काशी-मुक्ति
भक्त व्याघ्रपाद
श्रीविष्णु
विष्णु भगवान्
कमलापति-स्वागत
शेषशायी
लक्ष्मीनारायण
भगवान् मत्स्यरूपमें
मत्स्यावतार
भगवान् कूर्मरूपमें
भगवान् वराहरूपमें
भगवान् श्रीनृसिंहदेवकी गोदमें भक्त प्रह्लाद
भगवान् वामनरूपमें
भगवान् परशुरामरूपमें
भगवान् बुद्धरूपमें
भगवान् कल्किरूपमें
भगवान् ब्रह्मारूपमें
ब्रह्मा-सावित्री
भगवान् दत्तात्रेयरूपमें
भगवान् सूर्यरूपमें
भगवान् गणपतिरूपमें

भगवान् अग्निरूपमें	ज्ञानयोगी शुकदेव
भगवान् शक्तिरूपमें	भीष्मपितामह
महागौरी	अजामिल-उद्धार
महाकाली	सुआ पढ़ावत गणिका तारी
महासरस्वती	शंकरके ध्येय बाल श्रीकृष्ण
महालक्ष्मी (चतुर्भुजी)	संकीर्तनयोगी श्रीचैतन्य महाप्रभु
श्रीश्रीमहालक्ष्मीजी (अष्टादशभुजी)	निमाई-निताई
नारीशक्ति	श्रीचैतन्यका संकीर्तन-दल
देवी कात्यायनी	प्रेमी भक्त सूरदासजी
देवी कालिका	गोस्वामी तुलसीदासजी
देवी कूष्माण्डा	मीरा (कीर्तन)
देवी चन्द्रघण्टा	मीराबाई (जहरका प्याला)
देवी सिद्धिदात्री	प्रेमयोगिनी मीरा
राजा सुरथ और समाधि वैश्यको देवीका दर्शन	प्रेमी भक्त रसखान
षोडश माता	शालोंधमें नरसी मेहता
समुद्रमथन	नवधा भक्ति
महासंकीर्तन	जड़योग
ध्यानयोगी ध्रुव	सप्तज्ञानभूमिका
ज्ञानयोगी राजा जनक	महर्षि-आश्रम

एकरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

श्रीकृष्ण-सुदामाकी गुरु-सेवा	कर नवनीत लिये
	महात्मा सूरदासजी

कागज-साइज ५×७॥ इञ्च

बहुरंगे चित्र, नेट दाम १) सैकड़ा

श्रीविष्णु	श्रीरामचतुष्टय
शेषशायी	विश्वविमोहन श्रीकृष्ण
सदाप्रसन्न राम	वृन्दावनविहारी श्रीकृष्ण
कमललोचन राम	आनन्दकन्द श्रीकृष्ण
दूल्हा राम	गोपीकुमार
श्रीसीताराम	व्रज-नव-युवराज
श्रीराम-विभीषण-मिलन (भुज विशाल गहि)	रामदरबार
	देवसेनापति कुमार कार्तिकेय

व्रजराज	समुद्रमें पत्थरोंसे दबे प्रह्लादका उद्धार
श्यामसुन्दर	भगवान् नृसिंहकी गोदमें प्रह्लाद
खेल-खिलाड़ी	पवन-कुमार
ब्रह्माका मोह	भगवान्‌की गोदमें भक्त चक्रिक
युगल छवि	शंकरके ध्येय बालकृष्ण
श्रीराधेश्याम	श्रीश्रीचैतन्य
भगवान् और उनकी ह्लादिनी शक्ति श्रीराधाजी	चैतन्यका अपूर्व त्याग
नन्दनन्दन	भक्त धन्ना जाटकी रोटियाँ भगवान् ले रहे हैं
सुदामा और श्रीकृष्णका प्रेममिलन	गोविन्दके साथ गोविन्द खेल रहे हैं
अर्जुनको गीताका उपदेश	भक्त गोपाल चरवाहा
अर्जुनको चतुर्भुजरूपका दर्शन	मीराबाई (कीर्तन)
भक्त अर्जुन और उनके सारथि श्रीकृष्ण	भक्त जनाबाई और भगवान्
परीक्षितकी रक्षा	भक्त जगन्नाथदास भागवतकार
सदाशिव	श्रीहरिभक्त हिम्मतदासजी
शिवपरिवार	भक्त बालीग्रामदास
चन्द्रशेखर	भक्त दक्षिणी तुलसीदासजी
कमला	भक्त गोविन्ददास
भुवनेश्वरी	भक्त मोहन और गोपाल भाई
श्रीजगन्नाथजी	परमेष्ठी दर्जी
यम-नचिकेता	भक्त जयदेवका गीतगोविन्द-गान
ध्रुव-नारायण	ऋषि-आश्रम
पाठशालामें प्रह्लादका बालकोंको राम-राम जपनेका उपदेश	श्रीविष्णु भगवान्
	कमलापतिस्वागत

चित्रोंके दाम

चित्र बेचनेके नियमोंमें परिवर्तन हो गया। दाम प्रायः बहुत घटा दिये गये हैं।

साइज और रंग

१५×२०, सुनहरी	—)॥	७॥×१०, सुनहरी	)1⁄2
१५×२०, रंगीन	—)	७॥×१०, रंगीन	)।
१०×१५, सुनहरी	)॥	७॥×१०, सादा	१) सै०
१०×१५, रंगीन	)1⁄2	५×७॥, रंगीन	१) सै०

१५×२० साइज़के सुनहरे और रंगीन ३१ चित्रोंके सेट-की नेट कीमत १॥।≈)॥ पैकिङ्ग -)॥ डाकखर्च ॥≈) कुल लागत २॥।) लिये जायँगे।

१०×१५ साइज़के सुनहरे और रंगीन ३१ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत ॥≈)॥।ऽ पैकिङ्ग -)॥।ऽ डाकखर्च ॥-)। कुल १।≈) लिये जायँगे।

७॥×१० साइज़के सुनहरे और रंगीन १७४ चित्रोंके सेटकी नेट कीमत २॥।)॥ऽ पैकिङ्ग =)ऽ डाकखर्च ॥।-)। कुल ३॥।) लिये जायँगे।

५×७॥ साइज़के रंगीन ६० चित्रोंका नेट दाम ॥-)॥। पैकिङ्ग -)॥ डाकखर्च ।-)॥। कुल १-) लिये जायँगे।

१५×२०, १०×१५, ७॥×१०, ५×७॥ के चारों सेटकी नेट कीमत ६-)॥। पैकिङ्ग =)।डाकखर्च १॥≈)कुल ७॥।≈)लिये जायँगे।

नियम

(१) चित्रका नाम जिस साइज़में दिया हुआ है वह उसी साइज़में मिलेगा, आर्डर देते समय देख लें। समझकर मँगवावें। (२) पुस्तकोंके साथ मालगाड़ीसे चित्र मँगानेपर कुल मालका चित्रोंकी क्लासका किराया देना पड़ता है, इसलिये जितना किराया अधिक लगेगा वह ग्राहकोंके जिम्मे होगा, आर्डर देते समय इस नियमको समझ लें। (३) ६०) के चित्र लेनेसे ग्राहकके रेलवे स्टेशनपर मालगाड़ीसे फ्री डिलेवरी दी जायगी। रजिस्ट्री वी० पी० खर्चा ग्राहकको देना होगा। (४) केवल २ या ४ चित्र पुस्तकोंके साथ या अकेले नहीं भेजे जाते, क्योंकि रास्तेमें टूट जाते हैं। (५) 'कल्याण' के साथ भी चित्र नहीं भेजे जाते।

नोट—सेट सजिल्द भी मिला करती है। जिल्दका दाम १५×२० का ।॥); १०×१५ का ।=), ७॥×१० का ॥), ५×७॥ का ≈) और लिया जाता है। सजिल्द सेटका डाकखर्च ज्यादा लगता है।